स्वकथ्य

जीवन जीना निसर्ग है। विकासी जीवन जीना कला, उसका अंकन महाकला और किसी दूसरे के समृद्ध जीवन का अंकन परम कला है। मेरी लेखनी ने परम कला का दायित्व उठाया है। सुदूर अतीत की यात्रा, पग-पग पर घुमाव, सघन जंगल और गगनचुम्बी गिरि-शिखर। कितना गुरुतर है दायित्व ! पर लघुतर कंधों ने बहुत बार गुरुतर दायित्व का निर्वाह किया है। मैं अपने दायित्व के निर्वाह में सफल होऊंगा, इस आत्म-विश्वास के साथ मैंने कार्य प्रारम्भ किया और उसके निर्वाह में मैं सफल हुआ हूं, इस निष्ठा के साथ यह सम्पन्न हो रहा है। भगवान् महावीर की जीवनी लिखने में मेरे सामने तीन मुख्य कठिनाइयां थीं—

१. जीवन-वृत्त के प्रामाणिक स्रोतों की खोज।

२. दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परा-भेदों के सामंजस्य की खोज ।

३. तटस्थ मूल्यांकन।

भगवान् महावीर का जीवन-वृत्त दिगम्बर साहित्य में बहुत कम सुरक्षित है। श्वेताम्बर साहित्य में वह अपेक्षाकृत अधिक सुरक्षित है पर पर्याप्त नहीं है। भगवान् के जीवन-वृत्त के सर्वाधिक प्रामाणिक स्रोत तीन हैं—

१. आयारो—अध्ययन ९।

२. आयारचूला—अध्ययन १५।

३. कल्पसूत्र।

भगवती सूत्र में भगवान् के जीवन-प्रसंग विपुल मात्रा में उपलब्ध हैं। 'उवासगदसाओ', 'नायाधम्मकहाओ', 'सूयगडो' आदि सूत्रों में भी भगवान् के जीवन और तत्त्वदर्शन विषयक प्रचुर सामग्री है।

उत्तरवर्ती साहित्य में आचारांगचूर्णि, आवश्यकचूर्णि, आवश्यकनिर्युक्ति, उत्तरपुराण, चउवन्न महापुरिसचरियं, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र आदि ग्रन्थों में भगवान् का जीवनवृत्त मिलता है।

बौद्ध साहित्य में भी भगवान् के बारे में जानकारी मिलती है। यद्यपि उसमें

वे आलोच्य के रूप में ही अभिलिखित हैं पर जैन साहित्य की प्रशस्ति और बौद्ध साहित्य की आलोचना—दोनों के आलोक में भगवान् की यथार्थ प्रतिमा उभरती है।

मैंने उक्त ग्रन्थों के आधार पर भगवान् के जीवन-वृत्त का चयन किया। उसके गुम्फन और विकास में मैंने कवि-कल्पना का भी उपयोग किया है। रोग, बुढ़ापा और मृत्यु—ये तीनों संसार-विरक्ति की प्रधान प्रेरणाएं हैं। भगवान् बुद्ध इन्हीं से प्रेरित होकर भिक्षु बने, यह माना जाता है। किन्तु प्राचीन साहित्य की प्रकृति के पर्यालोचन के आधार पर मैं यह कह सकता हूं कि इसमें तथ्य या घटना की अपेक्षा कवि-कल्पना की गुरुता अधिक है। यह तथ्य है या नहीं—यह अनुसन्धेय हो सकता है किन्तु यह सत्य है, इसमें कोई संदेह नहीं। बहुत बार कवि या लेखक सत्य को तथ्य के रूप में प्रस्तुत करता है। जीवन सत्य की शाश्वत धारा से अविच्छिन्न होकर प्रवाहित होता है, अतः सत्य को तथ्य के रूप में अभिव्यक्त करना असंगत भी नहीं है। भगवान् महावीर दीक्षित क्यों हुए ? इस प्रश्न का उत्तर सत्य को तथ्य के रूप में प्रस्तुत कर सरलता से दिया जा सकता है और मैंने दिया है। भगवान् के जीवन का उद्देश्य था स्वतंत्रता। जिस व्यक्ति की साधना का समग्र रूप स्वतंत्रता है, उसका उद्देश्य उससे भिन्न कैसे हो सकता है ?

जैन परम्परा में संबुद्ध की तीन कोटियां मिलती हैं—

१. स्वयंसंबुद्ध—अपने आप संबोधि प्राप्त करने वाला।

२. प्रत्येकबुद्ध—किसी एक निमित्त से संबोधि प्राप्त करने वाला।

३. उपदेशबुद्ध—दूसरों के उपदेश से संबोधि प्राप्त करने वाला।

तीर्थंकर स्वयंसंबुद्ध होते हैं। भगवान् महावीर स्वयंसंबुद्ध थे। उन्हें अपने आप संबोधि प्राप्त हुई थी। उसके आधार पर उन्होंने विश्व के स्वरूप की समीक्षा और दार्शनिक विचारों की मीमांसा की। मुक्ति का लक्ष्य निश्चित किया। साधन के रूप में उन्होंने बाहरी और भीतरी दोनों बंधनों से मुक्त रहना स्वीकार किया। इस संदर्भ में उन्होंने शासन को बंधन के रूप में देखा और शासन-मुक्त जीवन की दिशा में प्रयाण किया।

जैन आगम सूत्र-शैली में लिखे हुए हैं। 'आयारो' के नवें अध्ययन में भगवान् महावीर के साधनाकालीन जीवन का बहुत ही व्यवस्थित निरूपण है। पर सूत्र-शैली में होने के कारण वह बहुत दुर्गम है। 'आयारो' की चूर्णि में चूर्णिकार ने उन संकेतों को थोड़ा स्पष्ट किया है, फिर भी घटना का पूरा विवरण नहीं मिलता। मैंने उन संकेतों के आधार पर घटना का विस्तार किया है। उससे भगवान् के जीवन की अज्ञात दिशाएं प्रकाश में आई हैं। साधना के अनेक नए रहस्य उद्घाटित हुए हैं।

बौद्ध साहित्य में भगवान् बुद्ध की वाणी के साथ घटनाओं की लम्बी शृंखला

है। उससे उनकी उपदेश-शैली सरस और सहज सुबोध है। भगवान् महावीर की वाणी के साथ घटनाओं का योग बहुत विरल है। फलतः उनकी उपदेश-शैली अपेक्षाकृत कम सरस और दुर्बोध लगती है। मैंने इस स्थिति को ध्यान में रखकर भगवान् की उपदेश-शैली को घटनाओं से जोड़ा है। इसमें मैंने कोरी कल्पना की उड़ान नहीं भरी है। भगवान् की वाणी में जो संकेत छिपे हुए हैं, उन्हें अन्तर्दर्शन से देखा है और उद्घाटित किया है।

कथावस्तु के विस्तार का आधार कर्म बनता है। निष्कर्म के आधार पर उसका विस्तार नहीं होता। सामान्यतः यह धारणा है कि भगवान् महावीर निष्कर्म के व्याख्याता और प्रयोक्ता थे। यह सत्य का एक पहलू है। दूसरा पहलू यह है कि भगवान् महावीर उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषार्थ और पराक्रम के प्रवक्ता थे। वे अकर्मण्यता के समर्थक नहीं थे। उनका कर्म राज्य-मर्यादा के साथ नहीं जुड़ा। इसलिए राज्य के सन्दर्भ में होने वाला उनके जीवन का अध्याय विस्तृत नहीं बना। उनका कार्यक्षेत्र रहा अन्तर्जगत्। यह अध्याय बहुत विशद बना और इससे उनके जीवन की कथावस्तु विशद बन गई। उन्होंने साधना के बारह वर्षों में अभय और मैत्री के महान् प्रयोग किए। वे अकेले घूमते रहे। अपरिचित लोगों के बीच गए। न कोई भय और न कोई शत्रुता। समता का अखण्ड साम्राज्य। कैवल्य के पश्चात् भगवान् ने अनेकान्त का प्रतिपादन किया। उसकी निष्पत्ति इन शब्दों में व्यक्त हुई—सत्य अपने आप में सत्य ही है। सत्य और असत्य के विकल्प बनते हैं परोक्षानुभूति और भाषा के क्षेत्र में। उसे ध्यान में रखकर भगवान् ने कहा—'जितने वचन-प्रकार हैं, वे सब सत्य हैं, यदि सापेक्ष हों। जितने वचन-प्रकार हैं वे सब असत्य हैं, यदि निरपेक्ष हों।' उन्होंने सापेक्षता के सिद्धान्त के आधार पर अनेक तात्त्विक और व्यावहारिक ग्रन्थियों को सुलझाया।

भगवान् के जीवन-चित्र इतने स्पष्ट और आकर्षक हैं कि उनमें रंग भरने की जरूरत नहीं है। मैंने इस कर्म में चित्रकार की किसी भी कला का उपयोग नहीं किया है। मैंने केवल इतना-सा किया है कि जो चित्र काल के सघन आवरण से ढंके पड़े थे, वे मेरी लेखनी के स्पर्श से अनावृत हो गए।

भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् पौराणिक युग आया। उसमें महापुरुष की रचना चमत्कार के परिवेश में की गई। भगवान् महावीर के जीवनवृत्त के साथ भी चमत्कारपूर्ण घटनाएं जुड़ीं। उनके कष्ट-सहन के प्रकरण में भी कुछ अतिशयोक्तिपूर्ण घटनाएं हैं। दैवी घटनाओं की भरमार है। मैंने चामत्कारिक घटनाओं का मानवीकरण किया है। इससे भगवान् के जीवन की महिमा कम नहीं हुई है, प्रत्युत उनके पौरुष की दीपशिखा और अधिक तेजस्वी बनी है।

आचार्यश्री तुलसी ने चाहा कि भगवान् की पचीसवीं निर्वाण शताब्दी पर मैं उनके जीवन की कुछ रेखाएं अंकित करूं। मैंने चाहा मैं इस अवसर पर भगवान्

के प्रति अपनी विनम्र श्रद्धांजलि समर्पित करूं। लक्ष्य बना और कार्य सम्पन्न हो गया।

आचार्यश्री की प्रेरणा और आशीर्वाद ने मेरा पथ आलोकित किया। मैं अपनी गति में सफल हो गया।

प्रस्तुत पुस्तक की प्रतिलिपि और परिशिष्ट मुनिश्री दुलहराजजी ने तैयार किए। उनका सहयोग मेरे लिए बहुत मूल्यवान है। 'नामानुक्रम' तैयार करने का श्रेय मुनिश्री श्रीचन्द्रजी 'कमल' को है। मुनिश्री मणिलालजी और मुनिश्री राजेन्द्रजी ने प्रति-शोधन में सहयोग दिया। उसका अंकन भी अस्थान नहीं होगा।

—मुनि नथमल

अणुव्रत विहार
नई दिल्ली

अनुक्रम

१. जीवनवृत्त : कुछ चित्र-कुछ रेखाएं — १
- स्वप्न
- जन्म
- नामकरण
- आमलकी क्रीड़ा
- अध्ययन
- सन्मति
- धार्मिक परम्परा
- राजनीतिक वातावरण
- परिवार
- विवाह
- मुक्ति का अन्तर्द्वन्द्व
- माता-पिता की समाधि-मृत्यु
- चुल्लपिता के पास

२. स्वतन्त्रता का अभियान — १५
- विदेह साधना

३. स्वतन्त्रता का संकल्प — २१
४. पुरुषार्थ का प्रदीप — २४
५. असंग्रह का वातायन : अभय का उच्छ्वास — २७
६. भय की तमिस्रा : अभय का आलोक — ३१
७. आदिवासियों के बीच — ३६
८. क्या मैं चक्रवर्ती नहीं हूं ? — ४३

९. ध्यान की व्यूह-रचना ४६
- निद्रा-विजय
- भूख-विजय
- स्वाद-विजय

१०. ध्यान, आसन और मौन ५४
११. अनुकल उपसर्गों के अंचल में ५९
१२. बिम्ब और प्रतिबिम्ब ६२
१३. प्रगति के संकेत ६५
१४. करुणा का अजस्र स्रोत ६८
१५. गंगा में नौका-विहार ७०
१६. बंधन की मुक्ति : मुक्ति का अनुबंध ७२
- भेद-विज्ञान का ध्यान
- तन्मूर्तियोग
- पुरुषाकार आत्मा का ध्यान

१७. कहीं वंदना और कहीं बंदी ७६
१८. नारी का बन्ध-विमोचन ८२
१९. कैवल्य-लाभ ९२
२०. तीर्थ और तीर्थंकर ९४
२१. ज्ञान-गंगा का प्रवाह १०३
२२. संघ-व्यवस्था १०५
- दिनचर्या
- वस्त्र
- भोजन और विहार
- पात्र
- अभिवादन
- सामुदायिकता
- सेवा

२३. संघातीत साधना ११४
२४. अतीत का सिंहावलोकन ११९
२५. तत्कालीन धर्म और धर्मनायक १२६
२६. नई स्थापनाएं : नई परम्पराएं १२९

२७. क्रान्ति का सिंहनाद १३५
- जातिवाद
- साधुत्व : वेश और परिवेश
- धर्म और सम्प्रदाय
- धर्म और वाममार्ग
- साधना-पथ का समन्वय
- जनता की भाषा जनता के लिए
- करुणा और शाकाहार
- यज्ञ : समर्थन या रूपान्तरण
- युद्ध और अनाक्रमण
- असंग्रह का आन्दोलन

२८. विरोधाभास का वातायन १७०
२९. सह-अस्तित्व और सापेक्षता १७३
३०. सतत जागरण १८३
३१. चक्षुदान १९२
३२. समता के तीन आयाम १९६
- मैत्री का आयाम
- अभय का आयाम
- सहिष्णुता का आयाम

३३. मुक्त मानस : मुक्त द्वार २०६
३४. समन्वय की दिशा का उद्घाटन २१५
३५. सर्वजन हिताय : सर्वजनसुखाय २१८
३६. धर्म-परिवर्तन : सम्मत और अनुमत २२४
३७ यथार्थवादी व्यक्तित्व : अतिशयोक्ति का परिधान २२९
३८. अलौकिक और लौकिक २३२
३९. सर्वज्ञता : दो पार्श्व दो कोण २३४
४०. बौद्ध साहित्य में महावीर २३७
४१. प्रवृत्ति बाहर में : मानदण्ड भीतर में २४०
४२. पारदर्शी दृष्टि : व्यक्त के तल पर अव्यक्त का दर्शन २४५

४३. सहयात्रा : सहयात्री २४८
४४. संघ-भेद २६०
४५. अहिंसा के हिमालय पर हिंसा का वज्रपात २६४
४६. निर्वाण २७१
४७. परंपरा २७४
४८. जीवन का विहंगावलोकन २७७

- कर्तृत्व के मूलस्रोत
- श्रमण जीवन का ज्ञानपूर्वक स्वीकार
- तप और ध्यान
- मौन
- निद्रा
- आहार
- देहासक्ति-विसर्जन
- सहिष्णुता
- समत्व या प्रेम
- अध्यात्म
- धर्म की मौलिक आज्ञाएं
- भगवान् का निर्वाण

४९. वंदना २८७

परिशिष्ट

१. परंपरा-भेद ३०१
२. चातुर्मास ३०२
३. विहार और आवास-स्थल ३०४
४. जीवनी के प्रामाणिक स्रोतों का निर्देश ३०९
५. घटना-क्रम ३५०
६. नामानुक्रम ३५४

श्रमण महावीर

१

जीवनवृत्त : कुछ चित्र-कुछ रेखाएं

कुमारश्रमण केशी भगवान् पार्श्व के और श्रमण गौतम भगवान् महावीर के शिष्य थे। भगवान् महावीर अस्तित्व में आए ही थे। उनका धर्म-चक्र अभी प्रवृत्त हुआ ही था। अभी सूर्य की रश्मियां दूर तक फैली नहीं थीं। केशी यह अनुभव कर रहे थे कि अंधकार और अधिक घना हो रहा है। श्रमण परम्परा के आकाश में ऐसा कोई सूर्य नहीं है जो इस अंधकार को प्रकाश में बदल दे। गौतम से उनकी भेंट हुई तब उन्होंने अपनी मानसिक अनुभूति गौतम के सामने रखी। वे वेदना के स्वर में बोले, 'आज बहुत बड़ा जनसमूह घोर तमोमय अंधकार में स्थित हो रहा है। उसे प्रकाश देने वाला कौन होगा ?'

गौतम ने कहा, 'भंते ! लोक को अपने प्रकाश से भरने वाला सूर्य अब उदित हो चुका है। वह जन-समूह को अंधकार से प्रकाश में ले आएगा।'

गौतम के उत्तर से केशी को आश्वासन जैसा मिला। उन्होंने विस्मय की भाषा में पूछा, 'वह सूर्य कौन है ?'

'वह सूर्य भगवान् महावीर है।'

'कौन है वह महावीर ?'

'प्रारम्भ में विदेह जनपद का राजकुमार और आज विदेह-साधना का समर्थ साधक, महान् अर्हत्, जिन और केवली।'[1]

संक्षिप्त उत्तर से केशी की जिज्ञासा शान्त नहीं हुई। तब गौतम ने भगवान् महावीर के जीवनवृत्त के अनेक चित्र केशी के सामने प्रस्तुत किए।

स्वप्न

निरभ्र नील गगन। शान्त, नीरव वातावरण। रात्रि का पश्चिम प्रहर।

---

१. उत्तरज्झयणाणि, २३।७५-७८।

महाराज सिद्धार्थ का भव्य प्रासाद। वासगृह का मध्य भाग। सुरभि पुष्प और सुरभि चूर्ण की महक। मृदु शय्या। अर्द्धनिद्रावस्था में सुप्त देवी त्रिशला ने एक स्वप्न-शृंखला देखी।[1]

देवी ने देखा—

एक हाथी—बरसे हुए वादल जैसा श्वेत, मुक्ताहार जैसा उज्ज्वल, क्षीर समुद्र जैसा धवल, चन्द्ररश्मि जैसा कान्त, जलविन्दु जैसा निर्मल और रजत पर्वत जैसा शुभ्र। चतुर्दन्त, उन्नत और विशाल।

एक वृषभ—श्वेत कमल की पंखुड़ियों जैसा श्वेत और विराट् स्कन्ध।

एक सिंह—तप्त स्वर्ण और विद्युत् जैसी चमकदार आंखें और सौम्य आकृति।

लक्ष्मी—कमलासन पर आसीन। दिग्गजों की विशाल-पीवर सूंड से अभिषिक्त।

एक पुष्पमाला—मंदार के ताजा फूलों से गुंथी हुई। सर्व ऋतुओं में विकस्वर। श्वेत पुष्पों के मध्य यत्र-तत्र बहुरंगी पुष्पों से गुंफित।

चांद—गोक्षीर, फेन और रजतकलश जैसा शुभ्र। समुद्र की वेला का संवर्धक, स्वच्छ दर्पण तुल्य चमकदार। हृदयहारी, मनोहारी, सौम्य और रमणीय।

सूर्य—अंधकार को विनष्ट करने वाला, तेजपुंज से प्रज्वलित। रक्त-अशोक, किंशुक, शुकमुख और गुंजार्ध जैसा रक्त।

एक ध्वजा—कनकयष्टि पर प्रतिष्ठित। ऊर्ध्वभाग में सिंह से अंकित। मंद-मंद पवन से लहराती हुई।

एक कलश—कमलावलि से परिवेष्टित और जल से परिपूर्ण।

मीन युगल—पारदर्शी शरीर, मन को लुभाने वाली मृदुता और चपलता का मूर्त्तरूप।

एक पद्म सरोवर—सूर्यविकासी, चन्द्रविकासी और जात्य कमलों से परिपूर्ण। सूर्य-रश्मियों से प्रबुद्ध कमलों की सुरभि से सुगंधित।

एक सिंहासन—पराक्रम के प्रतिनिधि वनराज के मुख से मंडित, रत्न-मणि जटित और विशाल।

क्षीर सागर—नाचती हुई लहरियों से क्षुब्ध। पवन-प्रकंपित तरंगों से तरंगित। विशाल और गम्भीर।

एक देव विमान—नवोदित सूर्य बिम्ब जैसा प्रभास्वर। अगर और लोबान की गंध से सुगंधित।

एक नाग विमान—ऐश्वर्य का प्रतीक, कमनीय और रमणीय।

---

१. कल्पसूत्र, सूत्र ३३-४७।

एक रत्न-पुंज—दिगन्त को छूती हुई रश्मियों से आकीर्ण, उन्नत और रमणीय।

एक अग्निपुंज—गगनस्पर्शी शिखा और ज्वाला से संकुल, निर्धूम और घृत से अभिषिक्त।[1]

त्रिशला जागी। उसका मन उल्लास से भर गया। उसे अपने स्वप्नों पर आश्चर्य हो रहा था। आज तक उसने इतने महत्त्वपूर्ण स्वप्न कभी नहीं देखे थे। वह महाराज सिद्धार्थ के पास गयी। उन्हें स्वप्नों की बात सुनायी। सिद्धार्थ हर्ष और विस्मय से आरक्त हो गया।

सिद्धार्थ ने स्वप्न-पाठकों को आमंत्रित किया। उन्होंने स्वप्नों का अध्ययन कर कहा, 'महाराज! देवी के पुत्र-रत्न उत्पन्न होगा। ये स्वप्न उसके धर्म-चक्रवर्ती होने की सूचना दे रहे हैं।' महाराज ने प्रीतिदान दे स्वप्न-पाठकों को विदा किया।[2]

जन्म

सब दिशाएं सौम्य और आलोक से पूर्ण हैं। वासन्ती पवन मंद-मंद गति से प्रवाहित हो रहा है। पुष्पित उपवन वसन्त के अस्तित्व की उद्घोषणा कर रहे हैं।

---

१. इस स्वप्न-शृंखला में स्वप्न-दर्शन की दो परम्पराओं द्वारा सम्मत स्वप्न शृंखलित हैं :

दिगम्बर परम्परा	श्वेताम्बर परम्परा
१ गज	१. गज
२. वृषभ	२. वृषभ
३. सिंह	३. सिंह
४. लक्ष्मी	४. श्री अभिषेक
५. माल्यद्विक	५. दाम (माला)
६. शशि	६. शशि
७. सूर्य	७. दिनकर
८. कुम्भद्विक	८. कुम्भ
९. झषयुगल	९. झय (ध्वजा)
१०. सागर	१०. सागर
११. सरोवर	११. पद्मसर
१२. सिंहासन	१२. विमान
१३. देव-विमान	१३. रत्न-उच्चय
१४. नाग-विमान	१४. शिखि (अग्नि)
१५. रत्न-राशि	
१६. निर्धूम अग्नि	

२. कल्पसूत्र, सूत्र ६४-७८।

जलाशय प्रसन्न हैं। प्रफुल्ल हैं भूमि और आकाश। धान्य की समृद्धि से समूचा जनपद हर्ष-विभोर हो उठा है। इस प्रसन्न वातावरण में चैत्र शुक्ला त्रयोदशी (३० मार्च, ईस्वी पूर्व ५९९) की मध्यरात्रि को एक शिशु ने जन्म लिया।

जनपद का नाम विदेह। नगर का नाम क्षत्रियकुण्ड। पिता का नाम सिद्धार्थ। माता का नाम त्रिशला। शिशु अभी अनाम।

वह दासप्रथा का युग था। प्रियंवदा दासी ने सिद्धार्थ को पुत्र-जन्म की सूचना दी। सिद्धार्थ यह सूचना पा हर्ष-विभोर हो उठे। उन्होंने प्रियंवदा को प्रीतिदान दिया और सदा के लिए दासी-कर्म से मुक्त कर दिया। दास-प्रथा के उन्मूलन में यह था शिशु का पहला अभियान।

सिद्धार्थ ने नगर-रक्षक को बुलाकर कहा, 'देवानुप्रिय! पुत्ररत्न का जन्म हुआ है। उसकी खुशी में उत्सव का आयोजन करो।'

नगर-रक्षक महाराज सिद्धार्थ की आज्ञा को शिरोधार्य कर चला गया।

आज वन्दीगृह खाली हो रहे हैं। वन्दी अपने-अपने घरों को लौट रहे हैं। ऐसा लग रहा है मानो स्वतन्त्रता के सेनानी ने जन्म लेते ही पहला प्रहार उन गृहों पर किया है, जहां बुराई को नहीं किन्तु मनुष्य को वन्दी वनाया जाता है।

आज वाजारों में भीड़ उमड़ रही है। अनाज, किराना, घी और तेल—सब सस्ते भावों में बिक रहे हैं। ऐसा लग रहा है मानो असंग्रह के पुरस्कर्ता ने संग्रह को चुनौती दे डाली है।

आज नगर के राजपथों, तिराहों, चौराहों और छोटे-बड़े सभी पथों पर जल छिड़का जा रहा है। ऐसा लग रहा है मानो शान्ति का पुरोधा भूमि का ताप हरण कर मानव-संताप के हरण की सूचना दे रहा है।

आज अट्टालिका के हर शिखर पर ध्वजा और पताकाएं फहरा रही हैं। ऐसा लग रहा है मानो जीवन-संग्राम में प्राप्त होने वाली सफलता विजय का उल्लास मना रही है।

आज नगर के कण-कण से सुगन्ध फूट रही है। सारा नगर गंधगुटिका जैसा प्रतीत हो रहा है। मानो वह बता रहा है कि संयम के संवाहक की दिग्दिगन्त में ऐसी ही सुगन्ध फूटेगी।

नगरवासियों के मन में कुतूहल है। स्थान-स्थान पर एक प्रश्न पूछा जा रहा है—आज यह क्या हो रहा है? क्यों हो रहा है? क्या कोई नई उपलब्धि हुई है?

इन जिज्ञासाओं के उभरते स्वरों के बीच राज्याधिकारियों ने समूचे नगर में यह सूचना प्रसारित की—'महाराज सिद्धार्थ के आज पुत्र-रत्न का जन्म हुआ है।' इस संवाद के साथ समूचा नगर हर्षोत्फुल्ल हो गया।[1]

---

१. कल्पसूत्र, सूत्र ९६-१००; कल्पसूत्र टिप्पनक, पृ० १२-१३।

नामकरण

समय की सुई अविराम गति से घूम रही है। उसने हर प्राणी को पल-पल के संचय से सींचा है। गर्भ को जन्म, जन्म-प्राप्त को बालक, बालक को युवा, युवा को प्रौढ़, प्रौढ़ को वृद्ध और वृद्ध को मृत्यु की गोद में सुलाकर वह निष्काम कर्म का जीवित उदाहरण प्रस्तुत कर रही है। उसने त्रिशला के शिशु को बढ़ने का अवसर दिया। वह आज बारह दिन का हो रहा है। वह अभी अनाम है। जो इस दुनिया में आता है, वह अनाम ही आता है। पहली पीढ़ी के लोग पहचान के लिए उसमें नाम आरोपित करते हैं। जीव सूक्ष्म है। उसे पहचाना नहीं जा सकता। उसकी पहचान के दो माध्यम हैं—रूप और नाम। वह रूप को अव्यक्त जगत् से लेकर आता है और नाम व्यक्त जगत् में आने पर आरोपित होता है। माता-पिता ने आगंतुक अतिथियों और सम्बन्धियों से कहा, 'जिस दिन यह शिशु गर्भ में आया, उसी दिन हमारा राज्य धन-धान्य, सोना-चांदी, मणि-मुक्ता, कोश-कोष्ठागार, बल-वाहन से बढ़ा है, इसलिए हम चाहते हैं कि इस शिशु का नाम 'वर्द्धमान' रखा जाए।[1] हम सोचते हैं, आप इस प्रस्ताव से अवश्य सहमत होंगे।'

उपस्थित लोगों ने सिद्धार्थ और त्रिशला के प्रस्ताव का एक स्वर से समर्थन किया। शिशु का नाम वर्द्धमान हो गया। 'वर्द्धमान', 'सिद्धार्थ' और 'त्रिशला' के जयघोष के साथ नामकरण-संस्कार सम्पन्न हुआ।

आमलकी क्रीड़ा

कुमार वर्द्धमान आठवें वर्ष में चल रहे थे। शरीर के अवयव विकास की दिशा खोज रहे थे। यौवन का क्षितिज अभी दूर था। फिर भी पराक्रम का बीज प्रस्फुटित हो गया। क्षात्र तेज का अभय साकार हो गया।

एक बार वे बच्चों के साथ 'आमलकी' नामक खेल खेल रहे थे। यह खेल वृक्ष को केन्द्र मानकर खेला जाता था। खेलनेवाले सब बच्चे वृक्ष की ओर दौड़ते। जो बच्चा सबसे पहले उस वृक्ष पर चढ़कर उतर आता वह विजेता माना जाता। विजेता बच्चा पराजित बच्चों के कंधों पर बैठकर दौड़ के प्रारम्भ बिन्दु तक जाता।

कुमार वर्द्धमान सबसे आगे दौड़ पीपल के पेड़ पर चढ़ गए। उनके साथ-साथ एक सांप भी चढ़ा और पेड़ के तने से लिपट गया। बच्चे डरकर भाग गए। कुमार वर्द्धमान डरे नहीं। वे झट से नीचे उतरे, उस सांप को पकड़कर एक ओर डाल दिया।[2]

---

१. कल्पसूत्र, सूत्र ८५, ८६।

२. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २४६।

अध्ययन

कुमार वर्द्धमान प्रारम्भ से ही प्रतिभा-सम्पन्न थे। उनका प्रातिभ ज्ञान बौद्धिक ज्ञान से बहुत ऊंचा था। उन्हें अतीन्द्रियज्ञान की शक्ति प्राप्त थी। वे दूसरों के सामने उसका प्रदर्शन नहीं करते थे। वे आठ वर्ष की अवस्था को पार कर नवें वर्ष में पहुंचे। माता-पिता ने उचित समय देखकर उन्हें विद्यालय में भेजा। अध्यापक उन्हें पढ़ाने लगा। वे विनयपूर्वक उसे सुनते रहे।

उस समय एक ब्राह्मण आया। विराट् व्यक्तित्व और गौरवपूर्ण आकृति। अध्यापक ने उसे ससम्मान आसन पर बिठाया। उसने कुमार वर्द्धमान से कुछ प्रश्न पूछे—अक्षरों के पर्याय कितने हैं? उनके भंग (विकल्प) कितने हैं? उपोद्घात क्या है? आक्षेप और परिहार क्या हैं? कुमार ने इन प्रश्नों के उत्तर दिए। प्रश्नों की लम्बी तालिका प्राप्त है, पर उत्तर अप्राप्त। इस विश्व में यही होता है, समस्याएं रह जाती हैं, समाधान खो जाते हैं।

कुमार के उत्तर सुन अध्यापक के आश्चर्य की सीमा नहीं रही। बहुत पूछने पर यह रहस्य अनावृत हो गया कि वर्द्धमान को जो पढ़ाया जा रहा है वह उन्हें पहले से ही ज्ञात है। अध्यापक के अनुरोध पर वे पहले दिन ही विद्यालय से मुक्त हो गए।[1]

हम वर्तमान को अतीत के आलोक में नहीं पढ़ते तब केवल व्यक्तित्व की व्याख्या करते हैं, उसकी पृष्ठभूमि में विद्यमान अस्तित्व को भुला देते हैं।

हम वर्तमान को भविष्य के आलोक में नहीं पढ़ते तब केवल उत्पत्ति की व्याख्या करते हैं, उसकी निष्पत्ति को भुला देते हैं।

वर्तमान में अतीत के बीज को अंकुरित करने और भविष्य के बीज को बोने की क्षमता है। जो व्यक्ति इन दोनों क्षमताओं को एक साथ देखता है वह व्यक्तित्व और अस्तित्व को तोड़कर नहीं देखता, उत्पत्ति और निष्पत्ति को विभक्त कर नहीं देखता, वह समग्र को समग्र की दृष्टि से देखता है। समग्रता की दृष्टि से देखने वाला आठ वर्ष की आयु में घटित होने वाली घटना का बीज आठ वर्ष की अवधि में ही नहीं खोजता। उसकी खोज सुदूर अतीत तक पहुंच जाती है। कुमार वर्द्धमान के प्रातिभज्ञान को आनुवंशिकता और मस्तिष्क की क्षमता के आधार पर नहीं समझा जा सकता। उसे अनेक जन्मों की शृंखला में हो रही उत्क्रान्ति के सन्दर्भ में ही समझा जा सकता है।

सन्मति

भगवान् पार्श्व की परम्परा चल रही थी। उनके हजारों शिष्य बृहत्तर भारत

---

१. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २४८ २४६।

और मध्य एशियाई प्रदेशों में विहार कर रहे थे। उनके दो शिष्य क्षत्रियकुंड नगर में आए। एक का नाम था संजय और दूसरे का विजय। वे दोनों चारण-मुनि थे। उन्हें आकाश में उड़ने की शक्ति प्राप्त थी। उनके मन में किसी तत्त्व के विषय में संदेह हो रहा था। वे उसके निवारण का प्रयत्न कर रहे थे, पर वह हो नहीं सका। वे सिद्धार्थ के राज-प्रासाद में आए। शिशु वर्द्धमान को देखा। तत्काल उनका सन्देह दूर हो गया। उनका मन पुलकित हो उठा। उन्होंने वर्द्धमान को 'सन्मति' के नाम से संबोधित किया।[1]

प्रश्न का ठीक उत्तर मिलने पर संदेह का निवर्तन हो जाता है। यह संदेह-निवर्तन की साधारण पद्धति है। कभी-कभी इससे भिन्न असाधारण घटना भी घटित होती है। महान् अहिंसक की सन्निधि प्राप्त होने पर जैसे हिंसा का विष अपने आप धुल जाता है, प्रज्वलित वैर मैत्री में बदल जाता है, वैसे ही अंतर् के आलोक से आलोकित आत्मा की सन्निधि प्राप्त होने पर मन के संदेह अपने आप समाधान में बदल जाते हैं।

धार्मिक परम्परा

उस समय भारत के उत्तर-पूर्व में दो मुख्य धार्मिक परम्पराएं चल रही थीं—श्रमण परम्परा और ब्राह्मण परम्परा। सिद्धार्थ और त्रिशला श्रमण परम्परा के अनुयायी थे।[2] वे भगवान् पार्श्व के शिष्यों को अपना धर्माचार्य मानते थे। वर्द्धमान ने जिस परम्परा का उन्नयन किया, उसके संस्कार उन्हें पैतृक विरासत में मिले थे। वे किसी श्रमण के पास गए और धर्म-चर्चा की, इसकी कोई जानकारी प्राप्त नहीं है। उनका ज्ञान बहुत प्रबुद्ध था। वे सत्य और स्वतन्त्रता की खोज में अकेले ही घर से निकले थे। कुछ वर्षों तक वे अकेले ही साधना करते रहे।

राजनीतिक वातावरण

उन दिनों वज्जि गणतंत्र बहुत शक्तिशाली था। उसकी राजधानी थी वैशाली। उसकी अवस्थिति गंगा के उत्तर, विदेह में थी। वज्जिसंघ में लिच्छवि और विदेह—दोनों शासक सम्मिलित थे। इसके प्रधान शासक लिच्छवि राजा चेटक थे। सिद्धार्थ वज्जि संघ के एक सदस्य-राजा थे। वर्द्धमान गणतंत्र के वातावरण में पले थे। गणतंत्र में सहिष्णुता, वैचारिक उदारता, सापेक्षता, स्वतंत्रता और एक-दूसरे को निकट से समझने की मनोवृत्ति का विकास अत्यन्त आवश्यक होता है। इन विशेषताओं के बिना गणतंत्र सफल नहीं हो सकता। अहिंसा और

---

१. उत्तरपुराण, पर्व ७४, श्लोक, २८२, २८३।
२ आयारचूला, १५।२५।

स्याद्वाद के बीज वर्द्धमान को राजनीतिक वातावरण में ही प्राप्त हो गए थे। धार्मिक वातावरण में वर्द्धमान ने उन्हें शतशाखी बनाकर स्थायी प्रतिष्ठा दे दी।

परिवार

अपने गुणों से प्रख्यात होने वाला उत्तम, पिता के नाम से पहचाना जाने वाला मध्यम, माता के नाम से पहचाना जाने वाला अधम और श्वसुर के नाम से पहचाना जाने वाला अधमाधम होता है—यह नीतिसूत्र अनुभव की स्याही से लिखा गया है।

महावीर स्वनामधन्य थे। वे अपनी सहज तथा साधनाजनित विशेषता के कारण अनेक नामों से प्रख्यात हुए। उनके गुण-निष्पन्न नाम सात हैं—वर्द्धमान, समन (श्रमण), महावीर[1], सन्मति, वीर, अतिवीर और ज्ञातपुत्र। बौद्ध साहित्य में उनका नाम नातपुत्त मिलता है।

महावीर के पिता के तीन नाम थे—सिद्धार्थ, श्रेयांस और यशस्वी। उनका गोत्र था—काश्यप।[2]

महावीर की माता के तीन नाम थे—त्रिशला, विदेहदत्ता और प्रियकारिणी। उनका गोत्र था—वाशिष्ठ।[3]

महावीर के चुल्लपिता का नाम सुपार्श्व, बुआ का नाम यशोदया, बड़े भाई का नाम नंदिवर्धन, भाभी का नाम ज्येष्ठा[4] और बड़ी बहन का नाम सुदर्शना था।[5]

महावीर का परिवार समृद्ध और शक्तिशाली था। उनके धर्म-तीर्थ के विकास में उसने अपना योगदान दिया था।

विवाह

कुमार वर्द्धमान अब युवा हो गए। उनके अंग-अंग में यौवन का उभार आ गया। वे बचपन में भी सुन्दर थे। युवा होने पर वे और अधिक सुन्दर दीखने लगे, ठीक वैसे ही जैसे चांद सहज ही कान्त होता है, शरद् ऋतु में वह और अधिक कमनीय हो जाता है। कुमार की यौवनश्री को पूर्ण विकसित देख माता-पिता ने विवाह की चर्चा प्रारम्भ की।

कुमार वर्द्धमान के जन्मोत्सव में भाग लेने के लिए अनेक राजा आए थे।

---

१. आयारचूला, १५।१६।
२. आयारचूला, १५।१७।
३. आयारचूला, १५।१८।
४. आवश्यकचूर्णि, उत्तरभाग, पृ० १६४।
५. आयारचूला, १५।१९-२१।

उनमें कलिंग-नरेश जितशत्रु भी था। वह कुमार को देख मुग्ध हो गया। उसी समय उसके मन में कुमार के साथ सम्बन्ध जोड़ने की साध उत्पन्न हो गयी। कुछ समय बाद उसके पुत्री का जन्म हुआ। उसका नाम रखा गया यशोदा। पुत्री के बढ़ने के साथ-साथ जितशत्रु के मन की साध भी बढ़ रही थी।

जितशत्रु की रानी का नाम था यशोदया। उसने जितशत्रु से कहा, 'पुत्री विवाह योग्य हो गयी है। अब आपकी क्या इच्छा है?'

'इच्छा और क्या हो सकती है? विवाह करना है। तुम बताओ, किसके साथ करना उचित होगा?'

'इस विषय में आप मुझसे ज्यादा जानते हैं, फिर मैं क्या बताऊं?'

'कन्या पर माता का अधिकार अधिक होता है, इसलिए इस पर तुमने जो सोचा हो, वह बताओ।'

'क्या मैं अपनी भावना आपके सामने रखूं, जो अब तक मन में पलती रही है?'

'मैं अवश्य ही जानना चाहूंगा।'

'कुमार वर्द्धमान बहुत यशस्वी, मनस्वी और सुन्दर हैं। मैं उनके साथ यशोदा का परिणय चाहती हूं।'

'मेरी भी यही इच्छा है, सद्यस्क नहीं किन्तु दीर्घकालिक। मैं तुम्हारी भावना जानकर इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि हम बाहर से ही एक नहीं हैं, भीतर से भी एक हैं।'

जितशत्रु ने दूत भेजकर अपना संदेश सिद्धार्थ तक पहुंचा दिया।

सिद्धार्थ और त्रिशला—दोनों को इस प्रस्ताव से प्रसन्नता हुई। उन्होंने इसे कुमार के सामने रखा। कुमार ने उसे अस्वीकार कर दिया।[1] वे बचपन से ही अनासक्त थे। वे ब्रह्मचारी जीवन जीना चाहते थे।

माता-पिता ने विवाह करने के लिए बहुत आग्रह किया। वे माता-पिता का बहुत सम्मान करते थे और माता-पिता का उनके प्रति प्रगाढ़ स्नेह था। वे एक दिन भी वर्द्धमान से विलग रहना पसन्द नहीं करते थे। वर्द्धमान को इस स्नेह की स्पष्ट अनुभूति थी। इसी आधार पर उन्होंने संकल्प किया था—'माता-पिता के जीवनकाल में मैं मुनि नहीं बनूंगा।'

वर्द्धमान में मुनि बनने की भावना और क्षमता—दोनों थी। ब्रह्मचर्य उनका प्रिय विषय था। इसे वे बहुत महत्त्व देते थे। यह उनके ब्रह्मचर्य को प्रतिष्ठा देने

---

१. श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार कुमार वर्द्धमान माता-पिता के स्नेह के सामने झुक गए। उन्होंने विवाह कर लिया।

दिगम्बर परम्परा के अनुसार कुमार वर्द्धमान ने विवाह का अनुरोध ठुकरा दिया। वे जीवन-भर ब्रह्मचारी रहे।

के भावी प्रयत्नों से ज्ञात होता है।

मुक्ति का अन्तर्द्वन्द्व

कुछ लोग जागते हुए भी सोते हैं और कुछ लोग सोते हुए भी जागते हैं। जिनका अन्तःकरण सुप्त होता है, वे जागते हुए भी सोते हैं। जिनका अन्तःकरण जागृत होता है, वे सोते हुए भी जागते हैं।

कुमार वर्द्धमान सतत जागृति की कक्षा में पहुच चुके थे। गर्भकाल में ही उन्हें अतीन्द्रिय ज्ञान उपलब्ध था। उनका अन्तःकरण निसर्ग चेतना के आलोक से आलोकित था। भोग और ऐश्वर्य उनके पीछे-पीछे चल रहे थे, पर वे उनके पीछे नहीं चल रहे थे।

एक दिन कुमार वर्द्धमान आत्म-चिन्तन में लीन थे। उनका निर्मल चित्त अन्तर् की गहराई में निमग्न हो रहा था। वे स्थूल की परतों को पार कर सूक्ष्म लोक में चले गए। उन्हें पूर्वजन्म की स्मृति हो आयी।[1] उन्होंने देखा, जीवन की शृंखला कहीं विच्छिन्न नहीं है, अतीत के अनन्त में सर्वत्र उसके पदचिह्न अंकित हैं।

अतीत की कुछ घटनाओं ने कुमार के मन पर बहुत असर डाला। कुछ समय के लिए वे चिन्तन की गहराई में खो गए।

दर्पण में प्रतिबिम्ब की भांति अतीत उनकी आंखों के सामने उतर आया—'मैं त्रिपृष्ठ नाम का वासुदेव था। एक रात्रि को रंगशाला में नृत्य-वाद्य का आयोजन हुआ। मैं और मेरे सभासद् उसमें उपस्थित थे। मैंने अपने अंगरक्षक को कहा, 'मुझे नींद न आए तब तक यह आयोजन चलाना। जब मुझे नींद आने लगे तब इसे बन्द कर देना।' उस दिन मैं बहुत व्यस्त रहा। दिन भर के कार्यक्रम से थका हुआ था। रात्रि की ठंडी वेला। मनोहर नृत्य, लुभाने वाला वाद्य-गीत। समय, नर्तक, गायक और वादक का ऐसा दुर्लभ योग मिला कि सबका मन प्रफुल्लित हो उठा। लोग उस कार्यक्रम में तन्मय हो गए। वे कालातीत स्थिति का अनुभव करने लगे। मुझे नींद का अनुकूल वातावरण मिला। मैं थोड़े समय में ही निद्रालीन हो गया। आयोजन चलता रहा।

गहरी नींद के बाद मैं जागा। मेरे जागने के साथ मेरा अहं भी जागा। मैंने अंगरक्षक से पूछा, 'क्या मेरी आज्ञा का अतिक्रमण नहीं हुआ है?' वह कुछ उत्तर न दे सका। वह नृत्य और वाद्य-गीत में इतना खोया हुआ था कि उसे मेरी नींद और मेरे जागने का कोई भान ही नहीं रहा। मैं आज्ञा के उल्लंघन से तिलमिला उठा। मेरा क्रोध सीमा पार कर गया। मैंने आरक्षीवर्ग के द्वारा उसके कानों में

---

१. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा ७१।

गर्म सीसा डलवाया। मेरी हिंसा उसके प्राण लेकर ही शान्त हुई।'[1]

मैं अनुभव करता हूं कि यह मेरा जन्म हिंसा का प्रायश्चित्त करने के लिए ही हुआ है। मेरी सारी रुचि, सारी श्रद्धा, सारी भावना अहिंसा की आराधना में लग रही है। उसके लिए मैं जो कुछ भी कर सकता हूं, करूंगा। मेरे प्राण तड़प रहे हैं उसकी सिद्धि के लिए। मैं चाहता हूं कि वह दिन शीघ्र आए जिस दिन मैं अहिंसा से अभिन्न हो जाऊं, किसी जीव को कष्ट न पहुंचाऊं। आज क्या हो रहा है ? हम बड़े लोग छोटे लोगों के प्रति सद्व्यवहार नहीं करते। उनकी विवशता का पूरा-पूरा लाभ उठाते हैं। पशु की तरह उनका क्रय-विक्रय करते हैं। उनके साथ कठोरता बरतते हैं। मुझे लगता है जैसे हमने मानवीय एकता को समझा ही नहीं। छोटा-सा अपराध होने पर कठोर दण्ड दे देते हैं। नाना प्रकार की यातनाएं देना छोटी बात है, अवयवों को काट डालना भी हमारे लिए बड़ी बात नहीं है। मनुष्य के प्रति हमारा व्यवहार ऐसा है, तब पशुओं के प्रति अच्छे होने की आशा कैसे की जा सकती है ? मैं इस स्थिति को बदलना चाहता हूं। यह डंडे के बल पर नहीं बदली जा सकती। यह बदली जा सकती है हृदय-परिवर्तन के द्वारा। यह बदली जा सकती है प्रेम की व्यापकता के द्वारा। इसके लिए मुझे हर आत्मा के साथ आत्मीय सम्बन्ध स्थापित करना होगा। समता की वेदी पर अपने अहं का विसर्जन करना होगा। यह कार्य मांगता है बहुत बड़ा बलिदान, बहुत बड़ी साधना और बहुत बड़ा त्याग।'

माता-पिता की समाधि-मृत्यु

महावीर के मन में अचानक उदासी छा गई, जैसे उज्ज्वल प्रकाश के बाद नीले नभ में अकस्मात् रात उतर आती है। वे कारण की खोज में लग गए। वह पूर्व-सूचना थी महाराज सिद्धार्थ और देवी त्रिशला के देहत्याग की। कुमार के मन में अन्तःप्रेरणा जागी। वे तत्काल सिद्धार्थ के निषद्या-कक्ष में गए। वहां सिद्धार्थ और त्रिशला—दोनों विचार-विमर्श कर रहे थे। कुमार ने देखा, वे किसी गंभीर विषय पर बात कर रहे हैं। इसलिए उनके पैर द्वार पर ही रुक गए। सिद्धार्थ ने कुमार को देखा और अपने पास बुला लिया। वे बोले, 'कुमार ! तुम ठीक समय पर आए हो। हमें तुम्हारे परामर्श की जरूरत थी। हम तुम्हें बुलाने वाले ही थे।'

कुमार ने प्रणाम कर कहा, 'मैं आपकी कृपा के लिए आभारी हूं। आप आदेश दें, मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूं ?'

'कुमार ! तुम देख रहे हो, हमारी अवस्था परिपक्व हो गई है। पता नहीं

1. (क) महावीरचरियं, प्र० ३, प० ६२।
(ख) त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, १०।१।१७७।

भाई की स्मृति और कुमार की मृदु उक्ति से सुपार्श्व भावविह्वल हो गए। उनकी आंखों से आंसुओं की धार बह चली। वे सिसक-सिसककर रोने लगे। वे कुछ कहना चाहते थे पर वाणी उनका साथ नहीं दे रही थी। कुमार स्तब्ध-जड़ित जैसे एकटक उनकी ओर निहारते रहे। सुपार्श्व कुछ आश्वस्त हुए। भावावेश को रोककर कक्ष के एक आसन पर बैठ गए। कुछ क्षणों तक वातावरण में नीरवता छा गयी ।

'वर्द्धमान ! भाई और भाभी अब संसार में नहीं हैं—इसका सबको दुःख है। पर उस स्थिति पर हमारा वश नहीं है। कुमार ! उस अवश स्थिति का लाभ उठाकर तुम घर से निकल जाना चाहते हो, यह सहन नहीं हो सकता।'

'चुल्लपिता ! मैं घर से निकल जाना कहां चाहता हूं ? मैं अपने घर से निकला हुआ हूं, फिर से घर में चला जाना चाहता हूं।'

'कुमार ! ऐसा मत कहो। तुम अपने घर में बैठे हो और उस घर में बैठे हो जिसमें जन्मे, पले-पुसे और बड़े हुए।'

'चुल्लपिता ! क्या मेरा अस्तित्व अट्ठाईस वर्ष से ही है ? क्या इससे पहले मैं नहीं था ? यदि था तो यह घर मेरा अपना कैसे हो सकता है ? मेरा घर मेरी चेतना है जो कभी मुझसे अलग नहीं होती। मैं अब उसी में समा जाना चाहता हूं।'

'कुमार ! तुम दर्शन की बातें कर रहे हो। मैं तुमसे अपेक्षा करता हूं कि तुम व्यवहार की बात करो।'

'व्यवहार क्या है, चुल्लपिता !'

'कुमार ! वज्जिसंघ का व्यवहार है—गणराज्य की परिषद् में भाग लेना और गणराज्य के शासन-सूत्र का संचालन करना।'

'चुल्लपिता ! मैं जानता हूं, यह हमारा परम्परागत कार्य है। पर मैं क्या करूं, हिंसा और विषमता के वातावरण में काम करने के लिए मेरे मन में उत्साह नहीं है।'

कुमार के मृदु और विनम्र उत्तर से सुपार्श्व कुछ आश्वस्त हुए। उन्होंने वार्ता को आगे बढ़ाना उचित नहीं समझा। वे कुमार की गहराई से सोचकर फिर बात करने की सूचना दे अपने कक्ष में चले गए।

२

स्वतन्त्रता का अभियान

मेरा मित्र साइंस कालेज में प्राध्यापक है। एक दिन उसने पूछा, 'महावीर ने मुनिधर्म की दीक्षा क्यों ली ?' इस प्रश्न का परम्परा से प्राप्त उत्तर मेरे पास था। वह मैंने बता दिया। उससे उसे सन्तोष नहीं हुआ। वह बोला, 'महावीर स्वयं-बुद्ध थे इसलिए स्वयं दीक्षित हो गए, यह उत्तर बुद्धि को मान्य नहीं है। कोई कार्य है तो उसका कारण होना ही चाहिए।'

उसके तर्क ने मुझे प्रभावित किया। मैं थोड़े गहरे में उतरा। तत्काल भगवान् अरिष्टनेमि की घटना बिजली की भांति मेरे मस्तिष्क में कौंध गई। अरिष्टनेमि की बारात द्वारका से चली और मथुरा के परिसर में पहुंची। वहां उन्होंने एक करुण चीत्कार सुनी। उन्होंने अपने सारथी से पूछा, 'ये इतने पशु किसलिए बाड़ों और पिंजड़ों में एकत्र किए गए हैं ?'

'बारात को भात देने के लिए।'

अरिष्टनेमि का दिल करुणा से भर गया। उन्होंने कहा, 'एक का घर बने और इतने निरीह जीवों के घर उजड़ें, यह नहीं हो सकता।' वे तत्काल वापस मुड़ गए। अहिंसा के राजपथ पर एक क्रान्तदर्शी व्यक्तित्व अवतीर्ण हो गया।

मैं प्रागैतिहासिक काल के धुंधले-से इतिहास के आलोक में आ गया। वहां मैंने देखा—राजकुमार पार्श्व एक तपस्वी के सामने खड़े हैं। तपस्वी पंचाग्नि तप की साधना कर रहा है। राजकुमार ने अपने कर्मकरों से एक जलते हुए काष्ठ को चीरने के लिए कहा। एक कर्मकर ने उस काष्ठ को चीरा। उसमें एक अर्धदग्ध सांप का जोड़ा निकला। इस घटना ने राजकुमार पार्श्व के अन्तःकरण को झकझोर दिया। उनका अहिंसक अभियान प्रारम्भ हो गया।

क्या महावीर का अन्तःस्तल किसी घटना से आन्दोलित नहीं हुआ है ? इस प्रश्न से मेरा मन बहुत दिनों तक आलोड़ित होता रहा। आखिर मुझे इस प्रश्न का

उत्तर मिल गया।

भगवान् महावीर महाराज सिद्धार्थ के पुत्र थे। सिद्धार्थ वज्जिसंघ-गणतंत्र के एक शासक थे। एक शासक के पुत्र होने के कारण वे वैभवपूर्ण वातावरण में पले-पुसे थे। उन्हें गरीबी, विषमता और भेदभाव का अनुभव नहीं था और न उन्हें इस का अनुभव था कि साधारण आदमी किस प्रकार कठिनाइयों और विवशताओं का जीवन जीता है।

एक दिन राजकुमार महावीर अपने कुछ सेवकों के साथ उद्यान-क्रीड़ा को जा रहे थे। राजपथ के पास एक बड़ा प्रासाद था। जैसे ही राजकुमार उसके पास गए, वैसे ही उन्हें एक करुण क्रन्दन सुनाई दिया। लगाम का इशारा पाते ही उनका घोड़ा ठहर गया। राजकुमार ने अपने सेवक से कहा, 'जाओ, देखो, कौन किस लिए बिलख रहा है?'

सेवक प्रासाद के अन्दर गया। वह स्थिति का ज्ञान प्राप्त कर वापस आ गया। राजकुमार ने पूछा, 'कहो, क्या बात है?'

'कुछ नहीं, महाराज! यह घरेलू मामला है।'

'तो फिर इतनी करुण चीख क्यों?'

'गृहपति अपने दास को पीट रहा है।'

'क्या दास उसके घर का आदमी नहीं है?'

'घर का जरूर है पर घर में जन्मा हुआ नहीं है, खरीदा हुआ आदमी है।'

'क्या हमारे शासन ने यह अधिकार दे रखा है कि एक आदमी दूसरे आदमी को खरीद ले?'

'शासन ने न केवल खरीदने का ही अधिकार दे रखा है, किन्तु क्रीत व्यक्ति को मारने तक का अधिकार भी दे रखा है।'

राजकुमार का मन उत्पीड़ित हो उठा। वे उद्यान-क्रीड़ा को गए बिना ही वापस मुड़ गए। अब उनके मस्तिष्क में ये दो प्रश्न बार-बार उभरने लगे—यह कैसा शासन, जो एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य को खरीदने का अधिकार दे?

यह कैसा शासन, जो एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य को मारने का अधिकार दे?

उनका मन शासन के प्रति विद्रोह कर उठा। उनका मन ऐसा जीवन जीने के लिए तड़प उठा, जहां शासन न हो।

महावीर को बचपन से ही सहज सन्मति प्राप्त थी। निमित्त का योग पाकर उनकी सन्मति और अधिक प्रबुद्ध हो गई। उन्होंने शासन की परम्पराओं और विधि-विधानों से दूर रहकर अकेले में जीवन जीने का निश्चय कर लिया।

वर्द्धमान शासन-मुक्त जीवन जीने की तैयारी करने लगे। नंदिवर्द्धन को इसका पता लग गया। वे वर्द्धमान के पास आकर बोले, 'भैया! इधर माता-पिता का वियोग और इधर तुम्हारा घर से अभिनिष्क्रमण! क्या मैं दोनों वज्रपातों को सह

सकूंगा ? क्या जले पर नमक छिड़कना तुम्हारे लिए उचित होगा ? तुम ऐसा मत करो। तुम घर छोड़कर मत जाओ। यह पिता का उत्तराधिकार तुम सम्हालो। मैं तुम्हारे लिए सब कुछ करने को तैयार हूं। मेरा फिर यही अनुरोध है कि तुम घर छोड़कर मत जाओ।''

'भैया ! मुझे शासन के प्रति कोई आकर्षण नहीं है। जिस शासन में मानव की दुर्दशा के लिए अवकाश है, वह मेरे लिए कथमपि आदेय नहीं हो सकता। मेरा मन स्वतन्त्रता के लिए तड़प रहा है। आप मुझे आज्ञा दें, जिससे मैं अपने ध्येय-पथ पर आगे बढ़ूं।'

'भैया ! तुम्हें लगता है कि शासन में खामियां हैं। वह मनुष्य को मर्यादाशील नहीं बनाता, किन्तु उसकी परतंत्रता की पकड़ को मजबूत करता है तो उसे स्वस्थ बनाने के लिए तुम शासन में क्यों नहीं आते हो ?'

'भैया ! हम गणतंत्र के शासक हैं। गणतंत्रीय शासन-पद्धति में हमें सबके मतों का सम्मान करना होता है। उसमें अकेला व्यक्ति जैसे चाहे, वैसे परिवर्तन कैसे ला सकता है ? मैं पहले अपने अन्तःकरण में परिवर्तन लाऊंगा। उस प्रयोग के सफल होने पर फिर मैं उसे सामाजिक स्तर पर लाने का प्रयत्न करूंगा।'

'भैया ! तुम कहते हो वह ठीक है। मैं तुम्हारे इस महान् उद्देश्य की पूर्ति में बाधक नहीं बनूंगा। पर इस समय तुम्हारा घर से अभिनिष्क्रमण क्या उचित होगा ? क्या मैं इस आरोप से मुक्त रह सकूंगा कि माता-पिता के दिवंगत होते ही बड़े भाई ने छोटे भाई को घर से बाहर निकाल दिया ?'

नंदिवर्द्धन का तर्क भी बलवान् था और उससे भी बलवान् थी उसके हृदय की भावना। महावीर का करुणार्द्र हृदय उनका अतिक्रमण नहीं कर सका।

दिन भर की थकान के बाद सूर्य अपनी रश्मियों को समेट रहा था। चरवाहे जंगल में स्वच्छन्द घूमती गायों को एकत्र कर गांव में लौट रहे थे। दूकानदार दूकानों में बिखरी हुई वस्तुओं को समेटकर भीतर रख रहे थे। सूर्य की रश्मियों के फैलाव के साथ न जाने कितनी वस्तुएं फैलती हैं और उनके सिमटने के साथ वे सिमट जाती हैं। सुपार्श्व और नंदिवर्द्धन के साथ बिखरी हुई कुमार वर्द्धमान की बात अभी सिमट नहीं पा रही थी।

मधुकर पुष्प-पराग का स्पर्श पाकर ही संतुष्ट नहीं होता, वह उससे मधु प्राप्त कर संतुष्ट होता है। सुपार्श्व और नंदिवर्द्धन दोनों अपने-अपने असंतोष का आदान-प्रदान कर रहे थे। उन्हें कुमार वर्द्धमान से संतोष देने वाला मधु अभी मिला नहीं था।

कुमार वर्द्धमान अपने लक्ष्य पर अडिग थे, साथ-साथ अपने चाचा और

---

१. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २४८।

भाई की वेदना से द्रवित भी थे। वे उन्हें प्रसन्न कर अभिनिष्क्रमण करना चाहते थे। उनकी करुणा और अहिंसा में प्रकृति सौकुमार्य का तत्त्व बहुत प्रबल था।

कुमार अपनी बात को समेटने के लिए नंदिवर्द्धन के कक्ष में आए। चाचा और भाई को मंत्रणा करते देख प्रफुल्ल हो उठे। उनकी मंत्रणा का विषय मेरा अभिनिष्क्रमण ही है, यह समझते उन्हें देर नहीं लगी। वे दोनों को प्रणाम कर उनके पास बैठ गए।

सुपार्श्व ने वर्द्धमान के अभिनिष्क्रमण की बात छेड़ दी। नंदिवर्द्धन ने कहा—'चुल्लपिता ! यह अकांड वज्रपात है। इसे हम सहन नहीं कर सकते। कुमार को अपना निर्णय बदलना होगा। मैं पहले ही कुमार से यह चर्चा कर चुका हूं। आज हम दोनों बैठे हैं। मैं चाहता हूं, अभी इस बात का अंतिम निर्णय हो जाए।'

'भैया ! अंतिम निर्णय यही है कि आप मेरे मार्ग में अवरोध न बनें,' कुमार ने बड़ी तत्परता से कहा।

नंदिवर्द्धन बोले, 'कुमार ! यह कथमपि संभव नहीं है। मैं जानता हूं कि तुम्हारी अहिंसा तुम्हें घाव पर नमक डालने की अनुमति तो नहीं देगी।'

नंदिवर्द्धन ने इतना कहा कि कुमार विवश हो गए।

'मुझे निष्क्रमण करना है। इसमें मै परिवर्तन नहीं ला सकता। मैं महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक यात्रा प्रारम्भ कर रहा हूं। इस कार्य में मुझे आपका सहयोग चाहिए। फिर आप मुझे क्यों रोकना चाहते हैं,' कुमार ने एक ही सांस में सारी बातें कह डालीं।

नंदिवर्द्धन जानते थे कि कुमार सदा के लिए यहां रुकने वाले नहीं हैं, इसलिए असंभव आग्रह करने से कोई लाभ नहीं। उन्होंने कहा—'कुमार ! मैं तुम्हें रोकना चाहता हूं पर सदा के लिए नहीं।'

'फिर कब तक ?'

'मैं चाहता हूं तुम माता-पिता के शोक-समापन तक यहां रहो, फिर अभिनिष्क्रमण कर लेना।'

'शोक कब तक मनाया जाएगा ?'

'दो वर्ष तक।'[1]

'बहुत लम्बी अवधि है।'

'कुछ भी हो, इसे मान्य करना ही होगा।'

सुपार्श्व भी नंदिवर्द्धन के पक्ष का समर्थन करने लगे। कुमार ने देखा, अब

---

१. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २४९; आचारांगचूर्णि, पृ० ३०४।

कोई चारा नहीं है। इसे मानना पड़ेगा पर मैं अपने ढंग से मानूंगा।

कुमार ने कहा, 'एक शर्त पर मैं आपकी बात मान सकता हूं।'

'वह क्या है,' दोनों एक साथ बोल उठे।

'घर में रहकर मुझे साधक का जीवन जीने की पूर्ण स्वतंत्रता हो तो मैं दो वर्ष तक यहां रह सकता हूं, अन्यथा नहीं।'

उन्होंने कुमार की शर्त मान ली। कुमार ने उनकी बात को अपनी स्वीकृति दे दी। अभिनिष्क्रमण की चर्चा पर एक बार पटाक्षेप हो गया।

विदेह साधना

कुमार वर्द्धमान के अंतस् में स्वतंत्रता की लौ प्रदीप्त हो चुकी थी। वह इतनी उद्दाम थी कि ऐश्वर्य की हवा का प्रखर झोंका भी उसे बुझा नहीं पा रहा था। कुमार घर की दीवारों में बन्द रहकर भी मन की दीवारों का अतिक्रमण करने लगे। किसी वस्तु में बद्ध रहकर जीने का अर्थ उनकी दृष्टि में था स्वतन्त्रता का हनन। उन्होंने स्वतन्त्रता की साधना के तीन आयाम एक साथ खोल दिए—एक था अहिंसा, दूसरा सत्य और तीसरा ब्रह्मचर्य।

अहिंसा की साधना के लिए उन्होंने मैत्री का विकास किया। उनसे सूक्ष्म जीवों की हिंसा भी असंभव हो गई। वे न तो सजीव अन्न खाते, न सजीव पानी पीते और न रात्रि-भोजन करते।[1]

सत्य की साधना के लिए वे ध्यान और भावना का अभ्यास करने लगे। मैं अकेला हूं—इस भावना के द्वारा उन्होंने अनासक्ति को साधा और उसके द्वारा आत्मा की उपलब्धि का द्वार खोला।[2]

ब्रह्मचर्य की साधना के लिए उन्होंने अस्वाद का अभ्यास किया। आहार के सम्बन्ध में उन्होंने विविध प्रयोग किए। फलस्वरूप सरस और नीरस भोजन में उनका समत्व सिद्ध हो गया।[3]

कुमार ने शरीर के ममत्व से मुक्ति पा ली। अब्रह्मचर्य की आग अपने आप बुझ गई।

कुमार की यह जीवनचर्या राजपरिवार को पसन्द नहीं थी। कभी-कभी सुपार्श्व और नंदिवर्द्धन कुमार की साधक-चर्या का हल्का-सा विरोध करते। पर कुमार पहले ही अपनी स्वतंत्रता का वचन ले चुके थे।

---

१. आयारो, ९।१।११-१५; आचारांगचूर्णि, पृ० ३०४।
२. आयारो, ९।१।११; आचारांगचूर्णि, पृ० ३०४।
३. देखें, आयारो, ९।४।

काल का चक्र अविराम गति से घूमता है। आकांक्षा की पूर्ति के क्षणों में हमें लगता है, वह जल्दी घूम गया। उसकी पूर्ति की प्रतीक्षा के क्षणों में हमें लगता है, वह कहीं रुक गया। महावीर को दो वर्ष का काल बहुत लंबा लगा। आखिर लक्ष्यपूर्ति की घड़ी आ गयी। स्वतंत्रता-सेनानी के पैर परतंत्रता के निदान की खोज में आगे बढ़ गए।[1]

---

१. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २४६।

३

स्वतन्त्रता का संकल्प

मैं जब-जब यह सुनता हूं कि मृगसर कृष्णा दसमी को महावीर दीक्षित हो गए, तब-तब मेरे सामने कुछ प्रश्न उभर आते हैं। क्या कोई व्यक्ति एक ही दिन में दीक्षित हो जाता है ? क्या दीक्षा कोई आकस्मिक घटना है ? क्या वह दीर्घकालीन चिंतन-मनन का परिणाम नहीं है ? यदि इन प्रश्नों के लिए अवकाश है तो फिर कोई आदमी एक ही दिन में दीक्षित कैसे हो सकता है ? इस संदर्भ में मेरी दृष्टि उस तर्कशास्त्रीय घट पर जा टिकी जो अभी-अभी कजावा से निकाला गया है। उस पर जल की एक बूंद गिरी और वह सूख गई, दूसरी गिरी और वह भी सूख गई। बूंदों के गिरने और सूखने का क्रम चालू रहा। आखिरी बूंद ने घट को गीला कर दिया। मैंने देखा घट की आर्द्रता आखिरी बूंद की निष्पत्ति नहीं है, वह दीर्घकालीन बिन्दुपात की निष्पत्ति है। इसी तथ्य के परिपार्श्व में मैंने देखा, दीक्षा किसी एक दिन की निष्पत्ति नहीं है। वह दीर्घकालीन चिन्तन-मनन और अभ्यास की निष्पत्ति है।

महावीर ने दीर्घकाल तक उस समय के प्रसिद्ध वादों—क्रियावाद, अक्रियावाद, विनयवाद और अज्ञानवाद—का सूक्ष्मदृष्टि से अध्ययन किया। उनकी दीक्षा उसी की निष्पत्ति है।

महावीर घर से अभिनिष्क्रमण कर क्षत्रियकुंडपुर के बाहर वाले उद्यान में चले गए। यह स्वतंत्रता का पहला चरण था। घर व्यक्ति को एक सीमा देता है। स्वतंत्रता का अन्वेषी इस सीमा को तोड़, अखण्ड भूमि और अखण्ड आकाश को अपना घर बना लेता है।

स्वतंत्रता का दूसरा चरण था—परिवार से मुक्ति। परिवार व्यक्ति को एक सीमा में बांधता है। स्वतंत्रता का अन्वेषी इस सीमा को तोड़ संपूर्ण प्राणी-जगत् को अपना परिवार बना लेता है।

स्वतंत्रता का तीसरा चरण था—वैभव का विसर्जन। वैभव व्यक्ति को दूसरों से विभक्त करता है। स्वतंत्रता का अन्वेषी उसका विसर्जन कर मानव-जाति के साथ एकता स्थापित कर लेता है।

प्रबुद्ध मेरा अभिन्न मित्र है। वह स्वतंत्रता के लिए विसर्जन को प्राथमिकता देने के पक्ष में नहीं है। उसका कहना है कि भीतरी बन्धन के टूटने पर बाहरी बंधन हो या न हो, कोई अन्तर नहीं आता और भीतरी बंधन के अस्तित्व में बाहरी बंधन हो या न हो, कोई अन्तर नहीं आता। उसने अपने पक्ष की पुष्टि में कहा—'महावीर ने पहले भीतर की ग्रंथियों को खोला था, फिर तुम बाहरी ग्रंथियों के खुलने को प्राथमिकता क्यों देते हो? उसने अपनी स्थापना के समर्थन में आचारांग सूत्र की एक पहेली भी प्रस्तुत कर दी—'स्वतंत्रता का अनुभव गांव में भी नहीं होता, जंगल में भी नहीं होता। वह गांव में भी हो सकता है, जंगल में भी हो सकता है।'

उसके लम्बे प्रवचन को विराम देते हुए मैंने पूछा, 'मित्र! पहले यह तो बताओ वह भीतरी बंधन क्या है?'

'अहंकार और ममकार।'

'महावीर ने पहले इनका विसर्जन किया, फिर घर का। तुम्हारे कहने का अभिप्राय यही है न?'

'जी हां।'

'अहंकार और ममकार का विसर्जन एक मानसिक घटना है। स्वतंत्रता की खोज में उसकी प्राथमिकता है। मैं इससे असहमत नहीं हूं। किन्तु मेरे मित्र! बाह्य जगत् के साथ तादात्म्य स्थापित करने के लिए क्या बाहरी सीमाओं का विसर्जन अनिवार्य नहीं है? मानसिक जगत् में घटित होने वाली घटना को मैं कैसे देख सकता हूं? उस घटना से मेरा सीधा सम्पर्क हो जाता है जो बाह्य जगत् में घटित होती है। मैंने महावीर के विसर्जन को प्राथमिकता इसलिए दी है कि वह बाह्य जगत् में घटित होने वाली घटना है। उसने समूचे लोक को आश्वस्त कर दिया कि महावीर स्वतंत्रता की खोज के लिए घर से निकल पड़े हैं। उनका अभिनिष्क्रमण समूची मानव-जाति के लिए प्रकाश-स्तम्भ होगा।'

'क्या गृहवासी मनुष्य स्वतंत्रता का अनुभव नहीं कर सकता?'

'मैं यह कब कहता हूं कि नहीं कर सकता। मैं यह कहना चाहता हूं कि जो व्यक्ति स्वतंत्रता की लौ को अखंड रखना चाहता है, उसे एक घर का विसर्जन करना ही होगा। वह विसर्जन, मेरी दृष्टि में, सब घरों को अपना घर बना लेने की प्रक्रिया है।'

'तुम महावीर को एकांगिता के आदर्श में क्यों प्रतिबिम्बित कर रहे हो, देव!'

'मैं इस आरोप को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हूं। मैंने एक क्षण के

लिए भी यह नहीं कहा कि गृहवासी मनुष्य स्वतंत्रता की खोज और उसका अनुभव नहीं कर सकता। मैं उन लोगों के लिए घर का विसर्जन आवश्यक मानता हूं, जो सबके साथ घुल-मिलकर उन्हें स्वतंत्रता का देय देना चाहते हैं। जहां तक मैं समझ पाया हूं, महावीर ने इसीलिए स्वतंत्रता के संकल्प की सार्वजनिक रूप से घोषणा की थी।'

'वह घोषणा क्या थी?'

'महावीर ने ज्ञातखंड उद्यान में वैशाली के हजारों-हजारों लोगों के सामने यह घोषणा की—आज से मेरे लिए वे सब कार्य अकरणीय हैं, जो पाप हैं।'[1]

'पाप आन्तरिक ग्रंथि है। महावीर ने उसका आचरण न करने की घोषणा की। इसमें घर के विसर्जन की बात कहां है?'

'पाप को तुम एक रटी-रटाई भाषा में क्यों लेते हो? क्या परतंत्रता पाप नहीं है? वह सबसे बड़ा पाप है और इसलिए है कि वह सब पापों की जड़ है। महावीर की घोषणा का हृदय यह है—'मैं ऐसा कोई कार्य नहीं करूंगा जो मेरी स्वतंत्रता के लिए बाधा बने।' महावीर ने स्वतंत्रता का अनुभव प्राप्त करने के पश्चात् यह कभी नहीं कहा कि सब आदमी घर छोड़कर जंगल में चले जाएं। उन्होंने उन लोगों के लिए इसका प्रतिपादन किया जो सब सीमाओं से मुक्त स्वतंत्रता का अनुभव करना चाहते हैं।'

'महावीर ने केवल घर का ही विसर्जन नहीं किया, धर्म-सम्प्रदाय का भी विसर्जन किया था। भगवान् पार्श्व का धर्म-सम्प्रदाय उन्हें परम्परा से प्राप्त था, फिर भी वे उसमें दीक्षित नहीं हुए। महावीर ने दीक्षित होते ही संकल्प किया—मेरी स्वतंत्रता में बाधा डालने वाली जो भी परिस्थितियां उत्पन्न होंगी, उनका मैं सामना करूंगा, उनके सामने कभी नहीं झुकूंगा। मुझे अपने शरीर का विसर्जन मान्य है, पर परतंत्रता का वरण मान्य नहीं होगा।'[2]

प्रबुद्ध अनन्त की ओर टकटकी लगाए देख रहा था। वह जानता था कि शून्य को भरने के लिए महाशून्य से बढ़कर कोई सहारा नहीं है।

---

१. आयारचूला, १५।२६।
२. आयारचूला, १५।३४।

४

पुरुषार्थ का प्रदीप

एक विद्यार्थी बहुत प्रतिभाशाली है। उसने पूछा, 'मनुष्य के जीवन का उद्देश्य क्या है ?'

मैंने कहा—'उद्देश्य जीवन के साथ नहीं आता। आदमी समझदार होने के बाद अपने जीवन का उद्देश्य निश्चित करता है। भिन्न-भिन्न रुचि के लोग हैं और उनके भिन्न-भिन्न उद्देश्य हैं।'

विद्यार्थी बोला, 'इन सामयिक उद्देश्यों के बारे में मुझे जिज्ञासा नहीं है। मेरी जिज्ञासा उस उद्देश्य के बारे में है जो अंतिम है, स्थायी है और सबके लिए समान है।'

क्षण भर अन्तर् के आलोक में पहुंचने के पश्चात् मैंने कहा, 'वह उद्देश्य है स्वतंत्रता।'

यह उत्तर मेरे अन्तस् का उत्तर था। उसने तत्काल इसे स्वीकार कर लिया। फिर भी मुझे अपने उत्तर की पुष्टि किए बिना संतोष कैसे हो सकता था ? मैं बोला, 'देखा, तोता पिंजड़े से मुक्त होकर मुक्त आकाश में विहरण करना चाहता है। शेर को क्या पिंजड़ा पसन्द है ? हाथी को जंगल जितना पसन्द है, उतना प्रासाद पसन्द नहीं। ये सब स्वतंत्रता की अदम्य और शाश्वत ज्योति के ही स्फुलिंग हैं।' महर्षि मनु ने ठीक कहा है, 'परतंत्रता में जो कुछ घटित होता है, वह सब दुःख है। स्वतंत्रता में जो कुछ घटित होता है, वह सब सुख है।'

स्वतंत्रता की शाश्वत ज्योति पर पड़ी हुई भस्मराशि को दूर करने के लिए महावीर अब आगे बढ़े। उन्होंने अपने साथ आए हुए सब लोगों को विसर्जित कर दिया।

इस प्रसंग में मुझे राम के वनवास-गमन की घटना की स्मृति हो रही है। दोनों घटनाओं में पूर्ण सदृशता नहीं है, फिर भी अभिन्नता के अंश पर्याप्त हैं। राम

घर को छोड़ अज्ञात की ओर चले जा रहे हैं। उनके साथ लक्ष्मण हैं, सीता है और धनुष है। महावीर भी घर को छोड़ अज्ञात की ओर चले जा रहे हैं। उनके साथ न कोई पुरुष है, न कोई स्त्री है और न कोई शस्त्र। दोनों के सामने लक्ष्य है—स्वतंत्रता की दिशा को आलोक से भर देना। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए दोनों ने युद्ध किए हैं और शत्रु-वर्ग का दमन किया है युद्ध और दमन की भूमिका दोनों की भिन्न है। राम के शत्रु हैं—भद्र मनुष्यों की स्वतंत्रता का अपहरण करने वाले दस्यु और महावीर के शत्रु हैं—आत्मा की स्वतंत्रता का अपहरण करने वाले संस्कार। राम ने उनका दमन किया धनुष से और महावीर ने उनका दमन किया ध्यान और तपस्या से। राम कर्मवीर हैं और महावीर धर्मवीर हैं। ये दोनों भारतीय संस्कृति के महारथ के ऐसे दो चक्र हैं, जिनसे उसे निरंतर गति मिली है और मिल सकती है।

महावीर अपनी जन्मभूमि से प्रस्थान कर कर्मारग्राम (वर्तमान कामनछपरा) पहुंचे। उन्हें खाने-पीने की कोई चिंता नहीं थी। दीक्षा-स्वीकार के प्रथम दिन वे उपवासी थे और आज दीक्षा के प्रथम दिन भी वे उपवासी हैं। स्थान के प्रति उनकी कोई भी आसक्ति नहीं है। सुख-सुविधा के लिए कोई आकर्षण नहीं है। उनके सामने एक ही प्रश्न है और वह है परतंत्रता के निदान की खोज।

महावीर गांव के बाहर जंगल के एक पार्श्व में खड़े हैं।[1] वे ध्यान में लीन हैं। उनके चक्षु नासाग्र पर टिके हुए हैं। दोनों हाथ घुटनों की ओर झुके हुए हैं। उनकी स्थिरता को देख दूर से आने वालों को स्तम्भ की अवस्थिति का प्रतिभास हो रहा है।

एक ग्वाला अपने बैलों के साथ घर को लौट रहा था। उसने महावीर को जंगल में खड़े हुए देखा। उसने बैल वहीं छोड़ दिए। वह अपने घर चला गया। महावीर सत्य की खोज में खोए हुए थे। वे अन्तर् जगत् में इतने तन्मय थे कि उन्हें बाहर की घटना का कोई आभास ही नहीं हुआ। बैल चरते-चरते जंगल में आगे चले गए। ग्वाला घर का काम निपटाकर वापस आया। उसने देखा वहां बैल नहीं हैं। उसने पूछा, 'मेरे बैल कहां हैं?'

महावीर ने इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं दिया। वे अपने अन्तर् के प्रश्नों का उत्तर देने में इतने लीन थे कि उन्होंने ग्वाले का प्रश्न सुना ही नहीं, फिर उत्तर कैसे देते?

ग्वाले ने सोचा इन्हें बैलों का पता नहीं है। वह उन्हें खोजने के लिए जंगल की ओर चल पड़ा। सूरज पश्चिम की घाटियों के पार पहुंच चुका था। रात ने अपनी विशाल बांहें फैला दीं। तमस् ने भूमि के मुंह पर श्यामल घूंघट डाल दिया।

1. साधना का पहला वर्ष। स्थान—कर्मारग्राम।

ग्वाला बैलों को खोजता रहा, पर उनका कोई पता नहीं चला। वह अपने खेत में चला गया।

प्रकाश ने फिर तमस् को चुनौती दी। सूर्य उसकी सहायता के लिए आ खड़ा हुआ। दिन ने उसकी अगवानी में किए सारे द्वार खोल दिए। तमस् के साथ-साथ नींद का भी आसन डोल उठा। ग्वाला जागा। वह नित्यकर्म किए बिना ही बैलों की खोज में निकल गया। वह घूमता-घूमता फिर वहीं पहुंचा, जहां महावीर ध्यान की मुद्रा में गिरिराज की भांति अप्रकम्प खड़े हैं। उसने देखा—बैल महावीर के आस-पास चर रहे हैं। रात की थकान, असफलता और महावीर के आस-पास बैलों की उपस्थिति ने उसके मन में क्रोध की आग सुलगा दी। उसके मन का संदेह इस कल्पना के तट पर पहुंच गया कि ये मुनि बैलों को हथियाना चाहते हैं। इसीलिए मेरे पूछने पर ये मौन रहे। उनके बारे में मुझे कुछ भी नहीं बताया। वह अपने आवेग को रोक नहीं सका। वह जैसे ही रस्सी को हाथ में ले महावीर को मारने दौड़ा,[1] वैसे ही घोड़ों के पैरों की आहट ने उसे चौंका दिया। महाराज नंदिवर्द्धन उस दृश्य को देख स्तब्ध रह गए। महाराज ने ग्वाले को महावीर का परिचय दिया। वह अपनी मूर्खता पर पछताता हुआ वापस चला गया।

महावीर की ध्यान प्रतिमा संपन्न हुई। महाराज नंदवर्द्धन सामने आकर खड़े हो गए। बोले, 'भन्ते! आप अकेले हैं। जंगल में ध्यान करते हैं। आज जैसी घटना और भी घटित हो सकती है। आप मुझे अनुमति दें, मैं अपने सैनिकों को आपकी सेवा में रखूं। वे आप पर आने वाले कष्टों का निवारण करते रहेंगे।'

भगवान् गम्भीर स्वर में बोले, 'नंदिवर्द्धन! ऐसा नहीं हो सकता। स्वतंत्रता की साधना करने वाला अपने आत्मबल के सहारे ही आगे बढ़ता है। वह दूसरों के सहारे आगे बढ़ने की बात सोच ही नहीं सकता।'[2]

यह घटना स्वतंत्रता का पहला सोपान है। इसके दोनों पार्श्वों में स्वावलंबन और पुरुषार्थ प्रतिध्वनित हो रहे हैं।

स्वावलंबन और पुरुषार्थ—ये दोनों अस्तित्व के चक्षु हैं। ये वे चक्षु हैं, जो भीतर और बाहर—दोनों ओर समानरूप से देखते हैं। मनुष्य अस्तित्व की शृंखला की एक कड़ी है। पुरुषार्थ उसकी प्रकृति है। जिसका अस्तित्व है, वह कोई भी वस्तु क्रियाशून्य नहीं हो सकती। इस सत्य को तर्कशास्त्रीय भाषा में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—अस्तित्व का लक्षण है क्रियाकारित्व। जिसमें क्रियाकारित्व नहीं होता, वह आकाशकुसुम की भांति असत् होता है। मनुष्य सत् है, इसलिए पुरुषार्थ उसके पैर और स्वावलंबन उसकी गति है।

---

१. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २६८-२७०।
२. देखें—आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २७०।

५

असंग्रह का वातायन : अभय का उच्छ्वास

एक दिन मैं सूक्ष्म लोक में विहार कर रहा था। अकस्मात् शरीर-चेतना से सम्पर्क स्थापित हो गया। मैंने पूछा, 'शरीर धर्म का आद्य साधन है'—यह तुम्हारी स्वयं की अनुभूति है या दूसरों की अनुभूति का शब्दावतरण ?'

'क्या इसमें आपको सचाई का भास नहीं होता ?'

'मुझे यह अपूर्ण सत्य लग रहा है।'

'वाणी में उतरा हुआ सत्य अपूर्ण ही होगा। उसमें आप पूर्णता की खोज क्यों कर रहे हैं ?'

'मनुष्य-लोक की समस्या से सम्भवतः तुम अपरिचित हो। शरीर की प्रतिष्ठा के साथ स्वार्थ और व्यक्तिवाद प्रतिष्ठित हो गए हैं। इस समस्या के समाधान के लिए पूर्णता की खोज क्या अपेक्षित नहीं है ? तुम्हारी अनुभूति का मूल्य इस सत्य के संदर्भ में ही हो सकता है—शरीर अधर्म का आद्य साधन है।'

'यह कैसे ?'

'अधर्म का मूल आसक्ति है, मूर्च्छा है। उसका प्रारम्भ शरीर से होता है। फिर वह दूसरों तक पहुंचती है।'

मुझे प्रतीत हुआ कि शरीर-चेतना मेरी गवेषणा का अनुमोदन कर रही है, फिर भी मैंने अपनी उपलब्धि की पुष्टि में कुछ कह दिया—'भगवान महावीर ने सत्य का साक्षात्कार करने पर कहा, 'चेतन और देह की पृथक्ता का बोध हुए बिना दृष्टिकोण सम्यक् नहीं होता।'

सांख्य-दर्शन का अभिमत है—'विवेकख्याति प्राप्त किए बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती।'

वेदान्त का सिद्धान्त है—'देहाध्यास से मुक्ति पाए बिना साधना का पथ प्रशस्त नहीं होता।'

मैं शरीर-चेतना को भगवान् महावीर के दीक्षाकालीन परिपार्श्व में ले गया। हमने देखा—महावीर घर छोड़कर अकेले जा रहे हैं। उनके शरीर पर केवल एक वस्त्र है, वही अधोवस्त्र और वही उत्तरीय। फिर आभूषणों की बात ही क्या? वे शरीर-अलंकरण को छोड़ चुके हैं। पैरों में जूते नहीं हैं। भूमि और आकाश के साथ तादात्म्य होने में कोई बाधा नहीं आ रही है। भोजन के लिए कोई पात्र नहीं है। पैसे का प्रश्न ही नहीं है। वे अकेले चले जा रहे हैं। सचमुच अकेले! विसर्जन की साधना प्रारम्भ हो चुकी है—देह के महत्त्व का विसर्जन, संस्कारों का विसर्जन, विचारों का विसर्जन और उपकरण का विसर्जन।

मैंने मृदु-मंद स्वर में कहा, 'यह शरीर धर्म का आद्य साधन है। शरीर ही धर्म का आद्य साधन नहीं है, वह शरीर धर्म का आद्य साधन है जो आसक्ति के नागपाश से मुक्त हो चुका है।'

हमारी यात्रा समस्वरता में सम्पन्न हो गई। भगवान् के शरीर पर वह दिव्य दूष्य उपेक्षा के दिन बिता रहा था। न भगवान् उसका परिकर्म कर रहे थे और न वह उनकी शोभा बढ़ा रहा था।

साधना का दूसरा वर्ष और पहला मास। भगवान दक्षिण वाचाला से उत्तर वाचाला को जा रहे थे। दोनों सन्निवेशों के बीच में दो नदियां बह रही थीं—सुवर्णबालुका और रूप्यबालुका। सुवर्णबालुका के किनारे पर कंटीली झाड़ियां थीं। भगवान् उनके पास होकर गुजर रहे थे। भगवान् के शरीर पर पड़ा हुआ वस्त्र कांटों में उलझ गया। भगवान् रुके नहीं, वह शरीर से उतर नीचे गिर गया। भगवान् ने उस पर एक दृष्टि डाली और उनके चरण आगे बढ़ गए।

भगवान् के पास अपना बताने के लिए केवल शरीर था और वास्तव में उनका अपना था चैतन्य। वह चैतन्य जिसके दोनों पार्श्वों में निरन्तर प्रवाहित हो रहे हैं दो निर्झर। एक का नाम है आनन्द और दूसरे का नाम है वीर्य।

पहले शरीर के साथ प्रेम का सम्बन्ध था। अब उसके साथ विनिमय का सम्बन्ध है। पहले उधार का व्यापार चल रहा था। अब नकद का व्यापार चल रहा है। भगवान् का अधिकांश समय ध्यान में बीतता है। वे बहुत कम खाते हैं, उतना-सा खाते हैं जिससे यह गाड़ी चलती रहे।

शरीर के साथ उनके सम्बन्ध बहुत स्वस्थ थे। वे उसे आवश्यक पोषण देते थे और वह उन्हें आवश्यक शक्ति देता था। वे उसे अनावश्यक पोषण नहीं देते थे और वह उन्हें अनावश्यक (विकारक, उत्तेजक या उन्मादक) शक्ति नहीं देता था।

भगवान् का अपना कोई घर नहीं था। उनका अधिकतम आवास शून्यगृह, देवालय, उद्यान और अरण्य में होता था। कभी-कभी श्मशान में भी रहते थे।[1]

---
१. आयारो ९।२।२,३।

साधना के प्रथम वर्ष में वे कोल्लाक सन्निवेश से मोराक सन्निवेश पहुंचे। उसके बहिर्भाग में घुमक्कड़ तापसों का आश्रम था। वे वहां गए। आश्रम का कुलपति भगवान् के पिता सिद्धार्थ का मित्र था। वह भगवान् को पहचानता था। एक तापस ने भगवान् को आश्रम में आते हुए देखा। उसने कुलपति को सूचना दी। वह अपने साधना-कुटीर से बाहर आया। उसने महावीर को पहचान लिया। वह आतिथ्य के लिए सामने गया। दोनों ने एक-दूसरे का अभिवादन किया। कुलपति के निवेदन पर महावीर एक दिन वहीं रहे। दूसरे दिन वे आगे के लिए प्रस्थान करने लगे। कुलपति ने कहा—'मुनिप्रवर ! यह आश्रम आपका ही है। आप इसमें निःसंकोच भाव से रहें। अभी आप प्रस्थान के लिए प्रस्तुत हैं। मैं आपकी इच्छा में विघ्न उपस्थित नहीं करूंगा। मेरी हार्दिक इच्छा है कि आप इस वर्ष का वर्षावास यहीं बिताएं।'

महावीर वहां से चले। कई महीनों तक आसपास के प्रदेश में घूमे। आश्रम से बंधकर गए थे, अतः वर्षावास के प्रारम्भ में पुनः वहीं लौट आए। इसे आश्चर्य ही मानना होगा कि अपनी धुन में अलख जगाने वाला एक स्वतंत्रता-प्रेमी साधक कुलपति के बंधन में बंध गया।

कुलपति ने महावीर को एक झोंपड़ी दे दी। वे वहां रहने लगे। उनके सामने एक ही कार्य था और वह था ध्यान—भीतर की गहराइयों में गोते लगाना और संस्कारों की परतों के नीचे दबे हुए अस्तित्व का साक्षात्कार करना। वे अपनी झोंपड़ी की ओर भी ध्यान नहीं देते तब आवासीय झोंपड़ी की ओर ध्यान देने की उनसे आशा ही कैसे की जा सकती थी ? महावीर की वह उदासीनता झोंपड़ी के अधिकारी तापस को खलने लगी। उसने महावीर से अनुरोध किया, 'आप झोंपड़ी की सार-संभाल किया करें।'

समय का चरण आगे बढ़ा। बादल आकाश में घिर गए। रिमझिम-रिमझिम बूंदें गिरने लगीं। ग्रीष्म ने अपना मुंह वर्षा के अवगुंठन से ढक लिया। उसके द्वारा पुरस्कृत ताप शीत में बदल गया। भूमि के कण-कण में रोमांच हो आया। उसका हरित परिधान बरबस आंखों को अपनी ओर खींचने लगा।

गाएं अरण्य में चरने को आने लगीं। घास अभी बढ़ी नहीं थी। भूमि अभी अंकुरित ही हुई थी। क्षुधातुर गाएं घास की टोह में आश्रम की झोंपड़ी तक पहुंच जाती थीं। अन्य सभी तापस अपनी-अपनी झोंपड़ी की रक्षा करते थे। गाएं उस झोंपड़ी पर लपकतीं, जिसमें महावीर ठहरे हुए थे। वे उसके छप्पर की घास खा जातीं। तापस ने कुलपति से निवेदन किया—'मेरी झोंपड़ी के छप्पर की घास गाएं खा जाती हैं। मेरे अनुरोध करने पर भी महावीर उसकी रक्षा नहीं करते। अब मुझे क्या करना चाहिए ?' उसके मन में रोष और संकोच—दोनों थे।

कुलपति अवसर देख महावीर के पास आया और बड़ी धृति के साथ बोला—

'मुनिप्रवर ! निम्नस्तर की चेतना वाला एक पक्षी भी अपने नीड़ की रक्षा करता है। मुझे आश्चर्य है कि आप क्षत्रिय होकर अपने आश्रम की रक्षा के प्रति उदासीन हैं। क्या मैं आशा करूं कि भविष्य में मुझे फिर किसी तापस के मुंह से यह शिकायत सुनने को नहीं मिलेगी ?'

महावीर ने केवल इतना-सा कहा, 'आप आश्वस्त रहिए। अब आप तक कोई उलाहना नहीं आएगा।'

कुलपति प्रसन्नता के साथ अपने कुटीर में चला गया।

महावीर ने सोचा—'अभी मैं सत्य की खोज में खोया हुआ रहता हूं। मैं अपने ध्यान को उससे हटाकर झोंपड़ी की रक्षा में केन्द्रित करूं, यह मेरे लिए सम्भव नहीं होगा। झोंपड़ी की घास गाएं खा जाती हैं, यह तापसों के लिए प्रीतिकर नहीं होगा। इस स्थिति में यहां रहना क्या मेरे लिए श्रेयस्कर है ?'

इस अश्रेयस् की अनुभूति के साथ-साथ उनके पैर गतिमान हो गए। उन्होंने वर्षावास के पन्द्रह दिन आश्रम में बिताए, शेष समय अस्थिकग्राम के पार्श्ववर्ती शूलपाणि यक्ष के मंदिर में बिताया।

आश्रम की घटना ने महावीर के स्वतंत्रता-अभियान की दिशा में कुछ नए आयाम खोल दिए। उनके तत्कालीन संकल्पों से यह तथ्य अभिव्यंजित होता है। उन्होंने आश्रम से प्रस्थान कर पांच संकल्प किए—

१. मैं अप्रीतिकर स्थान में नहीं रहूंगा।
२. प्रायः ध्यान में लीन रहूंगा।
३. प्रायः मौन रहूंगा।
४. हाथ में भोजन करूंगा।
५. गृहस्थों का अभिवादन नहीं करूंगा।[1]

अन्तर्जगत् के प्रवेश का सिंहद्वार उद्घाटित हो गया। अ लौकिक मानदण्डों का भय उनकी स्वतंत्रता की उपलब्धि में बाधक नहीं रहा। अब शरीर, उपकरण और संस्कारों की सुरक्षा के लिए उठने वाला भय का आक्रमण निर्वीर्य हो गया।

---

१. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २७१, २७२।

६

भय की तमिस्रा : अभय का आलोक

भगवान् महावीर साधना के पथ पर निरंतर आगे बढ़ रहे हैं। उनका आत्मबल प्रबल और पुरुषार्थ प्रदीप्त हो रहा है। उनका पथ विघ्नों और बाधाओं से भरा है। तीखे-तीखे कांटे चुभन पैदा कर रहे हैं किन्तु वे एक क्षण के लिए भी उनसे संत्रस्त नहीं हैं।

१. साधना का पहला वर्ष चल रहा है। महावीर का आज का ध्यान-स्थल अस्थिकग्राम है। वे शूलपाणि यक्ष के मंदिर में ध्यानमुद्रा के लिए उपस्थित हैं। गांव के लोगों का मन भय से आकुल है। पुजारी भी भयभीत है। उन सबने कहा, 'मुनिप्रवर ! आप गांव में चलिए। यह भय का स्थान है। यहां रहना ठीक नहीं है। शूलपाणि यक्ष बहुत क्रूर है। जो आदमी रात को यहां ठहरता है, वह प्रातः मरा हुआ मिलता है।'

महावीर ने कहा—'मैं गांव में जा सकता हूं। पर इस सुनहले अवसर को छोड़कर मैं गांव में कैसे जाऊं ? स्वतंत्रता की साधना का पहला चरण है अभय। ध्यान-काल में इस सत्य का मुझे साक्षात् हुआ है। मैं अभय के शिखर पर आरोहण का अभियान प्रारम्भ कर चुका हूं। यह कसौटी का समय है। इससे पीछे हटना क्या उचित होगा ?'

लोगों के अपने तर्क थे और महावीर का अपना तर्क था। उनकी वेधक शक्ति अधिक थी, अतः उससे निरुत्तर हो सब लोग गांव में चले गए।

महावीर यक्ष के मंदिर में ध्यानलीन होकर खड़े हैं। जैसे-जैसे समय बीत रहा है, वैसे-वैसे रात की श्यामलता, नीरवता और उनके मन की एकाग्रता गहरी होती जा रही है।

अकस्मात् अट्टहास हुआ। वातावरण की नीरवता भंग हो गई। सारा जंगल कांप उठा। महावीर पर उसका कोई प्रभाव नहीं हुआ। कुछ क्षणों के बाद एक

हाथी आया। उसने अपने दांतों से महावीर पर तीखे प्रहार किए। पर वह माहरवी को विचलित नहीं कर सका। हाथी के अदृश्य होते ही एक विषधर सर्प सामने आ गया। उसकी भयंकर फुफकार से भयभीत होकर पेड़ पर बैठी चिड़ियां चहकने लग गईं। उसने महावीर को काटा पर उनके मन का एक कोना भी प्रकंपित नहीं हुआ। यक्ष का आवेश शान्त हो गया।[1]

महावीर के जीवन में यह घटना घटित हुई या नहीं, यक्ष ने उन्हें कष्ट दिया या नहीं, इन विकल्पों का समाधान आप मांग सकते हैं, पर मैं इनका क्या समाधान दूं? जिन ग्रन्थों के आधार पर मैं इन्हें लिख रहा हूं, वे आपके सामने हैं। यदि आप अन्तर्-जगत् में मेरे साथ चलें तो मैं इनका समाधान दे सकता हूं।

अब हम अन्तर्-जगत् के प्रथम द्वार में प्रवेश कर रहे हैं। यहां विचार ही विचार हैं। अभी हम प्रवेश कर ही रहे हैं, इसलिए हमें इनकी भीड़ का सामना करना होगा। जैसे-जैसे हम आगे बढ़ेंगे, इनकी भीड़ कम होती चली जायेगी। दूसरे द्वार के निकट पहुंचते-पहुंचते वह समाप्त हो जाएगी।

अब हम दूसरे द्वार में प्रवेश कर रहे हैं। यहां हमें सपनों की संकरी गलियों में से गुजरना होगा। आगे चलकर हम एक राजपथ पर पहुंच जाएंगे।

अब हम तीसरे द्वार में प्रवेश कर रहे हैं। ओह! कितनी भयानक घाटियां! कितने बीहड़ जंगल! ये सामने खड़े हैं भूत और प्रेत। ये जंगली जानवर मारने को आ रहे हैं। ये अजगर, ये विषधर और ये बिच्छू! कितना घोर अंधकार! हृदय को चीरने वाला अट्टहास! भयंकर चीत्कारें! कितना डरावना है यह लोक! कितनी खतरनाक है यह मंजिल!

सामने जो दीख रहा है, वह चौथा प्रवेश-द्वार है। वहां प्रकाश ही प्रकाश है, सब कुछ दिव्य ही दिव्य है। उसमें प्रवेश पाने वाला उस मंजिल पर पहुंच जाता है, जहां पहुंचने पर अन्यत्र कहीं पहुंचना शेष नहीं रहता। किन्तु इन खतरनाक घाटियों को पार किए बिना, इन भूत-प्रेतों और जंगली जानवरों का सामना किए बिना कोई भी वहां नहीं पहुंच पाता।

ये द्वार और कुछ नहीं हैं। हमारे मन की चंचलता ही द्वार हैं। उनका खुलना और कुछ नहीं है। हमारे मन की एकाग्रता ही उनका खुलना है। ये विचार और स्वप्न और कुछ नहीं हैं। हमारे संस्कारों को बाहर फेंकना ही विचार और स्वप्न हैं। ये भूत-प्रेत और जंगली जानवर और कुछ नहीं हैं। हमारे चिरकाल से अर्जित, छिपे हुए संस्कार का उन्मूलन ही भूत-प्रेत और जंगली जानवर हैं।

भगवान् महावीर के पार्श्व में होने वाले अट्टहास, हाथी और विषधर उन्हीं के द्वारा प्रताड़ित संस्कारों के प्रतिबिम्ब हैं। वे उन खतरनाक घाटियों को एक-

---

१. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २७३, २७४।

एक कर पार कर रहे हैं। आत्म-दर्शन या सत्य का साक्षात्कार करने से पूर्व प्रत्येक साधक को ये घाटियां पार करनी होती हैं।

भगवान् बुद्ध ने भी इन घाटियों को पार किया था। वे वैशाखी पूर्णिमा को ध्यान कर रहे थे। उन्हें कुछ अशान्ति का अनुभव हुआ। उस समय उन्होंने संकल्प किया—'मैं आज बोधि प्राप्त किए बिना इस आसन से नहीं उठूंगा।' जैसे-जैसे उनकी एकाग्रता आगे बढ़ी, वैसे-वैसे उनके सामने भयानक आकृतियां उभरने लगीं—जंगली जानवर, अजगर और राक्षस। इन आकृतियों ने बुद्ध को काफी कष्ट दिया। उनकी धृति अविचल रही। मन शान्त हुआ। उन्हें बोधि प्राप्त हो गई।

यह परमात्मपद तक पहुंचने की आध्यात्मिक प्रक्रिया है। अतः कोई भी महान् साधक इसका अतिक्रमण नहीं कर पाता।

२. यह साधना का दूसरा वर्ष है। भगवान् महावीर दक्षिण वाचाला से उत्तर वाचाला की ओर जा रहे हैं। उन्होंने कनकखल आश्रम के भीतर से जाने वाले मार्ग को चुना है। वे कुछ आगे बढ़े। रास्ते में ग्वाले मिले। उन्होंने कहा, 'भंते ! इधर से मत जाइए।'

'क्या यह मार्ग उत्तर वाचाला की ओर नहीं जाता ?'

'भंते ! जाता है।'

'क्या यह बाहर से जाने वाले मार्ग से सीधा नहीं है ?'

'भंते ! सीधा है।'

'फिर इस मार्ग से क्यों नहीं जाना चाहिए मुझे ?'

'भंते ! यह निरापद नहीं है।'

'किसका डर है इस मार्ग में ?'

'भंते ! इस मार्ग के पास चंडकौशिक नाम का सांप रहता है। वह दृष्टिविष है। जो आदमी उसकी दृष्टि के सामने आ जाता है, वह भस्म हो जाता है। कृपया आप वापस चलिए।'

महावीर का मन पुलकित हो गया। वे अभय और मैत्री—दोनों की कसौटी पर अपने को कसना चाहते थे। यह अवसर सहज ही उनके हाथ आ गया। उन्होंने साधना की भाषा में सोचा—'मूढ आत्मा जिसके प्रति विश्वस्त है, उससे अधिक दूसरा कोई भय का स्थान नहीं है। वह जिससे भयभीत है, उससे अधिक दूसरा कोई अभय का स्थान नहीं है।'

बेचारे ग्वाले देखते ही रह गए। महावीर के चरण आगे बढ़ गए।

महावीर का आज का स्थान-स्थल देवालय का मंडप है। वही मंडप विषधर चंडकौशिक की लीला-स्थली है। भगवान् मंडप के मध्य में कायोत्सर्ग की मुद्रा में खड़े हैं। दोनों हाथ नीचे झूल रहे हैं। उनकी अंगुलियां घुटनों को छू रही हैं।

एड़ियां सटी हुई हैं। पंजों के बीच में चार अंगुल का अन्तर है। अनिमेष चक्षु नासाग्र पर टिके हुए हैं। शरीर शिथिल, वाणी मौन, मंद श्वास और निर्विचार मन। भगवान् ध्यानकोष्ठ में पूर्णतः प्रवेश पा चुके हैं। बाह्य-जगत् और इन्द्रिय-संवेदनाओं से उनका संबन्ध विच्छिन्न हो चुका है। अब उनका विहार अन्तर्-जगत् में हो रहा है। वह जगत् ईर्ष्या, विषाद, शोक, भय आदि मानसिक दुःखों की संबाधा और सर्दी-गर्मी, विष-शस्त्र आदि शारीरिक दुःखों की संवेदना से अतीत है।

चंडकौशिक जंगल में घूमकर देवालय में आया। मंडप में प्रवेश करते ही उसने भगवान् को देखा। मंडप वर्षों से निर्जन हो चुका था। उसके परिपार्श्व में भी पैर रखने में हर आदमी सकुचाता था। फिर उसके भीतर आने और खड़े रहने का प्रश्न ही क्या ? चंडकौशिक ने आज पहली बार अपने क्रीड़ास्थल में किसी मनुष्य को देखा। वह क्षणभर स्तब्ध रह गया। दूसरे ही क्षण उसका फन उठ गया। दृष्टि विष से व्याप्त हो गई। भयंकर फुफकार के साथ उसने महावीर को देखा। तीसरे क्षण उसने खड़े व्यक्ति के गिर जाने की कल्पना के साथ उस ओर देखा। वह देखता ही रह गया कि वह व्यक्ति अभी भी खड़ा है और वैसे ही खड़ा है जैसे पहले खड़ा था। उसकी विफलता ने उसमें दुगुना क्रोध भर दिया। वह कुछ पीछे हटा। फिर वेग के साथ आगे आया और विषसंकुल दृष्टि से भगवान् को देखा। भगवान् पर उसका कोई असर नहीं हुआ। उसने तीसरी बार सूर्य के सामने देख दृष्टि को विष से भरा और वह भगवान् पर डाली। परिणाम कुछ भी नहीं हुआ। भगवान् अब भी पर्वत की भांति अप्रकंप भाव से खड़े हैं।

चंडकौशिक का क्रोध सीमा पार कर गया। वह भयंकर फुफकार के साथ आगे सरका। आरोप से उछलता हुआ फन, कोप से उफनता हुआ शरीर, विष उगलती हुई आंखें, असि-फलक की भांति चमचमाती जीभ—इन सबकी ऐसी समन्विति हुई कि रौद्र रस साकार हो गया।

चंडकौशिक भगवान् के पैरों के पास पहुंच गया। उसने सारी शक्ति लगाकर भगवान् के बाएं पैर के अंगूठे को डसा। विष ध्यान की शक्ति से अभिभूत हो गया। विषधर देखता ही रह गया। उसने दूसरी बार पैर को और तीसरी बार पैरों में लिपटकर गले को डसा। उसके सब प्रयत्न विफल हो गए। क्रोध के आवेश में वह खिन्न हो गया। बार-बार के वेग से वह थककर चूर हो गया। वह कुछ दूर जाकर भगवान् के सामने बैठ गया।

भगवान् की ध्यान-प्रतिमा सम्पन्न हुई। उन्होंने देखा चंडकौशिक अपने विशालकाय को समेटे हुए सामने बैठा है। भगवान् ने प्रशान्त और मैत्री से ओतप्रोत दृष्टि उस पर डाली। उसकी दृष्टि का विष धुल गया। उसके रोम-रोम में शान्ति और सुधा व्याप्त हो गई।

यह है अहिंसा की प्रतिष्ठा और मैत्री की विजय।

ग्वाले महावीर के पीछे-पीछे आ रहे थे। उन्होंने पेड़ पर चढ़कर दूर से सब कुछ देखा। वे आश्चर्यचकित रह गए। उन्होंने दूर-दूर तक यह संवाद पहुंचा दिया कि 'चंडकौशिक' शान्त हो गया है। कनकखल आश्रम का मार्ग अब निरापद है। हर कोई आदमी उससे आ-जा सकता है। जनता के लिए यह बहुत ही शुभसंवाद था। वह हर्षोत्फुल्ल हो गई। हजारों-हजारों आदमी वहां आए। उन्होंने देखा मंडप के मध्य में एक योगी ध्यानमुद्रा में खड़े हैं और उनके सामने विषधर प्रशान्त मुद्रा में बैठा है। जिसका नाम सुनकर लोग भय से कांपते थे, उसी विषधर के पास लोग जा रहे हैं। यह कुछ विचित्र-सा लग रहा है। उन्हें अपनी आंखों पर भरोसा नहीं हो रहा है। भगवान् महावीर पन्द्रह दिन तक वहां रहे। उनका यह प्रवास अभय और मैत्री की कसौटी, ध्यानकोष्ठ में बाह्य-प्रभाव-मुक्ति का प्रयोग, अहिंसा की प्रतिष्ठा में क्रूरता का मृदुता में परिवर्तन और जनता के भय का निवारण—इन चार निष्पत्तियों के साथ सम्पन्न हुआ।[1]

२. अभी साधना का दूसरा वर्ष चल रहा है। भगवान् सुरभिपुर से थूणाक सन्निवेश की ओर जा रहे हैं। बीच में हिलोरें लेती हुई गंगा बह रही है। भगवान् उसके तट पर उपस्थित हैं। सिद्धदत्त की नौका यात्रियों को उस पार ले जाने को तैयार खड़ी है। सिद्धदत्त भगवान् से उसमें चढ़ने के लिए आग्रह कर रहा है। भगवान् उसमें आरूढ़ हो गए हैं।

नौका गन्तव्य की दिशा में चल पड़ी। यात्री बातचीत में संलग्न हैं। महावीर अपने ही ध्यान में लीन हैं। नौका नदी के मध्य में पहुंच गई। प्रकृति ने एक नया दृश्य उपस्थित किया। आकाश बादलों से घिर गया। बिजली कौंधने लगी। गर्जारव से सब कुछ ध्वनिमय हो गया। तूफान ने तरंगों को गगनचुम्बी बना दिया। नौका डगमगाने लगी। यात्रियों के हृदय कांप उठे। इस स्थिति में भी महावीर उस नौका के एक कोने में शान्तभाव से बैठे हैं। उनका ध्यान अविचल है, मानो उन्हें प्रकृति के इस रौद्र रूप का पता ही नहीं।

भय, भय को उत्पन्न करता है, अभय, अभय को। सदृश की उत्पत्ति का जैविक सिद्धान्त मनुष्य की मानसिक वृत्तियों पर भी घटित होता है। महावीर के अभय ने प्रकृति की रुद्रता से भयभीत यात्रियों में अभय का संचार कर दिया। वे उनकी अभयमुद्रा को देख शान्त हो गए। प्रकृति का आवेग भी शान्त हो गया। नौका ने यात्रियों को तट पर पहुंचा दिया।[2] महावीर मृत्यु-भय की महानदी को पार कर अभय के तट पर पहुंच गए।

---

१. आवश्यक चूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २७७, २७९।
२. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २८०, २८१।

७

आदिवासियों के बीच

कस्तूरी घिसने को सहन नहीं करती, यदि घर्षण से उसका परिमल प्रस्फुट नहीं होता। अगरबत्ती अपनी सुरभि से सारे वायुमण्डल को सुरभित नहीं कर पाती, यदि अग्निस्नान उसे मान्य नहीं होता। अग्निताप को सहकर सोना चमक उठता है। यह हमारी दुनिया ताप और संघर्ष की दुनिया है। इसमें वही व्यक्तित्व चमकता है, जो ताप और संघर्ष को सहता है।

भगवान् अपनी चेतना में निखार लाने के लिए कृतसंकल्प हैं। ताप और संघर्ष अनुचर की भांति उनके साथ-साथ चल रहे हैं।

भगवान् उद्यान के मंडप में खड़े हैं। सामने एक तालाब है। कुछ लोग उसके जल को उलीच-उलीचकर बाहर फेंक रहे हैं। वह खाली हो गया है। यह नये जल के स्वागत की तैयारी हो रही है। पानी बरसने लगा। सांझ होते-होते जलधर उमड़ आया। भूमि का कण-कण जलमय हो गया। नाले तेजी से बहने लगे। देखते-देखते तालाब भर गया। भगवान् के मन में वितर्क हुआ—कुछ समय पूर्व तालाब खाली था, अब वह भर गया है। वह किससे भरा है? जल से। वह किसके माध्यम से भरा है? नालों के माध्यम से। यदि नाले नहीं होते तो तालाब कैसे भरता? उनका चिंतन बाहर से भीतर की ओर मुड़ गया। उनके मन में वितर्क हुआ—मनुष्य की चेतना का सरोवर किससे भरता है? संस्कार से। वह किसके माध्यम से भरता है? विचार के माध्यम से। यदि विचार नहीं होते तो मानवीय चेतना का सरोवर कैसे भरता? वितर्क करते-करते वे इस बोध की भूमिका पर पहुंच गए—यह सरोवर खाली हो सकता है, संस्कारों को उलीच-उलीचकर बाहर फेंकने से। यह सरोवर खाली हो सकता है, नालों को बन्द कर देने से।

भगवान् का चिन्तन गहरे-से-गहरे में उतर रहा है। उस समय एक पर्यटक-दल उद्यान में आ पहुंचा। वह मंडप के सामने आ खड़ा हो गया। उसने भगवान्

को देखा। एक व्यक्ति आगे बढ़ा, भगवान् के पास आया। उसने पूछा, 'तुम कौन हो?' भगवान् अपने चिन्तन में लीन थे। उसे कोई उत्तर नहीं मिला।

उसने फिर उदात्त स्वर में पूछा, 'तुम कौन हो?'

'मैं यह जानने की चेष्टा कर रहा हूं, मैं कौन हूं।'

'मैं पहेली की भाषा नहीं समझता। सीधी-सरल भाषा में बताओ—तुम कौन हो?'

'मैं भिक्षु हूं।'

'यह हमारा क्रीड़ा-स्थल है, यहां किसलिए खड़े हो?'

'जिसके लिए मैं भिक्षु बना हूं, उसी के लिए खड़ा हूं।'

'यह स्थान तुम्हें किसने दिया है?'

'यह किसी का नहीं है, इसलिए सबके द्वारा प्रदत्त है।'

'अच्छा, तुम भिक्षु हो तो हमें धर्म सुनाओ।'

'अभी मैं सत्य की खोज कर रहा हूं।'

'चलो, किसी काम का नहीं है यह भिक्षु!'—इस आक्रोश के साथ पर्यटक-दल—आगे बढ़ गया।

सूर्य पश्चिम के अंचल में चला गया। रात फिर आ गई। अंधकार सघन हो गया। उस समय एक युगल आया। बाहर से आवाज दी, 'भीतर कौन है?' कोई उत्तर नहीं आया। दूसरी बार फिर आवाज दी, 'भीतर कौन है?' कोई उत्तर नहीं मिला। तीसरी बार फिर वही आवाज और भीतर से वही मौन। वह युगल भीतर गया। उस मंडप के कोने में एक अस्पष्ट-सी छाया दिखाई दी। उसने निकट पहुंचकर देखा, कोई आदमी खड़ा है। वह रोषावेश से भर गया, 'भले आदमी! तीन बार पुकारा, फिर भी नहीं बोलते हो!' उसने अनर्गल गालियां दीं और वह चला गया।[१]

भगवान् ने सोचा, 'दूसरे के स्थान में जाकर रहना अप्रिय हो, यह आश्चर्य नहीं है। आश्चर्य यह है कि शून्य-स्थान में रहना भी अप्रिय हो जाता है। कटु वचन बोलना अप्रिय हो, यह अद्भुत नहीं है। अद्भुत यह है कि मौन रहना भी अप्रिय हो जाता है।'

'मुझे दूसरों के मन में अप्रीति उपजने का निमित्त क्यों बनना चाहिए? यह जन-संकुल स्थल है। मैं कहीं भी चला जाऊं, लोग आ पहुंचते हैं। कुछ लोग जिज्ञासा लिए आते हैं। मैं कम बोलता हूं, इससे वे चिढ़ जाते हैं। कुछ लोग एकान्त की खोज में आते हैं। मेरी उपस्थिति में उन्हें एकान्त नहीं मिलता, इसलिए वे रुष्ट हो जाते हैं। कुछ लोग कुतूहलवश आते हैं। वे कोलाहल कर विक्षेप करते हैं।

१. आयारो ९।२।११-१२; आचारांगचूर्णि, पृ० ३१६।

जब मैं अनिमिषदृष्टि से ध्यान करता हूं, तब स्थिर विस्फारित नेत्रों को देखकर बच्चे डर जाते हैं। इस स्थिति में क्या यह अच्छा नहीं होगा कि मैं आदिवासी क्षेत्रों में चला जाऊं। वहां लोग बहुत कम हैं। वहां गांव बहुत कम हैं। पहाड़ ही पहाड़ हैं और जंगल ही जंगल। वहां न मैं किसी के लिए बाधा बनूंगा और न कोई दूसरा मेरे लिए बाधा बनेगा।'

भगवान् के संकल्प और गति में कोई दूरी नहीं रह गई थी। उनका पहला क्षण संकल्प का होता और दूसरा क्षण गति का। वे एक मुक्त विहग की भांति आदिवासी क्षेत्र की ओर प्रस्थित हो गए। न किसी का परामर्श लेना, न किसी की स्वीकृति लेनी और न सौंपना था किसी को पीछे का दायित्व। जो अपना था, वह था प्रदीप। उसकी अखण्ड लौ जल रही थी। बेचारा दीवट उसके साथ-साथ घूम रहा था।

महावीर आदिवासी क्षेत्रों में कितनी बार गए? कहां घूमे? कहां रहे? कितने समय तक रहे? उन्हें वह कैसा लगा? आदिवासी लोगों ने उनके साथ कैसा व्यवहार किया? इन प्रश्नों का उत्तर पाने के लिए मैं चिरकाल से उत्सुक था। मैंने अनेक प्रयत्न किए, पर मेरी भावना की पूर्ति नहीं हुई। आखिर मैंने विचार-संप्रेषण का सहारा लिया। मैंने अपने प्रश्न महावीर के पास संप्रेषित कर दिए। मेरे प्रश्न उन तक पहुंच गए। उन्होंने उत्तर दिए, उन्हें मैं पकड़ नहीं सका।

महावीर के अनुभवों का संकलन गौतम और सुधर्मा ने किया था, यह सोच मैंने उनके साथ सम्पर्क स्थापित किया। मेरी जिज्ञासाएं उन तक पहुंच गयीं, पर उनके उत्तर मुझ तक नहीं पहुंच पाए। मैंने प्रयत्न नहीं छोड़ा। तीसरी बार मैंने अपनी प्रश्न-सूची देवर्धिगणी के पास भेजी। वहां मैं सफल हो गया। देवर्धिगणी ने मुझे बताया—'महावीर ने आदिवासी क्षेत्र के अपने अनुभव गौतम और सुधर्मा को विस्तार से बताए। उन्होंने महावीर के अनुभव सूत्रशैली में लिखे। मुझे वे जिस आकार में प्राप्त हुए, उसी आकार में मैंने उन्हें आगम-वाचना में विन्यस्त कर दिया।'

'क्या आपको उनकी विस्तृत जानकारी (अर्थ-परम्परा) प्राप्त नहीं थी?'

'अवश्य थी।'

'फिर आपने हम लोगों के लिए संकेत भर ही क्यों छोड़े?'

'इससे अधिक और क्या कर सकता था? तुम मेरी कठिनाइयों को नहीं समझ सकते। मैंने जितना लिपिबद्ध कराया, वह भी तत्कालीन वातावरण में कम नहीं था।'

मैं कठिनाइयों के विस्तार में गए बिना अपने प्रस्तुत विषय पर आ गया। मैंने कहा, 'मैं आपसे कुछ प्रश्नों का समाधान पाने की आशा कर सकता हूं?'

'क्यों नहीं ?'

मैंने एक-एक कर अपने प्रश्न प्रस्तुत किए। मेरा पहला प्रश्न था, 'महावीर आदिवासी क्षेत्रों में कितनी बार गए ?'

'दो बार गए।'

'किस समय ?'

'पहली बार साधना के पांचवें वर्ष में और दूसरी बार नवें वर्ष में।'[1]

'किस प्रदेश में घूमे ?'

'लाट देश के वज्रभूमि और सुम्हभूमि—इन दो प्रदेशों में।'[2]

'कहां रहे ?'

'कभी पर्वत की कंदराओं में, कभी खंडहरों में और बहुत बार पेड़ों के नीचे।'

'तब तो उन्हें काफी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा होगा ?'

'क्या पूछते हो, वह पर्वताकीर्ण प्रदेश है। वहां सर्दी, गर्मी और वर्षा—तीनों बहुत होती हैं।'

'क्या भगवान् तीनों ऋतुओं में वहां रहे हैं ?'

'भगवान् का पहला विहार हुआ तब सर्दी का मौसम था। दूसरे विहार में गर्मी और वर्षा—दोनों ऋतुओं ने उनका आतिथ्य किया।'

'क्या उनका पहला प्रवास दूसरे प्रवास से छोटा था ?'

'दूसरा प्रवास छह मास का था।' पहला प्रवास दो-तीन मास से अधिक नहीं रहा।'[3]

'आदिवासी लोगों का व्यवहार कैसा रहा ?'

'उस प्रदेश में तिल नहीं होते थे। गाएं भी बहुत कम थीं। जो थीं, उनके भी दूध बहुत कम होता था। वहां कपास नहीं होती थी। आदिवासी घास के प्रावरण ओढ़ते-पहनते थे। उनका भोजन रूखा था—घी और तेल से रहित। वहां के किसान प्रातःकालीन भोजन में अम्लरस के साथ ठंडा भात खाते थे। उसमें नमक नहीं होता था। मध्याह्न के भोजन में वे रूखे चावल और मांस खाते थे। इस रूक्ष भोजन के कारण वे बहुत क्रोधी थे। बात-बात पर लड़ते-झगड़ते रहते थे। गाली देना और मारना-पीटना उनके लिए सहज कर्म जैसा था।'[4] भगवान् एक गांव में जा रहे थे। ग्रामवासी लोगों ने कहा, 'नग्न! तुम किसलिए हमारे गांव में आ

---

१. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २९०, २९६।
२. आयारो, ९।३।२।
३. आचारांगचूर्णि, पृ० ३१८; आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २९६; आचारांगवृत्ति, पत्र २८०।
४. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २९०।
५. आचारांगचूर्णि, पृ० ३१८, ३१९।

रहे हो ? वापस चले जाओ।' भगवान् वापस चले आए।[1]

भगवान् एक गांव में गए। वहां किसी ने ठहरने को स्थान नहीं दिया। वे वापस जंगल में जा पेड़ के नीचे ठहर गए।[2]

'आप क्षमा करेंगे, मैं बीच में ही एक बात पूछ लेता हूं—भगवान् एकान्तवास के लिए वहां गए, फिर उन्हें क्या आवश्यकता थी गांव में जाने की ?'

'भगवान् आहार-पानी लेने के लिए गांव में जाते थे। छह मासिक प्रवास में वे वर्षावास बिताने के लिए गांव में गए। कहीं भी कोई स्थान नहीं मिला। उन्होंने वह वर्षावास इधर-उधर घूमकर, पेड़ों के नीचे, बिताया।[3] कभी-कभी आदिवासी लोग रुष्ट होकर उन्हें शारीरिक यातना भी देते थे।'

'क्या उस पर्वतीय प्रदेश में भगवान् को जंगली जानवरों का कष्ट नहीं हुआ ?'

'मुझे नहीं मालूम कि उन्हें सिंह-बाघ का सामना करना पड़ा या नहीं, किन्तु यह मुझे मालूम है कि कुत्तों ने उन्हें बहुत सताया। वहां कुत्ते बड़े भयानक थे। पास में लाठी होने पर भी वे काट लेते थे। भगवान् के पास न लाठी थी और न नालिका। उन्हें कुत्ते घेर लेते और काटने लग जाते। कुछ लोग छू-छूकर कुत्तों को बुलाते और भगवान् को काटने के लिए उन्हें इंगित करते। वे भगवान् पर झपटते, तब आदिवासी लोग हर्ष से झूम उठते। कुछ लोग भले भी थे। वे वहां जाकर कुत्तों को दूर भगा देते थे।[4]

एक बार भगवान् पूर्व दिशा की ओर मुंह कर खड़े-खड़े सूर्य का आतप ले रहे थे। कुछ लोग आए। सामने खड़े हो गए। भगवान् ने उनकी ओर नहीं देखा। वे चिढ़ गए। वे हूं-हूं कर भगवान् पर थूककर चले गए। भगवान् शान्त खड़े रहे। वे परस्पर कहने लगे, 'अरे ! यह कैसा आदमी है, थूकने पर भी क्रोध नहीं करता, गालियां नहीं देता।'

एक बोला, 'देखो, मैं अब इसे गुस्से में लाता हूं।'

वह धूल लेकर आया। भगवान् की आंखें अधखुली थीं। उसने भगवान् पर धूल फेंकी। भगवान् ने न आंखें मूंदीं और न क्रोध किया। उसका प्रयत्न विफल हो गया। उसने क्रुद्ध होकर भगवान् पर मुष्टि-प्रहार किया। फिर भी भगवान् की शान्ति भंग नहीं हुई। उसने ढेले फेंके। हड्डियां फेंकीं। आखिर भाले से प्रहार किया। लोग खड़े-खड़े चिल्लाने लगे। भगवान् वैसे ही मौन और शान्त थे। उनकी मुद्रा से प्रसन्नता टपक रही थी। वह बोला, 'चलो, चलें। यह कोई आदमी नहीं

---

१. आचारांगचूर्णि, पृ० ३२०।
२. आयारो, ९।३।८; अचारांगचूर्णि, पृ० ३१९।
३. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २९६।
४. आयारो, ९।३।३-६।

है। यदि आदमी होता तो जरूर गुस्से में आ जाता।"

एक बार भगवान् पर्वत की तलहटी में ध्यान कर रहे थे। वे पद्मासन लगाकर बैठे थे। कुछ लोग जंगल में काम करने के लिए जा रहे थे। उन्होंने भगवान् को बैठे हुए देखा। वे उस मुद्रा में बैठे आदमी को पहली बार देख रहे थे। वे कुतूहलवश खड़े हो गए। घंटा भर खड़े रहे। भगवान् तनिक भी इधर-उधर नहीं डोले। वे असमंजस में पड़ गए। यह कौन है, कोई आदमी है या और कुछ? एक आदमी आगे बढ़ा। उसने जाकर धक्का दिया। भगवान् लुढ़क गए। भगवान् फिर पद्मासन लगा ध्यान में स्थिर हो गए। वे भद्रप्रकृति के आदमी थे। भगवान् की प्रशान्त मुद्रा देख उनका शान्तभाव जागृत हो गया। वे भगवान् के निकट आए, पैरों में प्रणत होकर बोले, 'हमने आपको कष्ट दिया है। आप हमें क्षमा करना।"

'क्या भगवान् आदिवासी लोगों से बातचीत करते थे?' मैंने पूछा।

देवर्धिगणी ने कहा, 'भगवान् बातचीत करने में रस नहीं लेते थे। उनका रस सब विषयों से सिमटकर केवल सत्य की खोज में ही केन्द्रित हो रहा था। अपरिचित चेहरा देखकर कुछ लोग भगवान् के पास आकर बैठ जाते। वे पूछते—'तुम कौन हो?'

'मैं भिक्षु हूं।'

'कहां से आए हो?'

'वैशाली से यहां आया हूं।'

'यहां किसलिए आए हो?'

'एकान्तवास के लिए।'

एक-दो प्रश्न का उत्तर दे भगवान् फिर मौन हो जाते। वे लोग आश्चर्यपूर्ण दृष्टि से उन्हें देखते रहते। कुछ दूसरे लोग चले जाते। वे मखौल की भाषा में कहते—नग्न और अर्धनग्न लोगों की कैसी जोड़ी मिली है!'

'आदिवासियों के अप्रिय व्यवहार पर भगवान् क्या सोचते थे।'

'भगवान् सत्यद्रष्टा थे। वे जानते थे कि मनुष्य की वृत्तियों का परिष्कार हुए बिना वह अप्रिय, अशिष्ट और उच्छृंखल व्यवहार करता है। इसलिए आदिवासी लोगों के व्यवहार पर उन्हें कोई आश्चर्य नहीं हुआ।'

भगवान् अहिंसा के महास्रोत थे। उन्होंने अपनी वृत्तियों को मैत्री की भावना से भावित किया था। वे मनुष्य को अपनी दृष्टि से देखते थे। उनकी दृष्टि सामने आने वाले व्यवहार से प्रतिबिम्बित नहीं होती थी। इसलिए आदिवासी लोगों के

प्रति उनके मन में वही प्रेम प्रवाहित था, जिसका प्रवाह हर प्राणी को आप्लावित किए हुए था।'

'लम्बा प्रवास और कष्टपूर्ण यात्रा—इस स्थिति में भगवान् को कभी-कभी खिन्नता का अनुभव हुआ होगा?'

'कभी नहीं। उनकी मुद्रा निरंतर प्रसन्न रहती थी।'

'क्या प्रसन्नता का हेतु परिस्थिति नहीं है?'

'यह मैं कैसे कहूं कि नहीं है और यह भी कैसे कहूं कि वही है। जो प्रसन्नता अनुकूल परिस्थिति से प्राप्त होती है, वह प्रतिकूल परिस्थिति से ध्वस्त हो जाती है। किन्तु भावना के बल से प्राप्त प्रसन्नता परिस्थिति के वात्याचक्र से प्रताड़ित नहीं होती।'

'भंते! भगवान् ने इतने कष्ट कैसे सहे?'

'एक आदमी समुद्र में तैर रहा था। दूसरा तट पर खड़ा था। तैराक ने डुबकी लगाई। तट पर खड़े आदमी ने सोचा—तैराक इतना जलभार कैसे सहता है? वह नहीं जानता था कि मुक्त जल का भार नहीं लगता। जल-भरा घट सिर पर रखने पर भार की अनुभूति होती है। यह बन्धन की अनुभूति है। शरीर के घट में बंधी हुई चेतना को कष्ट का अनुभव होता है। ध्यान-काल में वह समुद्र-जल की भांति बंधन-मुक्त हो जाती है। फिर शरीर पर जो कुछ बीतता है, उसका अनुभव नहीं होता। ध्यान के तट पर खड़े होकर तुम सोचते हो कि भगवान् ने इतने कष्ट कैसे सहे?'

इस समाधान ने मुझे यथार्थ के जगत् में पहुंचा दिया। अब मेरे कानों में ध्यान-कोष्ठ की महिमा का वह स्वर गूंजने लगा—

प्रलय पवन संवलित शीत भी,
जहां चंक्रमण नहीं कर पाता।
प्रखरपवन प्रेरित ज्वालाकुल,
प्रज्वल हुतवह नहीं सताता।
पूर्णलोकचारी कोलाहल,
जहां नहीं बाधा पहुंचाता।
ध्यानकोष्ठ की उस संरक्षित,
वेदी का हूं मैं उद्गाता।

इस स्वर की हजारों प्रतिध्वनियों में मेरे सब प्रश्न विलीन हो गए।

8

क्या मैं चक्रवर्ती नहीं हूं?

पुष्य' उस समय का प्रसिद्ध सामुद्रिक था। उसका ज्ञान अचूक था। दूर-दूर के लोग उसके पास अपना भविष्य जानने के लिए आते थे। उसे अपनी सफलता पर गर्व था। एक दिन वह घूमता-घूमता गंगा के तट पर पहुंचा। उसने वहां तत्काल अंकित चरणचिह्न देखे। वह आश्चर्य के सागर में डूब गया।

'ये किसके चरण हैं?' उसने मन-ही-मन इसे दो-चार बार दोहराया—'जिसके ये चरण-चिह्न हैं, वह कोई साधारण आदमी नहीं है, वह कोई साधारण राजा नहीं है, वह चक्रवर्ती होना चाहिए। चक्रवर्ती और अकेला, यह कैसे? चक्रवर्ती और पदयात्री, यह कैसे? चक्रवर्ती और नंगे पैर, यह कैसे? कहीं मैं स्वप्न तो नहीं देख रहा हूं?' वह सन्देह के सागर में डूब गया।

वह चरण-चिह्नों के पास जाकर बैठा। गहरी तन्मयता और सूक्ष्मता से उन्हें देखा। 'मैं स्वप्न में नहीं हूं'—उसे अपने पर भरोसा हो गया। उसके मन में चिन्तन हुआ—यदि सामुद्रिक-शास्त्र सच्चा है और मैंने श्रद्धा के साथ उसे अपने गुरु से पढ़ा है तो निश्चित ही यह व्यक्ति चक्रवर्ती होना चाहिए। यदि यह चक्रवर्ती नहीं है तो सामुद्रिक-शास्त्र झूठा है। उसे मैं गंगा की जल-धारा में बहा दूंगा और मैं इस निष्कर्ष पर आ जाऊंगा कि मेरे गुरु ने मुझे वह शास्त्र पढ़ाया, जिसकी प्रामाणिकता आज कसौटी पर खरी नहीं उतरी।

वह चरण-चिह्नों का अनुसरण करते-करते धूणाक सन्निवेश के पास पहुंच गया। उसने देखा, सामने एक व्यक्ति ध्यान मुद्रा में खड़ा है। ये चरण-चिह्न इसी व्यक्ति के हैं। वह भगवान् के सामने जाकर खड़ा हो गया। शरीर पर एक अर्थभरी दृष्टि डाली—पैर से सिर तक। वह फिर आश्चर्य में खो गया। इनके शरीर

के लक्षण बतलाते हैं कि यह चक्रवर्ती है और इसकी स्थिति से प्रकट होता है कि यह पदयात्री भिक्षु है। वह कुछ देर तक दिग्भ्रांत-सा खड़ा रहा। भगवान् ध्यान से विरत हुए। पुष्य अभिवादन कर बोला, 'भंते ! आप अकेले कैसे ?'

'इस दुनिया में जो आता है, वह अकेला ही आता है और अकेला ही चला जाता है, दूसरा कौन साथ देता है ?'

'नहीं, भंते ! मैं तत्त्व की चर्चा नहीं कर रहा हूं। मैं व्यवहार की बात कर रहा हूं।'

'व्यवहार की भूमिका पर मैं अकेला कहां हूं ?'

'भंते ! आप परिवार-विहीन होकर भी अकेले कैसे नहीं हैं ?'

'मेरा परिवार मेरे साथ है।'

'कहां है भंते ! यही जानना चाहता हूं।'

'संवर (निर्विकल्प ध्यान) मेरा पिता है। अहिंसा मेरी माता है। ब्रह्मचर्य मेरा भाई है। अनासक्ति मेरी बहन है। शांति मेरी प्रिया है। विवेक मेरा पुत्र है। क्षमा मेरा पुत्री है। उपशम मेरा घर है। सत्य मेरा मित्र-वर्ग है। मेरा पूरा परिवार निरंतर मेरे साथ घूम रहा है, फिर मैं अकेला कैसे ?'

'भंते ! मुझे पहेली में मत उलझाइए। मैं अपने मन की उलझन आपके सामने रखता हूं, उस पर ध्यान दें। आपके शरीर के लक्षण आपके चक्रवर्ती होने की सूचना देते हैं और आपकी चर्या साधारण व्यक्ति होने की सूचना दे रही हैं। मेरे सामने आज तक के अर्जित ज्ञान की सचाई का प्रश्न है, जीवन-मरण का प्रश्न है। इसे आप सतही प्रश्न मत समझिए।'

'पुष्य ! बताओ, चक्रवर्ती कौन होता है ?'

'भंते ! जिसके आगे-आगे चक्र चलता है।'

'चक्रवर्ती कौन होता है ?'

'भंते ! जिसके पास बारह योजन में फैली हुई सेना को त्राण देने वाला छत्र-रत्न होता है।'

'चक्रवर्ती कौन होता है ?'

'भंते ! जिसके पास चर्मरत्न होता है, जिससे प्रातःकाल बोया हुआ बीज शाम को पक जाता है।'

'पुष्य ! तुम ऊपर, नीचे, तिरछे—कहीं भी देखो, धर्म का चक्र मेरे आगे-आगे चल रहा है। आचार मेरा छत्ररत्न है, जो समूची मानव-जाति को एक साथ त्राण देने में समर्थ है। भावना योग मेरा चर्मरत्न है। उसमें जिस क्षण बीज बोया जाता है, उसी क्षण वह पक जाता है। क्या मैं चक्रवर्ती नहीं हूं ? क्या तुम्हारे

सामुद्रिक-शास्त्र में धर्म-चक्रवर्ती का अस्तित्व नहीं है ?'

'भंते ! बहुत अच्छा। मेरा सन्देह निवृत्त हो गया है। अब मैं स्वस्थ होकर जा रहा हूं।'

भगवान् राजगृह की ओर चल पड़े। पुष्य जिस दिशा से आया था उसी दिशा में लौट गया।'

९

ध्यान की व्यूह-रचना

महावीर का चक्रवर्तित्व प्रस्थापित होता जा रहा है। उनका स्वतंत्रता का अभियान प्रतिदिन गतिशील हो रहा है। चक्रवर्ती दूसरों को पराजित कर स्वयं विजयी होता है, दूसरों को परतंत्र कर स्वयं स्वतंत्र होता है। धर्म का चक्रवर्ती ऐसा नहीं करता। उसकी विजय दूसरों की पराजय पर और उसकी स्वतंत्रता दूसरों की परतंत्रता पर निर्भर नहीं होती।

महावीर विजय प्राप्त कर रहे हैं—किसी व्यक्ति पर नहीं, किन्तु नींद पर, भूख पर, और शरीर की चंचलता पर।

महावीर विजय प्राप्त कर रहे हैं—किसी व्यक्ति पर नहीं, किन्तु अहं पर, ममत्व पर और मन की चंचलता पर।

निद्रा-विजय

नींद जीवन का अनिवार्य अंग है। महावीर को शरीर-शास्त्रीय नियम के अनुसार छह घंटा नींद लेनी चाहिए। पर वे इस नियम का अतिक्रमण कर रहे हैं। वे महीनों तक निरंतर जागते रहते हैं। उनके सामने एक ही कार्य है—ध्यान, ध्यान और निरंतर ध्यान।

जागृति की अवस्था में मनुष्य बाहर से जागृत और भीतर से सुप्त रहता है। तन्द्रा की अवस्था में मनुष्य न पूर्णतः जागृत रहता है और न पूर्णतः सुप्त ही। सुषुप्ति में मनुष्य बाहर से भी सुप्त रहता है और भीतर से भी। आत्म-जागृति (तूर्या) में मनुष्य बाहर से सुप्त और भीतर में जागृत रहता है। इस अवस्था में वह स्वप्न या संस्कारों का दर्शन करता है।

गाढ़ आत्म-जागृति में मनुष्य बाहर से सुप्त और भीतर से जागृत रहता है। इस अवस्था में चित्त शांत और संकल्प-विकल्प से विहीन हो जाता है।

वे नींद पर विजय पा लेते थे। भगवान् बहुत कम खाते थे। कायोत्सर्ग बहुत करते थे। इसलिए उन्हें सहज ही नींद कम आती थी। सहज समाधि में प्राप्त तृप्ति नींद की आवश्यकता को बहुत ही कम कर देती थी इसलिए पूर्ति की अपेक्षा ही नहीं रहती।'

'भगवान् के स्वप्न-दर्शन की कोई घटना ज्ञात नहीं है ?'

'नहीं, क्यों ?'

'तो मैं जानना चाहता हूं।'

'भगवान् महावीर शूलपाणि यक्ष के चैत्य में ध्यान कर रहे थे।[1] रात के पिछले पहर में (सूर्योदय में मुहूर्त्त भर बाकी था, उस समय) भगवान् को नींद आ गयी। उसमें उन्होंने दस स्वप्न देखे—

१. ताल पिशाच पराजित हो गया है।
२. श्वेत पंखवाला बड़ा पुंस्कोकिल।
३. चित्र-विचित्र पंखवाला पुंस्कोकिल।
४. रत्नमय दो मालाएं।
५. श्वेत गोवर्ग।
६. कुसुमित पद्मसरोवर।
७. कल्लोलित समुद्र भुजाओं से तीर्ण हो गया है।
८. तेज से प्रज्वलित सूर्य।
९. मानुषोत्तर पर्वत अपनी आंतों से आवेष्टित हो गया है।
१०. मेरु पर्वत की चूलिका के सिंहासन पर अपनी उपस्थिति।

—ये स्वप्न देखकर भगवान् प्रतिबुद्ध हो गए।[2]

'संस्कार-दर्शन की घटनाएं क्या ज्ञात हैं ?'

'ये अनेक बार घटित हुई हैं। शूलपाणि यक्ष की घटना तुम सुन चुके हो। कटपूतना व्यन्तरी और संगम देव की घटना क्या संस्कार-दर्शन की घटना नहीं हैं ?'

साधना का पांचवां वर्ष चालू है। भगवान् ग्रामाक सन्निवेश से शालीशीर्ष आ रहे हैं। उसके बाहर एक उद्यान है। भगवान् उसमें आकर ध्यानस्थ हो गए हैं। माघ का महीना है। भयंकर सर्दी पड़ रही है। ठंडी हवा चल रही है। आकाश कुहासे से भरा हुआ है। सारा वातावरण कांप रहा है। हर प्राणी ऊष्मा और ताप की खोज में है।

भगवान् का शरीर विवस्त्र है। वे आत्मबल और योगबल से उस सर्दी में

---

1. साधना का पहला वर्ष। स्थान—अस्थिकग्राम (पूर्वनाम वर्द्धमान ग्राम)।
2. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २७४।

अप्रकम्प खड़े हैं। उसी समय वहां एक व्यन्तरी आयी। उसका नाम था कटपूतना। भगवान् को देखते ही उसका क्रोध उभर गया। उसने एक परिव्राजिका का रूप धारण किया। बिखरी हुई जटा में जल भरकर उसे भगवान् पर फेंका। भगवान् इस घटना से विचलित नहीं हुए। इस समय भगवान् को लोकावधि (लोकवर्ती समस्त मूर्त द्रव्यों को जानने वाला अतीन्द्रिय) ज्ञान उपलब्ध हुआ।'

भगवान् महावीर अव्याहतगति से अपने लक्ष्य की ओर आगे बढ़ रहे हैं। उनका पथ अबाध नहीं है। इस द्वन्द्व की दुनिया में क्या किसी का भी पथ अबाध होता है? जिसकी मंजिल लम्बी है, उसे कहीं समतल मिलता है, कहीं गढ़े और कहीं पहाड़। पर जिसके पैर मजबूत होते हैं, उनकी गति बाधित नहीं होती। वह उन सबको पार कर जाता है।

साधना के आठवें वर्ष में एक बार संस्कारों ने भयंकर तूफान का रूप धारण कर लिया। यह घटना उस समय की है जब भगवान् बहुसालक गांव के सालवन उद्यान में ध्यान कर रहे थे। भगवान् की जागरूकता से वह तूफान थोड़े में ही शान्त हो गया।

साधना के ग्यारहवें वर्ष में संस्कारों ने फिर भयंकर आक्रमण किया। वह उनका अन्तिम प्रयत्न था। भगवान् संस्कारों पर तीव्र प्रहार कर रहे थे। इसलिए उन्होंने भी अपनी सुरक्षा में सारी शक्ति लगा दी।

पेढाल गांव। पेढाल उद्यान। पोलास चैत्य। तीन दिन का उपवास। भगवान् शिलापट्ट पर कुछ आगे की ओर झुककर खड़े हैं। कायोत्सर्ग की मुद्रा है। ध्यान की लीनता बढ़ रही है। दोनों हाथ घुटनों को छू रहे हैं। आंखें लक्ष्य पर केन्द्रित हैं। रात्रि की वेला है। चारों ओर अन्धकार का साम्राज्य है।

भगवान् को अनुभव हो रहा है कि प्रलयवात उपस्थित है। धूलि की भीषण वृष्टि हो रही है। शरीर का रोम-रोम उससे भर गया है, ढक गया है। भगवान् प्रकम्पित नहीं। धूलि की वर्षा समाप्त हो रही है और तीखे मुंहवाली चींटियां शरीर को नोच रही हैं। भगवान् फिर भी शान्त हैं।

ली। एक ही क्षण में भगवान् के सामने त्रिशला और सिद्धार्थ उपस्थित हो गए। वे करुण स्वर में बोले, 'कुमार! इस बुढ़ापे में हमें छोड़कर तुम कहां आ गए? चलो, एक वार फिर अपने घर की ओर। देखो, तुम्हारे बिना हमारी कैसी दयनीय दशा हो गयी है?' उन्होंने करुणा के तीखे-तीखे वाण फेंके, फिर भी भगवान् का मन विंध नहीं पाया।

त्रिशला और सिद्धार्थ जैसे ही उस रंगमंच से ओझल हुए, वैसे ही एक अप्सरा वहां उपस्थित हो गई। उसके मोहक हाव-भाव, विलास और विभ्रम जल-ऊर्मी की भांति वातावरण में हल्का-सा प्रकंपन पैदा कर रहे थे। उसकी मंथर गति और मंद-मृदु मुस्कान वायुमंडल में मादकता भर रही थी। उसके नेउर के घूंघरु बरबस सबका ध्यान अपनी ओर खींच रहे थे। किन्तु भगवान् पर उसके जादू का कोई प्रभाव नहीं हुआ।

और भी न जाने कितने बवंडर आए और अपनी गति से चले गए। भगवान् के ध्यान का कवच इतना सुदृढ़ था कि वे उसे भेद नहीं पाए। यह नवनीत इतना गाढ़ा था कि कोई भी आंच उसे पिघाल नहीं पाई। सारे बादल फट गए। आकाश निरभ्र हो गया और सूरज अपनी असंख्य रश्मियों को लिये हुए विजय की लालिमा से फिर प्रदीप्त हो उठा।[१]

भूख-विजय

भगवान् महावीर दीर्घ-तपस्वी कहलाते हैं। उन्होंने वड़ी-बड़ी तपस्याएं की हैं। उनका साधनाकाल साढ़े वारह वर्ष और एक पक्ष का है। इस अवधि में उनकी उपवास-तालिका यह है—

- दो दिन का उपवास — वारह वार।
- तीन दिन का उपवास — दो सौ उन्नीस बार।
- पाक्षिक उपवास — वहत्तर वार।
- एक मास का उपवास — वारह वार।
- डेढ़ मास का उपवास — दो वार।
- दो मास का उपवास — छह वार।
- ढाई मास का उपवास — दो वार।
- तीन मास का उपवास — दो वार।
- चार मास का उपवास — नौ वार।
- पांच मास पचीस दिन का उपवास — एक वार।
- छह मास का उपवास — एक वार।

---

१. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० ३०४, ३०५।

- भद्रप्रतिमा—दो उपवास — एक बार।
- महाभद्रप्रतिमा—चार उपवास — एक बार।
- सर्वतोभद्रप्रतिमा—दस उपवास — एक बार।

भगवान् ने साधनाकाल में सिर्फ तीन सौ पचास दिन भोजन किया, निरन्तर भोजन कभी नहीं किया। उपवासकाल में जल कभी नहीं पिया। उनकी कोई भी तपस्या दो उपवास से कम नहीं थी।'

'भगवान् की साधना के दो अंग हैं—उपवास और ध्यान। हमने भगवान् की उस मूर्ति का निर्माण किया है, जिसने उपवास किए थे। जिसने ध्यान किया था, उस मूर्ति के निर्माण में हमने उपेक्षा बरती है। इसीलिए जनता के मन में भगवान् का दीर्घ-तपस्वी रूप अंकित है। उनकी ध्यान-समाधि से वह परिचित नहीं है।'

'भगवान् इतने ध्यान-लीन थे, फिर लम्बे उपवास किसलिए किए?'

'उन दिनों दो धाराएं चल रही थीं। कुछ दार्शनिक शरीर और चैतन्य में अभेद प्रस्थापित कर रहे थे। कुछ दार्शनिक उनमें भेद की प्रस्थापना कर रहे थे। महावीर भेद के सिद्धान्त को स्वीकार कर उसके प्रयोग में लगे हुए थे। वे यह सिद्ध करना चाहते थे कि स्थूल शरीर की तुलना में सूक्ष्म शरीर और सूक्ष्म शरीर की तुलना में मन और मन की तुलना में आत्मा की शक्ति असीम है। उनकी लम्बी तपस्या उस प्रयोग की एक धारा थी। यह माना जाता है कि मनुष्य पर्याप्त भोजन किए बिना, जल पिए बिना बहुत नहीं जी सकता और श्वास लिये बिना तो जी ही नहीं सकता। किन्तु भगवान् ने छह मास तक भोजन और जल को छोड़कर यह प्रमाणित कर दिया कि आत्मा का सान्निध्य प्राप्त होने पर स्थूल शरीर की अपेक्षाएं बहुत कम हो जाती हैं। जीवन में नींद, भूख, प्यास और श्वास का स्थान गौण हो जाता है।'

ली। एक ही क्षण में भगवान् के सामने त्रिशला और सिद्धार्थ उपस्थित हो गए। वे करुण स्वर में बोले, 'कुमार! इस बुढ़ापे में हमें छोड़कर तुम कहां आ गए? चलो, एक बार फिर अपने घर की ओर। देखो, तुम्हारे बिना हमारी कैसी दयनीय दशा हो गयी है?' उन्होंने करुणा के तीखे-तीखे बाण फेंके, फिर भी भगवान् का मन विंध नहीं पाया।

त्रिशला और सिद्धार्थ जैसे ही उस रंगमंच से ओझल हुए, वैसे ही एक अप्सरा वहां उपस्थित हो गई। उसके मोहक हाव-भाव, विलास और विभ्रम जल-ऊर्मी की भांति वातावरण में हल्का-सा प्रकंपन पैदा कर रहे थे। उसकी मंथर गति और मंद-मृदु मुस्कान वायुमंडल में मादकता भर रही थी। उसके नेउर के घूंघरु बरबस सबका ध्यान अपनी ओर खींच रहे थे। किन्तु भगवान् पर उसके जादू का कोई प्रभाव नहीं हुआ।

और भी न जाने कितने बवंडर आए और अपनी गति से चले गए। भगवान् के ध्यान का कवच इतना सुदृढ़ था कि वे उसे भेद नहीं पाए। यह नवनीत इतना गाढ़ा था कि कोई भी आंच उसे पिघाल नहीं पाई। सारे बादल फट गए। आकाश निरभ्र हो गया और सूरज अपनी असंख्य रश्मियों को लिये हुए विजय की लालिमा से फिर प्रदीप्त हो उठा।[1]

भूख-विजय

भगवान् महावीर दीर्घ-तपस्वी कहलाते हैं। उन्होंने बड़ी-बड़ी तपस्याएं की हैं। उनका साधनाकाल साढ़े बारह वर्ष और एक पक्ष का है। इस अवधि में उनकी उपवास-तालिका यह है—

- दो दिन का उपवास — बारह बार।
- तीन दिन का उपवास — दो सौ उन्नीस बार।
- पाक्षिक उपवास — बहत्तर बार।
- एक मास का उपवास — बारह बार।
- डेढ़ मास का उपवास — दो बार।
- दो मास का उपवास — छह बार।
- ढाई मास का उपवास — दो बार।
- तीन मास का उपवास — दो बार।
- चार मास का उपवास — नौ बार।
- पांच मास पचीस दिन का उपवास — एक बार।
- छह मास का उपवास — एक बार।

---

१ आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० ३०४, ३०५।

- भद्रप्रतिमा—दो उपवास — एक बार।
- महाभद्रप्रतिमा—चार उपवास — एक बार।
- सर्वतोभद्रप्रतिमा—दस उपवास — एक बार।

भगवान् ने साधनाकाल में सिर्फ तीन सौ पचास दिन भोजन किया, निरन्तर भोजन कभी नहीं किया। उपवासकाल में जल कभी नहीं पिया। उनकी कोई भी तपस्या दो उपवास से कम नहीं थी।[1]

'भगवान् की साधना के दो अंग हैं—उपवास और ध्यान। हमने भगवान् की उस मूर्ति का निर्माण किया है, जिसने उपवास किए थे। जिसने ध्यान किया था, उस मूर्ति के निर्माण में हमने उपेक्षा बरती है। इसीलिए जनता के मन में भगवान् का दीर्घ-तपस्वी रूप अंकित है। उनकी ध्यान-समाधि से वह परिचित नहीं है।'

'भगवान् इतने ध्यान-लीन थे, फिर लम्बे उपवास किसलिए किए?'

'उन दिनों दो धाराएं चल रही थीं। कुछ दार्शनिक शरीर और चैतन्य में अभेद प्रस्थापित कर रहे थे। कुछ दार्शनिक उनमें भेद की प्रस्थापना कर रहे थे। महावीर भेद के सिद्धान्त को स्वीकार कर उसके प्रयोग में लगे हुए थे। वे यह सिद्ध करना चाहते थे कि स्थूल शरीर की तुलना में सूक्ष्म शरीर और सूक्ष्म शरीर की तुलना में मन और मन की तुलना में आत्मा की शक्ति असीम है। उनकी लम्बी तपस्या उस प्रयोग की एक धारा थी। यह माना जाता है कि मनुष्य पर्याप्त भोजन किए विना, जल पिए बिना बहुत नहीं जी सकता और श्वास लिये बिना तो जी ही नहीं सकता। किन्तु भगवान् ने छह मास तक भोजन और जल को छोड़कर यह प्रमाणित कर दिया कि आत्मा का सान्निध्य प्राप्त होने पर स्थूल शरीर की अपेक्षाएं बहुत कम हो जाती हैं। जीवन में नींद, भूख, प्यास और श्वास का स्थान गौण हो जाता है।'

'तो मैं यह समझूं कि भगवान् को भूख लगनी बन्द हो गई?'

'यह सर्वथा गलत है। वे रुग्ण नहीं थे, तब यह कैसे समझा जाए कि उन्हें भूख लगनी बन्द हो गई।'

'तो फिर यह समझूं कि भगवान् भूख का दमन करते रहे, उसे सहते रहे?'

'यह भी सही समझ नहीं है।'

'सही समझ फिर क्या है?'

'भगवान् आत्मा के ध्यान में इतने तन्मय हो जाते थे कि उनकी भूख-प्यास की अनुभूति क्षीण हो जाती थी।'

'क्या ऐसा हो सकता है?'

---

१. आवश्यकनिर्युक्ति दीपिका, पत्र १०७, १०८

'नहीं क्यों ? महर्षि पतंजलि का अनुभव है कि कंठकूप में संयम करने से भूख और प्यास निवृत्त हो जाती है।'

'कंठकूप का अर्थ ?'

'जिह्वा के नीचे तन्तु हैं। तन्तु के नीचे कंठ है। कंठ के नीचे कूप है।'

'संयम का अर्थ ?'

'धारणा, ध्यान और समाधि—इन तीनों का नाम संयम है। जो व्यक्ति कंठ-कूप पर इन तीनों का प्रयोग करता है, उसे भूख और प्यास बाधित नहीं करती।'

भगवान् ने शरीर को सताने के लिए भूख-प्यास का दमन नहीं किया। उनके ध्यानवल से उसकी मात्रा कम हो गई।

स्वाद-विजय

भगवान् भोजन के विषय में बहुत ध्यान देते थे। वे शरीर-संधारण के लिए जितना अनिवार्य होता, उतना ही खाते थे। कुछ लोग रुग्ण होने पर कम खाते हैं। भगवान् स्वस्थ थे, फिर भी कम खाते थे। उनकी ऊनोदरिका के तीन आलंबन थे—सीमित वार खाना, परिमित मात्रा में खाना और परिमित वस्तुएं खाना।

'क्या भगवान् ने अस्वाद के प्रयोग किए थे ?'

'भगवान् जीवन के हर क्षेत्र में समत्व का प्रयोग कर रहे थे। वह भोजन के क्षेत्र में भी चल रहा था। उनके अस्वाद के प्रयोग समत्व के प्रयोग से भिन्न नहीं थे।'

'क्या वे स्वादिष्ट भोजन नहीं करते थे ?'

'करते थे। भगवान् दीक्षा के दूसरे दिन कर्मारग्राम से विहार कर कोल्लाग सन्निवेश पहुंचे। वहां वहुल नाम का ब्राह्मण रहता था। भगवान् उसके घर गए। उसने भगवान् को घृत-शर्करायुक्त परमान्न (खीर) का भोजन दिया।[1]

'भगवान् उत्तर वाचाला में विहार कर रहे थे।[2] वहां नागसेन नाम का गृहपति रहता था। भगवान् उसके घर पर गए। उसने भगवान् को खीर का भोजन दिया।'[3]

'क्या वे नीरस भोजन नहीं लेते थे ?'

'लेते थे। भगवान् सुवर्णखल से ब्राह्मण गांव गए।[4] वह दो भागों में विभक्त

---

१. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २७०।
२. साधना का दूसरा वर्ष।
३. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २७१।
४. साधना का तीसरा वर्ष।

था। नंद और उपनंद दोनों सगे भाई थे। एक भाग नंद का और दूसरा उपनंद का। भगवान् नंद के भाग में भिक्षा के लिए गए। उन्हें नन्द के घर पर बासी भात मिला।'[1]

'वाणिज्यग्राम में आनन्द नाम का गृहपति रहता था।[2] उसके एक दासी थी। उसका नाम था बहुला। वह रसोई बनाती थी। वह बासी भात को डालने के लिए बाहर जा रही थी। उस समय भगवान् वहां पहुंच गए। दासी ने भगवान् को देखा। वह दीन स्वर में बोली, 'भंते ! अभी रसोई नहीं बनी है। यह बासी भात है। यदि आप लेना चाहें तो लें।' भगवान् ने हाथ आगे फैलाया। दासी ने बासी भात दिया।'[3]

भगवान् की समत्व-साधना इतनी सुदृढ़ हो गई है कि अब उन्हें जैसा भी भोजन मिलता है, उसे समभाव से खा लेते हैं। उन्हें कभी सव्यंजन भोजन मिलता है और कभी निर्व्यंजन। कभी ठंडा भोजन मिलता है और कभी गर्म। कभी पुराने कुलमाष, बक्कस और पुलाक जैसा नीरस भोजन मिलता है और कभी परमान्न जैसा सरस भोजन। पर इन दोनों प्रकारों में उनकी मानसिक समता विखंडित नहीं होती।

एक बार भगवान् ने रूक्ष भोजन का प्रयोग प्रारम्भ किया। इस प्रयोग में वे सिर्फ तीन वस्तुएं खाते थे—कोदू का ओदन, बैर का चूर्ण और कुलमाष। यह प्रयोग आठ महीने तक चला।[4] भगवान् ने रसानुभूति का अधिकार रसना को दे दिया। मन उसके कार्य में हस्तक्षेप किया करता था। उसे अधिकार-मुक्त कर दिया।

---

१. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २८३, २८४।
२. साधना का ग्यारहवां वर्ष।
३. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० ३००, ३०१।
४. आयारो, ६।४।४,५,१३; आचारांगचूर्णि, पृ० ३२२

१०

ध्यान, आसन और मौन

मैं ध्यान-कोष्ठ में प्रवेश पा रहा था। स्थूल जगत् से मेरा सम्बन्ध विच्छिन्न हो चुका था। मेरा ध्येय था—महावीर की ध्यान-साधना का साक्षात्कार। सूक्ष्म-जगत् से संपर्क साधकर मैं आचार्य कुंदकुंद की सन्निधि में पहुंचा। मैंने जिज्ञासा की, 'महाप्राज्ञ ! आपने लिखा है कि जो व्यक्ति आहार-विजय, निद्रा-विजय और आसन-विजय को नहीं जानता, वह महावीर को नहीं जानता, उनके धर्म को नहीं जानता। क्या महावीर के धर्म में ध्यान को कहीं अवकाश नहीं है ?'

आचार्य ने सस्मित कहा, 'यदि ध्यान के लिए अवकाश न हो तो आहार, निद्रा और आसन की विजय किसलिए ?'

'महाप्राज्ञ ! इसीलिए मेरी जिज्ञासा है कि आपने इनकी सूची में ध्यान को स्थान न देकर क्या उसका महत्त्व कम नहीं किया है ?'

'नहीं, मैं ध्यान का महत्त्व कम कैसे कर सकता हूं ?'

'तो फिर उस सूची में ध्यान का उल्लेख क्यों नहीं ?'

'वह ध्यान के साधनों की सूची है। आहार, निद्रा और आसन की विजय ध्यान के लिए है। फिर उसमें ध्यान का उल्लेख मैं कैसे करता ?'

'क्या ध्यान साधन नहीं है ?'

'वह साधन है। और आहार, निद्रा तथा आसन-विजय साधन का साधन है।'

'यह कैसे ?'

'ध्यान आत्म-साक्षात्कार का साधन है। आहार, निद्रा और आसन का नियमन ध्यान का साधन है। भगवान् ने ध्यान की निर्बाध साधना के लिए ही इनका नियमन किया था।'

'महाप्राज्ञ ! आप अनुमति दें तो एक बात और पूछना चाहता हूं ?'

'वह क्या ?'

'आपने महावीर के ध्यान का अर्थ आत्मा को देखना किया है। क्या ध्यान का अर्थ सत्य का साक्षात्कार नहीं है ?'

'आत्म-दर्शन और सत्य-दर्शन क्या भिन्न हैं ?'

'महावीर ने चेतन और अचेतन—दो द्रव्यों का अस्तित्व प्रतिपादित किया है। सत्य-दर्शन में वे दोनों दृष्ट होते हैं। आत्म-दर्शन में केवल चेतन ही दृष्ट होता है। फिर दोनों भिन्न कैसे नहीं ?'

'तुम मेरा आशय नहीं समझे। अचेतन का दर्शन उसी को होता है, जिसका चैतन्य अनावृत हो जाता है और चैतन्य का अनावरण मन को चैतन्य में विलीन करने से होता है। इसलिए मैंने महावीर के ध्यान का अर्थ—आत्मा को देखना, मन के उद्गम को देखना—किया है।'

मैं बहुत-बहुत कृतज्ञता ज्ञापित कर अपने अन्तःकरण में लौट आया। मैंने सोचा, जिन लोगों के मानस में महावीर की दीर्घतपस्विता की प्रतिमा अंकित है, उनके सामने मैं महावीर की दीर्घध्यानिता की प्रतिमा प्रस्तुत करूं।

महावीर ने दीक्षित होकर पहला प्रवास कर्मारग्राम में किया। ध्यान का पहला चरण-विन्यास वहीं हुआ।[1] वह कैवल्य-प्राप्ति तक स्पष्ट होता चला गया।

कुछ साधक ध्यान के विषय में निश्चित आसनों का आग्रह रखते थे। महावीर इस विषय में आग्रहमुक्त थे। वे शरीर को सीधा और आगे की ओर कुछ झुका हुआ रखते थे। वे कभी बैठकर ध्यान करते और कभी खड़े होकर। वे अधिकतर खड़े होकर ध्यान किया करते थे। वे शिथिलीकरण को ध्यान के लिए अनिवार्य मानते थे, इसलिए वे खड़े हों या बैठे, कायोत्सर्ग की मुद्रा में ही रहते थे। वे श्वास की सूक्ष्म क्रिया के अतिरिक्त अन्य सभी (शारीरिक, वाचिक और मानसिक) क्रियाओं का विसर्जन किए रहते थे।[2]

कुछ साधक ध्यान के लिए निश्चित समय का आग्रह रखते थे। महावीर इस आग्रह से मुक्त थे। वे अधिकांश समय ध्यान में रहते थे। उन्हें न शास्त्रों का अध्ययन करना था, और न उपदेश। उन्हें करना था अनुभव या प्रत्यक्षबोध। वे दूसरों की गाएं चराने वाले ग्वाले नहीं थे जो समूचे दिन उन्हें चराते रहें और दूध दुहने के समय उनके स्वामियों को सौंप आएं। वे अपनी गाएं चराते और उनका दूध दुहते थे।

महावीर सालंबन और निरालंबन—दोनों प्रकार का ध्यान करते थे। वे मन को एकाग्र करने के लिए दीवार का आलंबन लेते थे। वे प्रहर-प्रहर तक तिर्यग्भित्ति

---

१. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २६८।

२. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० ३०१।

(दीवार) पर अनिमेषदृष्टि टिकाकर ध्यान करते थे। इस त्राटक-साधना से केवल उनका मन ही एकाग्र नहीं हुआ, उनकी आंखें भी तेजस्वी हो गईं। ध्यान के विकासकाल में उनकी त्राटक-साधना (अनिमेषदृष्टि) बहुत लम्बे समय तक चलती थी।[1]

एक बार भगवान् दृढ़भूमि प्रदेश में गए।[2] पेढाल नाम का गांव और पोलाश नाम का चैत्य। वहां भगवान् ने 'एकरात्रिकी प्रतिमा' की साधना की। आरंभ में तीन दिन का उपवास किया। तीसरी रात को शरीर का व्युत्सर्ग कर खड़े हो गए। दोनों पैर सटे हुए थे और हाथ पैरों से सटकर नीचे की ओर झुके हुए थे। दृष्टि का उन्मेष-निमेष बंद था। उसे किसी एक पुद्गल (बिन्दु) पर स्थिर और सब इन्द्रियों को अपने-अपने गोलकों में स्थापित कर ध्यान में लीन हो गए।[3]

यह भय और देहाध्यास के विसर्जन की प्रकृष्ट साधना है। इसका साधक ध्यान की गहराई में इतना खो जाता है कि उसे संस्कारों की भयानक उथल-पुथल का सामना करना पड़ता है। उस समय जो अविचल रह जाता है, वह प्रत्यक्ष अनुभव को प्राप्त करता है। जो विचलित हो जाता है वह उन्मत्त, रुग्ण या धर्म-च्युत हो जाता है। भगवान् ने इस खतरनाक शिखर पर बारह बार आरोहण किया था।

साधना का ग्यारहवां वर्ष चल रहा था। भगवान् सानुलट्ठिय गांव में विहार कर रहे थे। वहां भगवान् ने भद्र प्रतिमा की साधना प्रारम्भ की। वे पूर्व दिशा की ओर मुंह कर कायोत्सर्ग की मुद्रा में खड़े हो गए। चार प्रहर तक ध्यान की अवस्था में खड़े रहे। इसी प्रकार उन्होंने उत्तर, पश्चिम और दक्षिण दिशा की ओर अभिमुख होकर चार-चार प्रहर तक ध्यान किया।

इस प्रतिमा में भगवान् को बहुत आनन्द का अनुभव हुआ। वे उसकी शृंखला में ही महाभद्र प्रतिमा के लिए प्रस्तुत हो गए। उसमें भगवान् ने चारों दिशाओं में एक-एक दिन-रात तक ध्यान किया।

ध्यान की श्रेणी इतनी प्रलंब हो गई कि भगवान् उसे तोड़ नहीं पाए। वे ध्यान के इसी क्रम में सर्वतोभद्र प्रतिमा की साधना में लग गए। चारों दिशाओं, चारों विदिशाओं, ऊर्ध्व और अधः—इन दसों दिशाओं मे एक-एक दिन-रात तक ध्यान करते रहे।

भगवान् ने कुल मिलाकर सोलह दिन-रात तक निरंतर ध्यान-प्रतिमा की

---

१. आयारो, ९।१।५; आचारांगचूर्णि, पृ० ३००, ३०१।
२. साधना का ग्यारहवां वर्ष।
३. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा ४६८; आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० ३०१।

साधना की।[1]

भगवान् ध्यान के समय ऊर्ध्व, अधः और तिर्यक्—तीनों को ध्येय बनाते थे। ऊर्ध्व लोक के द्रव्यों का साक्षात् करने के लिए वे ऊर्ध्व-दिशापाती ध्यान करते थे। अधो लोक के द्रव्यों का साक्षात् करने के लिए वे अधो-दिशापाती ध्यान करते थे। तिर्यक् लोक के द्रव्यों का साक्षात् करने के लिए वे तिर्यक्-दिशापाती ध्यान करते थे।[2]

वे ध्येय का परिवर्तन भी करते रहते थे। उनके मुख्य-मुख्य ध्येय ये थे[3]—

१. ऊर्ध्वगामी, अधोगामी और तिर्यग्गामी कर्म।
२. बंधन, बंधन-हेतु और बंधन-परिणाम।
३. मोक्ष, मोक्ष-हेतु और मोक्ष-सुख।
४. सिर, नाभि और पादांगुष्ठ।
५. द्रव्य, गुण और पर्याय।
६. नित्य और अनित्य।
७. स्थूल—संपूर्ण जगत्।
८. सूक्ष्म—परमाणु।
९. प्रज्ञा के द्वारा आत्मा का निरीक्षण।

भगवान् ध्यान की मध्यावधि में भावना का अभ्यास करते थे। उनके भाव्य-विषय ये थे—

१—एकत्व—जितने संपर्क हैं, वे सब सांयोगिक हैं। अंतिम सत्य यह है कि आत्मा अकेला है।

२—अनित्य—संयोग का अन्त वियोग में होता है। अतः सब संयोग अनित्य हैं।

३—अशरण—अंतिम सचाई यह है कि व्यक्ति के अपने संस्कार ही उसे सुखी और दुःखी बनाते हैं। बुरे संस्कारों के प्रकट होने पर कोई भी उसे दुःखानुभूति से बचा नहीं सकता।

भगवान् ध्यान के लिए प्रायः एकान्त स्थान का चुनाव करते थे। वे ध्यान

---

१. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० ३००।

२. (क) दिशापाती ध्यान में दिशा-क्रम—

१ ऐंद्री	६. वायव्या
२. आग्नेयी	७. सोमा
३. याम्या	८. ऐशानी
४. नैर्ऋती	९. विमला (ऊर्ध्व)
५. वारुणी	१०. तमा (अधः)

(ख) आयारो, ९।४।१४

३. आचारांगचूर्णि, पृ० ३२४

खड़े और बैठे—दोनों अवस्थाओं में करते थे। उनके ध्यानकाल में बैठने के मुख्य आसन थे—पद्मासन, पर्यंकासन, वीरासन, गोदोहिका और उत्कटिका।[1]

भगवान् ध्यान की श्रेणी का आरोहण करते-करते उसकी उच्चतम कक्षाओं में पहुंच गए। वे लम्बे समय तक कायिक-ध्यान करते। उससे श्रान्त होने पर वाचिक और मानसिक। कभी द्रव्य का ध्यान करते, फिर उसे छोड़ पर्याय के ध्यान में लग जाते। कभी एक शब्द का ध्यान करते, फिर उसे छोड़ दूसरे शब्द के ध्यान में प्रवृत्त हो जाते।

भगवान् परिवर्तनयुक्त ध्येय वाले ध्यान का अभ्यास कर अपरिवर्तित ध्येय वाले ध्यान की कक्षा में आरूढ़ हो गए। उस कक्षा में वे कायिक, वाचिक या मानसिक—जिस ध्यान में लीन हो जाते, उसी में लीन रहते। द्रव्य या पर्याय में से किसी एक पर स्थित हो जाते। शब्द का परिवर्तन भी नहीं करते। वे इस कक्षा का आरोहण कर श्रांति की अवस्था को पार कर गए।

भगवान् की ध्यानमुद्रा अनेक ध्यानाभ्यासी व्यक्तियों को आकृष्ट करती रही है। उनमें एक आचार्य हेमचन्द्र भी हैं। उन्होंने लिखा है—

'भगवन् ! तुम्हारी ध्यानमुद्रा—पर्यंकशायी और शिथिलीकृत शरीर तथा नासाग्र पर टिकी हुई स्थिर आंखों—में साधना का जो रहस्य है, उसकी प्रतिलिपि सबके लिए करणीय है।'

भगवान् प्रायः मौन रहने का संकल्प पहले ही कर चुके हैं। अब जैसे-जैसे ध्यान की गहराई में जा रहे हैं, वैसे-वैसे उसका अर्थ स्पष्ट हो रहा है। वाक् और स्पन्दन का गहरा सम्बन्ध है। विचार की अभिव्यक्ति के लिए वाणी और वाणी के लिए मन का स्पन्दन—ये दोनों साथ-साथ चलते हैं। नीरव होने का अर्थ है मन का नीरव होना। भगवान् के सामने एक तर्क उभर रहा है—जिसे मैं देखता हूं, वह बोलता नहीं है और जो बोलता है, वह मुझे दिखता नहीं है, फिर मैं किससे बोलूं ? इस तर्क के अन्तस् में उनका स्वर विलीन हो रहा है।

भगवान् बोलने के आवेग के वश में नहीं हैं। बोलना उनके वश में है। वे उचित अवसर पर उचित और सीमित शब्द ही बोलते हैं। वे भिक्षा की याचना और स्थान की स्वीकृति के लिए बोलते हैं। इसके सिवा किसी से नहीं बोलते। कोई कुछ पूछता है तो उसका संक्षिप्त उत्तर दे देते हैं। शेष सारा समय अभिव्यक्ति और संपर्क से अतीत रहता है।

---

१. आचारांगचूर्णि, पृ० ३२४; आचारांगवृत्ति, पत्र २८३।

११

अनुकूल उपसर्गों के अंचल में

जल कमल को उत्पन्न करता है। उसके परिमल को फैलाता है पवन। उसकी अनुभूति करता है प्राण। सब अपना-अपना काम करते हैं, तब एक काम निष्पन्न होता है। वह है—परिमल के अस्तित्व का बोध।

१. भगवान् दीक्षित होने को प्रस्तुत हुए। परिवार के लोगों ने उनका अभिषेक किया। फिर उनके शरीर को सुवासित किया—किसी ने दिव्य गोशीर्ष-चंदन से, किसी ने सुगंधि चूर्ण से और किसी ने पटवास से। भगवान् का शरीर सुगंधमय हो गया।

मधुकरों को परिमल के अस्तित्व का बोध हुआ। वे पुष्पित वनराजि और कमलकोशों को छोड़ भगवान् के शरीर पर मंडराने लगे। वे चारों ओर दे रहे थे परिक्रमा और कर रहे थे गुंजारव। उपवन का शान्त और नीरव वातावरण ध्वनि से तरंगित हो गया। मधुकर भगवान् के शरीर पर बैठे। उन्हें पराग-रस नहीं मिला। वे उड़कर चले गए। परिमल से आकृष्ट हो फिर आए और पराग न मिलने पर फिर उड़ गए। इस परिपाटी से संरुष्ट हो, वे भगवान् के शरीर को काटने लगे।[1]

२. भगवान् कर्मारग्राम में गए। वहां कुछ युवक सुगंधि से आसक्त हो भगवान् के पास आए। उन्होंने अवसर देख भगवान् से प्रार्थना की, 'राजकुमार! आपने जिस गंधचूर्ण का प्रयोग किया है, उसके निर्माण की युक्ति हमें भी बताइए।' भगवान् ने इसका उत्तर नहीं दिया। वे क्रुद्ध हो गालियां देने लग गए।[2]

३. भगवान् का शरीर सुगठित, सुडौल और सुन्दर था। उनके घुंघराले बाल

१. आचारांगचूर्णि, पृ० २९९; आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २६८, २६९।
२. आचारांगचूर्णि, पृ० ३००; आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २६९।

बहुत ही आकर्षक लगते थे। उनकी आंखें नीलकमल के समान विकस्वर थीं। उनके रूप-वैभव को देख अनेक रूपसियां प्रमत्त हो जातीं। एक बार रात के समय भगवान् के पास तीन रूपसियां आईं। एक बोली, 'कुमार! तुम्हारी स्त्री कौन है—ब्राह्मणी है या क्षत्रियाणी? वैश्य है या शूद्री?'

'कोई नहीं है।'

'हम बन सकती हैं, तुम किसे पसन्द करते हो?'

'किसी को भी नहीं।'

'अरे! यह कैसा युवक जो हम जैसी रूपसियों को पसन्द नहीं करता?'

दूसरी रूपसी आगे आकर कहने लगी—'तुम ठीक से देखो, यह पुरुष तो है न?'

तीसरी बोली—'मुझे लगता है, यह कोई नपुंसक है। यदि पुरुष होता तो हमारी उपेक्षा कैसे करता?'

तीनों एक साथ कहने लगीं—'कुमार! अभी युवा हो। इस यौवन को अरण्य-पुरुष की भांति व्यर्थ ही क्यों गंवा रहे हो? लगता है, तुम्हें प्रकृति से रूप का वरदान मिला, पर परिवार अनुकूल नहीं मिला। इसीलिए तुम उसे छोड़ अकेले घूम रहे हो। हम तुम्हारे लिए सर्वस्व का निछावर करने को तैयार हैं। फिर यह मोम का गोला आगी से क्यों नहीं पिघल रहा है?'

तीनों के हाव-भाव, विलास और विभ्रम बढ़ गए। उन्होंने रति-प्रणय की समग्र चेष्टाएं कीं। पर भगवान् पर उनका कोई प्रभाव नहीं हुआ।[1]

भगवान् ऊर्ध्व, तिर्यक् और अधः—तीनों प्रकार का ध्यान करते थे। वे ऊर्ध्व ध्यान की साधना के द्वारा काम-वासना के रस को विलीन कर चुके थे। इसलिए उद्दीपन की सामग्री मिलने पर भी उनका काम जागृत नहीं हुआ। चलते-चलते उनके सामने दुस्तर महानदी आ गई। पर वे ध्यान की नौका द्वारा उसे सहज ही पार कर गए।

मिट्टी का गोला आग की आंच से प्रदीप्त होता है, किन्तु पिघलता नहीं।

४. श्यामाक वैशाली का प्रसिद्ध वीणावादक है। वह वीणा बजाने की तैयारी कर रहा है। भगवान् सिद्धार्थपुर से विहार कर वैशाली पहुंच रहे हैं। श्यामाक ने भगवान् को देखकर कहा, 'देवार्य! मैं वीणा-वादन प्रारम्भ कर रहा हूं। आप इधर से सहज ही चले आए हैं। यह अच्छा हुआ। कुछ ठहरिए और मेरा वीणा-वादन सुनिए। मैं आपको और भी अनेक कलाएं दिखाना चाहता हूं।' भगवान् ने उसकी प्रार्थना स्वीकार नहीं की। वे आगे बढ़ गए।

इस घटना की मीमांसा का एक कोण यह है कि भगवान् इतने नीरस हैं कि

---

१. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २६६, ३१०।

वे कलाकार की कोमल भावना और सधी हुई उंगलियों के उत्क्षेप-निक्षेप की अवहेलना कर आगे वढ़ गए।[1] तो दूसरा कोण यह है कि भगवान् अन्तर्नाद से इतने तृप्त थे कि उन्हें वीणा-वादन की सरसता लुभा नहीं सकी।

५. श्रावस्ती की रंगशाला जनाकुल हो रही है। महाराज ने नाटक का आयोजन किया है।[2] नट-मण्डली के कौशल की सर्वत्र चर्चा है। मण्डली के मुखिया ने भगवान् को देख लिया। उसने भगवान् से रंगशाला में आने का अनुरोध किया। भगवान् वहां जाने को सहमत नहीं हुए। नट ने कहा, 'क्या आप नाटक देखने को उत्सुक नहीं हैं ?'

'नहीं।'

'क्यों, क्या नाटक अच्छा नहीं लगता ?'

'अपनी-अपनी दृष्टि है।'

'क्या ललितकला के प्रति दृष्टि-भेद हो सकता है ?'

'ऐसा कुछ भी नहीं जिसके प्रति दृष्टि-भेद न हो सके।'

'यह अज्ञानी लोगों में हो सकता है, पर आप तो ज्ञानी हैं।'

'ज्ञानी सत्य की खोज में लगा रहता है। वह विश्व के कण-कण में अभिनय का अनुभव करता है। वह अणु-अणु में प्रकम्पन और गतिशीलता का अनुभव करता है। उसकी रसमयता इतनी व्याप्त हो जाती है कि उसके लिए नीरस जैसा कुछ रहता ही नहीं। अन्य सब शास्त्रों को जानने वाला क्लेश का अनुभव करता है। अध्यात्म को जानने वाला रस का अनुभव करता है। गधा चंदन का भार ढोता है और भाग्यशाली मनुष्य उसकी सुरभि और शीतलता का उपभोग करता है।'

नट का सिर श्रद्धा से नत हो गया। वह प्रणाम कर रंगशाला में चला गया।

---

१. आचारांगचूर्णि, पृ० ३०३।
२. आचारांगचूर्णि, पृ० ३०३।

१२

बिम्ब और प्रतिबिम्ब

एक राजा ने पांच धर्माचार्यों को आमंत्रित कर कहा, 'मैं गुरु बनाना चाहता हूं। पर मेरा गुरु वह होगा जिसका आश्रम सबसे बड़ा है।' राजा आश्रम देखने निकला। एक आश्रम पांच एकड़ में फैला था, दूसरा दस एकड़ में, तीसरा बीस एकड़ में और चौथा चालीस एकड़ में। राजा ने चारों आश्रम देख लिये। एक आश्रम बाकी रहा। बूढ़ा धर्म-गुरु राजा को नगर से बाहर एक पेड़ के नीचे ले गया। राजा के पूछने पर बताया—

'मेरा आश्रम यही है।'

'इसकी सीमा कहां तक है, महाराज ?'

'जहां तक तुम्हारी दृष्टि पहुंचती है और जहां नहीं भी पहुंचती है, वहां तक।'

उसका आश्रम सबसे बड़ा था। वह राजा का गुरु हो गया।

भगवान् साधना के लिए कहीं आश्रम बांधकर नहीं बैठे। वे स्वतंत्रता के लिए निकले, निरंतर परिव्रजन करते रहे। भूमि और आकाश—दोनों पर उनका अबाध अधिकार हो गया।

वे बाह्य जगत् में भूमि का स्पर्श कर रहे थे और अन्तर् जगत् में अपनी आत्मा का। वे बाह्य जगत् में लोक-मान्यताओं का आकलन कर रहे थे और अन्तर् जगत् में सार्वभौम सत्यों का।

उस समय लोग शकुन में बहुत विश्वास करते थे। जो लोग सामाजिक अपराध करने के लिए जाते, वे भी शकुन देखते थे। चोर और डाकू अपशकुन होने पर न चोरी करते और न डाका डालते।

१. पूर्णकलश राढ़ देश का सीमान्तवर्ती गांव है। भगवान् वहां से प्रस्थान

कर मगध में आ रहे थे।[1] दो चोर उन्हें मार्ग में मिले। वे आदिवासी क्षेत्रों में चोरी करने को जा रहे थे। भगवान् को देख वे क्रुद्ध हो गए। वे भगवान् के पास आए। उन्होंने भगवान् को गालियां देकर क्रोध को थोड़ा शान्त किया। फिर वोले, 'नग्न और मुंड श्रमण ! आज तुमने हमारा मनोरथ निष्फल कर दिया।'

'मैंने क्या निष्फल किया ?'

'हम चोरी करने जा रहे थे, तुमने सामने आकर अपशकुन कर दिया।'

'चोरी करना कौन-सा अच्छा काम है, जिसके लिए शकुन देखना पड़े।'

'चोरी अच्छा काम नहीं है, चोरी अच्छा काम नहीं है'—इसकी पुनरावृत्ति में दोनों भान भूल गए।

भगवान् अन्धविश्वास के प्रहार से मुक्त होकर आगे बढ़ गए।[2]

२. भगवान् को वैशाली में भी अंधविश्वास का शिकार होना पड़ा।[3] वे लुहार के कारखाने में ध्यान कर खड़े थे। लुहार छह महीनों से वीमार था। वह स्वस्थ हुआ। अपने यंत्रों को लेकर वह काम करने के लिए कारखाने में आया। उसने देखा, कोई नंगा भिक्षु कारखाने में खड़ा है। अपशकुन का विचार विजली की भांति उसके दिमाग में कौंध गया। वह क्रुद्ध होकर अपने कर्मचारियों पर वरस पड़ा।

'इस नग्न भिक्षु को यहां ठहरने की अनुमति किसने दी ?'

'हम सवने।'

'यह मुझे पसन्द नहीं है।'

'हमें पसन्द है।'

'इसे निकाल दो।'

'हम नहीं निकालेंगे।'

'तुम निकाल दिए जाओगे।'

'यह हो सकता है।'

वहां का सामूहिक वातावरण देख लुहार मौन हो गया। वह कुछ आगे वढ़ा। भगवान् के जैसे-जैसे निकट गया, वैसे-वैसे उसका मानस आंदोलित हुआ और वह सदा के लिए शान्त हो गया।[4]

भगवान् ने अपने तीर्थंकर-काल में अंधविश्वास के उन्मूलन का तीव्र प्रयत्न किया। क्या वह इन्हीं अंधविश्वासपूर्ण घटनाओं की प्रतिक्रिया नहीं है ?

---

१. साधना का पांचवां वर्ष।

२. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २९०

३. साधना का छठा वर्ष।

४. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ०२९२।

३. भगवान् वैशाली से विहार कर वाणिज्यग्राम जा रहे थे।[1] बीच में गंडकी नदी बह रही थी। भगवान् तट पर आकर खड़े हो गए। एक नौका आई। किनारे पर लग गई। यात्री चढ़ने लगे। भगवान् भी उसमें चढ़ गए। नौका चली। वह नदी पार कर तट पर पहुंच गई। यात्री उतरने लगे। भगवान् भी उतरे। नाविक सब लोगों से उतराई लेने लगे। एक नाविक भगवान् के पास आया और उसने उतराई मांगी। भगवान् के पास कुछ नहीं था, वे क्या देते? उसने भगवान् को रोक लिया। यात्री अपनी-अपनी दिशा में चले गए। भगवान् वहीं खड़े रहे।

कुछ समय बीता। नदी में हलचल-सी हो गई। देखते-देखते नौकाओं का काफिला आ पहुंचा। सैनिक उतरे। उनके मुखिया ने भगवान् को देखा। वह तुरंत दौड़ा। भगवान् के पास आ, नमस्कार कर बोला, 'भंते! मैं संखराज का भानजा हूं। मेरा नाम चित्त है। मैं संखराज के साथ आपके दर्शन कर चुका हूं। अभी मैं नौसैनिकों को साथ ले दौत्य कार्य के लिए जा रहा हूं। भंते! आप धूप में क्यों खड़े हैं?'

'भूल का प्रायश्चित्त कर रहा हूं।'

'भूल कैसी?'

'मैंने गंडकी नदी नौका से पार की। नौका पर चढ़ते समय मुझे नाविकों की अनुमति लेनी चाहिए थी, वह नहीं ली।'

'इसमें भूल क्या है, सब लोग चढ़ते ही हैं।'

'वे लोग चढ़ते हैं, जो उतराई दे पाते हैं। मेरे पास देने को कुछ भी नहीं है और ये उतराई मांग रहे हैं। इसलिए मुझे अनुमति लिये बिना नहीं चढ़ना चाहिए था।'

चित्त ने सैनिक-भावमुद्रा में नाविकों की ओर देखा। वे कांप उठे। भगवान् ने करुणा प्रवाहित करते हुए कहा, 'चित्त! इन्हें भयभीत मत करो। इनका कोई दोष नहीं है। यह मेरा ही प्रमाद है।'

भगवान् की बात सुन चित्त शान्त हो गया। उसने नाविकों को संतुष्ट कर दिया। भगवान् का परिचय मिलने पर उन्हें गहरा अनुताप हुआ। भगवान् की करुणा देख वे हर्षित हो उठे। भगवान्, चित्त और नाविक—सब अपनी-अपनी दिशा में चले गए।[2]

इस घटना ने भगवान् के सामने एक सूत्र प्रस्तुत कर दिया—'अपरिग्रही व्यक्ति दूसरे की वस्तु का उपयोग उसकी अनुमति लिए बिना न करे।'

---

१. साधना का दसवां वर्ष।

२. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २९९।

१३

प्रगति के संकेत

भगवान् महावीर अभी अकेले ही विहार कर रहे थे। उनका न कोई सहायक है और न कोई शिष्य। उन जैसे समर्थ व्यक्ति को शिष्य का उपलब्ध होना कोई बड़ी बात नहीं थी। पर वे स्वतन्त्रता की अनुभूति किए बिना उसका बंधन अपने पर डालना नहीं चाहते थे।

१. भगवान् पार्श्व की शिष्य-परम्परा अभी चल रही है। उसमें कुछ साधु बहुत योग्य हैं, कुछ साधना में शिथिल हो चुके हैं और कुछ साधुत्व की दीक्षा छोड़ परिव्राजक या गृहवासी बन चुके हैं।

उत्पल पार्श्व की परम्परा में दीक्षित हुआ। उसने दीक्षाकाल में अनेक विद्याएं अर्जित कीं। वह दीक्षा को छोड़ परिव्राजक हो गया। वह अस्थिकग्राम में रह रहा है। अष्टांग निमित्त विद्या पर उसका पूर्ण अधिकार है।

भगवान् महावीर शूलपाणि यक्ष के मंदिर में उपस्थित हैं।[1] समूचे अस्थिक-ग्राम में यह चर्चा हो रही है कि एक भिक्षु अपने गांव में आया है और वह शूलपाणि यक्ष के मंदिर में ठहरा है। लोग परस्पर कहने लगे, 'यह अच्छा नहीं हुआ। बेचारा मारा जाएगा। क्या पुजारी ने उसे मनाही नहीं की? क्या किसी आदमी ने उसे बताया नहीं कि उस स्थान में रात को रहने का अर्थ मौत को बुलावा है। अब क्या हो, रात ढल चुकी है। इस समय वहां कौन जाए?' पुजारी और उसके साथियों ने लोगों को बताया कि हमने सारी स्थिति उसे समझा दी थी। वह कोई बहुत ही आग्रही भिक्षु है। हमारे समझाने पर भी उसने वहीं रहने का आग्रह किया। इसका हम क्या करें? यह बात उत्पल तक पहुंची। उसने सोचा, 'कोई साधारण व्यक्ति भयंकर स्थान में रात को ठहर नहीं सकता।

---

१. साधना का पहला वर्ष। स्थान—अस्थिकग्राम।

स्थिति को जान लेने पर भी वह वहां ठहरा है तो अवश्य ही कोई महासत्त्व व्यक्ति है।' विचार की गहराई में डुबकी लगाते-लगाते उसके मन में एक विकल्प उत्पन्न हुआ, 'मैंने सुना है कि भगवान् महावीर इसी वर्ष दीक्षित हुए हैं। वे बहुत ही पराक्रमी हैं। कहीं वे ही तो नहीं आए हैं ?' काफी रात जाने तक लोग बातें करते रहे। वे सोए तब भी उनके दिल में करुणा जागृत थी। प्रातःकाल लोग जल्दी उठे। उषा होते-होते वे मंदिर में आ पहुंचे। कुछ लोग भगवान् को देखने का कुतूहल लिये आए और कुछ लोग अन्त्येष्टि-संस्कार सम्पन्न करने के लिए। वे सब मंदिर के दरवाज़े में घुसे। वे यह देख आश्चर्य में डूब गए कि भिक्षु अभी जीवित है। उन्हें अपनी आंखों पर भरोसा नहीं हुआ। वे कुछ और आगे बढ़े, फिर ध्यान से देखा। उन्हें अपनी धारणा से प्रतिकूल यही देखने को मिला कि भिक्षु अभी अच्छी तरह से जीवित है। वे हर्ष-विभोर हो आकाश में उछले। सबने उच्च स्वर से तीन बार कहा, 'शान्तं पापं, शान्तं पापं, शान्तं पापं। भिक्षु ! तुम्हारी कृपा से हमारे गांव का उपद्रव मिट गया। भय समाप्त हो गया। अब यहां कोई भय नहीं रहा।'

उत्पल आगे आया। उसने भगवान् के शरीर को देखा, फिर रात की घटना को देखा। वह निमित्त-बल से सारी स्थिति जान गया। वह बोला—'भन्ते ! आज रात को आपने कुछ नींद ली है ?'

'हां, उत्पल।'

'उसमें आपने कुछ स्वप्न देखे हैं ?'

'तुम सही हो।'

'भंते ! आप बहुत बड़े ज्ञानी हैं। उनका फलादेश जानते ही हैं। फिर भी मैं अपनी उत्कंठा की पूर्ति के लिए कुछ कहना चाहता हूं।'

उत्पल कुछ ध्यानस्थ हुआ। वह अपने मन को निमित्त-विद्या में एकाग्र कर बोला—'भंते !

१. ताल पिशाच को पराजित करने का स्वप्न मोह के क्षीण होने का सूचक है।

२. श्वेत पंखवाले पुंस्कोकिल का स्वप्न शुक्लध्यान के विकास का सूचक है।

३. विचित्र पंखवाले पुंस्कोकिल का स्वप्न अनेकान्त दर्शन के प्रतिपादन का सूचक है।

४. भंते ! चौथे स्वप्न का फल मैं नहीं समझ पा रहा हूं।

५. श्वेत गोवर्ग का स्वप्न संघ की समृद्धि का सूचक है।

६. कुसुमित पद्म सरोवर का स्वप्न दिव्यशक्ति की उपस्थिति का सूचक है।

७. समुद्र तैरने का स्वप्न संसार-सिन्धु के पार पाने का सूचक है।

८. सूर्य का स्वप्न कैवल्य की प्राप्ति होने का सूचक है।

९. पर्वत को आंतों से वेष्टित करने का स्वप्न आपके द्वारा प्रतिपादित

सिद्धान्तों के व्यापक होने का सूचक है।

१०. मेरु पर्वत पर उपस्थिति का स्वप्न धर्म की उच्चतम प्रस्थापना करने का सूचक है।'

भगवान् ने कहा—'उत्पल ! तुम्हारा निमित्त-ज्ञान बहुत विकसित है। तुमने जो स्वप्नार्थ बताए हैं, वे सही हैं। मेरा चौथा (रत्न की दो मालाओं का) स्वप्न साधु-धर्म और गृहस्थ-धर्म इस द्विविध धर्म की स्थापना का सूचक है।'[1]

२. भगवान् गंडकी नदी को नौका से पार कर वाणिज्यग्राम आए।[2] उसके बाह्य भाग में एक रमणीय और एकान्त प्रदेश था। भगवान् वहां स्थित होकर ध्यानलीन हो गए। उस गांव में आनन्द नामक गृहस्थ रहता था। वह भगवान् पार्श्व की परम्परा का अनुयायी था। वह दो-दो उपवास की तपस्या और सूर्य के आतप का आसेवन कर रहा था। उसे इस प्रक्रिया से अतीन्द्रिय-ज्ञान (अवधिज्ञान) उपलब्ध हो गया।

वाणिज्यग्राम के बाह्य भाग में भगवान् की उपस्थिति का बोध होने पर वह वहां आया। भगवान् के चरणों में प्रणिपात कर बोला, 'भंते ! अनुत्तर है आप की कायगुप्ति, अनुत्तर है आपकी वचनगुप्ति और अनुत्तर है आपकी मनोगुप्ति। भंते ! मुझे स्पष्ट दीख रहा है कि आपको कुछ वर्षों के बाद कैवल्य प्राप्त होगा।'[3]

भगवान् कैवल्य की दिशा में आगे बढ़ रहे थे। उसके संकेत वातावरण में तैरने लग गए।

---

१. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २७३-२७५।

२. साधना का दसवां वर्ष।

३. [illegible]

१४

करुणा का अजस्र स्रोत

वर्षा ने विदा ले ली। शरद् का प्रवेश-द्वार खुल गया। हरियाली का विस्तार कम हो गया। पथ प्रशस्त हो गए। भगवान् महावीर अस्थिकग्राम से प्रस्थान कर मोराक सन्निवेश पहुंचे।[1] बाहर के उद्यान में ठहरे।

उस सन्निवेश में अच्छंदक नामक तपस्वी रहते थे। वे ज्योतिष, वशीकरण, मंत्र-तंत्र आदि विद्याओं में कुशल थे। एक अच्छंदक की वहां बहुत प्रसिद्धि थी। जनता उसके चमत्कारों से बहुत प्रभावित थी।

उद्यानपालक ने देखा कोई तपस्वी ध्यान किए खड़ा है। उसने दूसरे दिन फिर देखा कि तपस्वी वैसे ही खड़ा है। उसके मन में श्रद्धा जाग गई। उसने सन्निवेश के लोगों को सूचना दी। लोग आने लगे। भगवान् ने ध्यान और मौन का क्रम नहीं तोड़ा। फिर भी लोग आते और कुछ समय उपासना कर चले जाते। वे भगवान् की ध्यान-मुद्रा पर मुग्ध हो गए। भगवान् की सन्निधि उनके शान्ति का स्रोत बन गई।

सन्निवेश की जनता का झुकाव भगवान् की ओर देख अच्छंदक विचलित हो उठा। उसने भगवान् को पराजित करने का उपाय सोचा। वह अपने समर्थकों को साथ ले भगवान् के सामने उपस्थित हो गया।

भगवान् आत्म-दर्शन की उस गहराई में निमग्न थे जहां जय-पराजय का अस्तित्व ही नहीं है। अच्छंदक तपस्वी का मन जय-पराजय के झूले में झूल रहा था। वह बोला, 'तरुण तपस्वी! मौन क्यों खड़े हो? यदि तुम ज्ञानी हो तो मेरे प्रश्न का उत्तर दो। मेरे हाथ में यह तिनका है। यह अभी टूटेगा या नहीं टूटेगा?' इतना कहने पर भी भगवान् का ध्यान भंग नहीं हुआ।

---

१. साधना का दूसरा वर्ष।

सिद्धार्थ भगवान् का भक्त था। वह कुछ दिनों से भगवान् की सन्निधि में रह रहा था। वह अतिशयज्ञानी था। उसने कहा, 'अच्छंदक! इतने सीधे प्रश्न का उत्तर पाने के लिए भगवान् का ध्यान भंग करने की क्या आवश्यकता है? इसका सीधा-सा उत्तर है। वह मैं ही बता देता हूं। यह तिनका जड़ है। इसमें अपना कर्तृत्व नहीं है। अतः तुम इसे तोड़ना चाहो तो टूट जाएगा और नहीं चाहो तो नहीं टूटेगा।' उपस्थित जनता ने कहा, 'अच्छंदक इतनी सीधी-सरल बात को भी नहीं जानता तब गूढ़ तत्त्व को क्या जानता होगा?' जन-मानस में उसके आदर की प्रतिमा खंडित हो गई। साथ-साथ उसके चिंतन की प्रतिमा खंडित हो गई। उसने सोचा था—महावीर कहेंगे कि तिनका टूट जाएगा तो मैं इसे नहीं तोड़ूंगा और वे कहेंगे कि नहीं टूटेगा तो मैं इसे तोड़ दूंगा। दोनों ओर उनकी पराजय होगी। किन्तु जो महावीर को पराजित करने चला था, वह जनता की संसद में स्वयं पराजित हो गया।

अच्छंदक अवसर की खोज में था। एक दिन उसने देखा, भगवान् अकेले खड़े हैं। अभी ध्यान-मुद्रा में नहीं हैं। वह भगवान् के निकट आकर बोला, 'भंते! आप सर्वत्र पूज्य हैं। आपका व्यक्तित्व विशाल है। मैं जानता हूं, महान् व्यक्तित्व क्षुद्र व्यक्तित्वों को ढांकने के लिए अवतरित नहीं होते। मुझे आशा है कि भगवान् मेरी भावना का सम्मान करेंगे।'

इधर अच्छंदक अपने गांव की ओर लौटा और उधर भगवान् वाचाला की ओर चल पड़े। उनकी करुणा ने उन्हें एक क्षण भी वहां रुकने की स्वीकृति नहीं दी।[1]

१. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २७५-२७७।

१५

गंगा में नौका-विहार

ऐसा कौन मनुष्य है जिसने प्रकृति के रंगमंच पर अभिनय किया हो और अपना पुराना परिधान न बदला हो। जहां बदलना ही सत्य है वहां नहीं बदलने का आग्रह असत्य हो जाता है।

भगवान् महावीर अहिंसा और आकिंचन्य की संतुलित साधना कर रहे थे। उनके पास न पैसा था और न वाहन। वे अकिंचन थे, इसलिए परिव्रजन कर रहे थे। वे अहिंसक और अकिंचन—दोनों थे, इसलिए पद-यात्रा कर रहे थे।

भगवान् श्वेतव्या से प्रस्थान कर सुरभिपुर जा रहे थे।[1] बीच में गंगा नदी आ गई। भगवान् ने देखा, दो तटों के बीच तेज जलधारा बह रही है, जैसे दो भावों के बीच चिंतन की तीव्र धारा बहती है। उनके पैर रुक गए।

ध्यान के लिए स्थिरता जरूरी है। स्थिरता के लिए एक स्थान में रहना जरूरी है। किन्तु अकिंचन के लिए अनिकेत होना जरूरी है और अनिकेत के लिए परिव्रजन जरूरी है। इस प्राप्त आवश्यक धर्म का पालन करने के लिए भगवान् नौका की प्रतीक्षा करने लगे।

सिद्धदत्त एक कुशल नाविक था। वह जितना नौका-संचालन में कुशल था, उतना ही व्यवहार-कुशल था। यात्री उसकी नौका पर बैठकर गंगा को पार करने में अपनी कुशल मानते थे।

सिद्धदत्त यात्रियों को उस पार उतारकर फिर इस ओर आ गया। उसने देखा, तट पर एक दिव्य तपस्वी खड़ा है। उसका ध्यान उनके चरणों पर टिक गया। वह बोला, 'भगवन् ! आइए, इस नौका को पावन करिए।'

'क्या तुम मुझे उस पार ले चलोगे ?' भगवान् ने पूछा।

---

१. साधना का दूसरा वर्ष।

नाविक बोला, 'भंते ! यह प्रश्न मेरा है। क्या आप मेरी नौका को उस पार ले चलेंगे ?'

सिद्धदत्त का प्रश्न सुन भगवान् मौन हो गए। उनका मौन कह रहा था कि उस पार स्वयं को पहुंचना है। उसमें सहयोगी तुम भी हो सकते हो और मैं भी हो सकता हूं।

भगवान् नौका में बैठ गए। उसमें और अनेक यात्री थे। उनमें एक था नैमित्तिक। उसका नाम था खेमिल। नौका जैसे ही आगे बढ़ी, वैसे ही दायीं ओर उल्लू बोला। खेमिल ने कहा, 'यह बहुत बुरा शकुन है। मुझे भयंकर तूफान की आशंका हो रही है।' नैमित्तिक की बात सुन नौका के यात्री घबरा उठे।

इधर नौका गंगा नदी के मध्य में पहुंची, उधर भयंकर तूफान आया। नदी का जल आकाश को चूमने लगा। नौका डगमगा गई। उत्ताल तरंगों के थपेड़ों से भयाक्रांत यात्री हर क्षण मौत की प्रतीक्षा करने लगे। भगवान् उन प्रकंपित करने वाले क्षणों में भी निष्कंप बैठे थे। उनके मन में न जीने की आशंसा थी और न मौत का आतंक। जिसके मन में मौत के भय का तूफान नहीं होता, उसे कोई भी तूफान प्रकंपित नहीं कर पाता।

तूफान आकस्मिक ढंग से ही आया और आकस्मिक ढंग से ही शान्त हो गया। यात्रियों के अशान्त मन अब शान्त हो गए। भगवान् तूफान के क्षणों में भी शांत थे और अब भी शांत हैं। खेमिल ने कहा, 'इस तपस्वी ने हम सबको तूफान से बचा लिया।' यात्रियों के सिर उस तरुण तपस्वी के चरणों में झुक गए। नाविक ने कहा, 'भंते ! आपने मेरी नैया पार लगा दी। मुझे विश्वास हो गया है कि मेरी जीवन-नैया भी पार पहुंच जाएगी।'

नौका तट पर लग गई। यात्री अपने-अपने गंतव्य की दिशा में चल पड़े। भगवान् थूणाक सन्निवेश की ओर प्रस्थान कर गए।[1]

---

१. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २८०, २८१।

१६

बंधन की मुक्ति : मुक्ति का अनुबंध

भगवान् की जीवन-घटनाओं से ऐसा प्रतीत होता है कि प्रकृति के प्रतिकूल चलना उनका सहज धर्म हो गया। हेमन्त ऋतु में भगवान् छाया में ध्यान करते। गर्मी में वे धूप में ध्यान करते। भगवान् के ये प्रयोग प्रकृति पर पुरुष की विजय के प्रतीक बन गए।

भगवान् श्रावस्ती से विहार कर हलेद्दुक गांव के बाहर पहुंचे।[1] वहां हलेद्दुक नामक एक विशाल वृक्ष था। भगवान् उसके नीचे ध्यानमुद्रा में खड़े हो गए। एक सार्थवाह श्रावस्ती जा रहा था। उसने उस विशाल वृक्ष के पास पड़ाव डाला।

सूर्य अस्त हो चुका था। रात के चरण आगे बढ़ रहे थे। अंधकार जैसे-जैसे गहरा हो रहा था, वैसे-वैसे सर्दी का प्रकोप बढ़ रहा था। भगवान् उस सर्दी में निर्वसन खड़े थे। वह वृक्ष ही छत, वही आंगन, वही मकान और वही वस्त्र—सब कुछ वही था। सार्थ के लोग संन्यासी नहीं थे। उनके पास संग्रह भी था—बिछौने, कंबलें, रजाइयां, और भी बहुत कुछ। फिर भी वे खुले आकाश में कांप रहे थे। उन्होंने सर्दी से बचने के लिए आग जलाई। वे रात भर उसका ताप लेते रहे। पिछली रात को वहां से चले। आग को वैसे ही छोड़ गए।

हवा तेज हो गई। आग कुछ आगे बढ़ी। गोशालक भगवान् के साथ थे। वे बोले, 'भंते ! आग इस ओर आ रही है। हम यहां से चलें। किसी दूसरे स्थान पर जाकर ठहर जाएं।' भगवान् ध्यान में खड़े ही रहे। आग बहुत निकट आ गई। गोशालक वहां से दूर चले गए। वृक्ष के नीचे बहुत घास नहीं थी। जो थी, वह सूखी नहीं थी। इसलिए वृक्ष के नीचे आते-आते आग का वेग कम हो गया। उसकी धीमी आंच में भगवान् के पैर झुलस गए।[2]

---

१. साधना का पांचवां वर्ष।
२. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २८८।

भगवान् स्वतंत्रता के विविध प्रयोग कर रहे थे। वे प्रकृति के वातावरण की परतंत्रता से भी मुक्त होना चाहते थे। सर्दी और गर्मी—दोनों सब पर अपना प्रभाव डालती हैं। भगवान् इनके प्रभाव-क्षेत्र में रहना नहीं चाहते थे।

शिशिर का समय था। सर्दी बहुत तेज पड़ रही थी। बर्फीली हवा चल रही थी। कुछ भिक्षु सर्दी से बचने के लिए अंगार-शकटिका के पास बैठे रहे। कुछ भिक्षु कंबलों और ऊनी वस्त्रों की याचना करने लगे। पार्श्वनाथ के शिष्य भी वातायन-रहित मकानों की खोज में लग गए। उस प्रकंपित करने वाली सर्दी में भी भगवान् ने छप्पर में स्थित होकर ध्यान किया। प्रकृति उन पर प्रहार कर रही थी और वे प्रकृति के प्रहार को अस्वीकार कर रहे थे। इस द्वन्द्व में वे प्रकृति से पराजित नहीं हुए।[1]

भेद-विज्ञान का ध्यान

मकान पर दृष्टि आरोपित हुई तब लगा कि आकाश बंधा हुआ है। उसके स्वभाव की भाषा पढ़ी तब ज्ञात हुआ कि वह मकान से बद्ध नहीं है।

जल में डूबे हुए कमलपत्र को देखा तब लगा कि वह जल से स्पृष्ट है। उसके स्वभाव की भाषा पढ़ी तब ज्ञात हुआ कि वह जल से स्पृष्ट नहीं है।

घट, शराव, ढक्कन आदि को देखा तब लगा कि ये मिट्टी से भिन्न हैं। मिट्टी के स्वभाव की भाषा पढ़ी तब ज्ञात हुआ कि वे मिट्टी से भिन्न नहीं हैं।

तरंगित समुद्र में ज्वार-भाटा देखा तब लगा कि वह अनियत है। उसके स्वभाव की भाषा पढ़ी तब ज्ञात हुआ कि वह अनियत नहीं है।

सोने को चिकने और पीले रूप में देखा तब लगा कि वह विशिष्ट है। उसके स्वभाव की भाषा पढ़ी तब ज्ञात हुआ कि वह अविशेष है।

अग्नि से उत्तप्त जल को देखा तब लगा कि वह उष्णता से संयुक्त है। उसके स्वभाव की भाषा पढ़ी तब ज्ञात हुआ कि वह उष्णता से संयुक्त नहीं है।

स्वभाव से भिन्न अनुभूति में लगा कि आत्मा बद्ध-स्पृष्ट, अन्य, अनियत, विशेष और संयुक्त है। स्वभाव की भाषा पढ़ी तब ज्ञात हुआ कि वह अबद्ध-स्पृष्ट, अनन्य, ध्रुव, अविशेष और असंयुक्त है।

इस स्वभाव की अनुभूति ही आत्मा है। वह देह में स्थित होने पर भी उससे भिन्न है।

भगवान् महावीर स्वतंत्रता के साधक थे। वे सारी परम्पराओं से मुक्त होने की दिशा में प्रयाण कर चुके थे। फिर उन्हें अपने से भिन्न किसी परम सत्ता की परतन्त्रता कैसे मान्य होती? उन्होंने परम सत्ता को अपने देह में ही खोज

---

१. आयारो, ९।२।१३-१६; आचारांगचूर्णि, पृ० ३१७; आचारांगवृत्ति, पत्र २८०, २८१।

निकाला।

उनका ध्येय था—आत्मा। उनका ध्यान था—आत्मा। उनका ध्याता था—आत्मा। उनका ध्यान था आत्मा के लिए। उनके सामने आदि से अंत तक आत्मा ही आत्मा था।

तिल में तेल, दूध में घृत और अरणिकाष्ठ में जैसे अग्नि होती है, वैसे ही देह में आत्मा व्याप्त है।

कोल्हू के द्वारा तिल और तेल को पृथक् किया जा सकता है। घर्षण के द्वारा अरणिकाष्ठ और अग्नि को पृथक् किया जा सकता है। वैसे ही भेद-विज्ञान[1] के ध्यान द्वारा देह और आत्मा को पृथक् किया जा सकता है।

भगवान् महावीर ध्यानकाल में देह का व्युत्सर्ग और त्याग कर आत्मा को देखने का प्रयत्न करते थे। स्थूल शरीर के भीतर सूक्ष्म शरीर और सूक्ष्म शरीर के भीतर आत्मा है।

भगवान् चेतना को स्थूल शरीर से हटाकर उसे सूक्ष्म शरीर में स्थापित करते। फिर वहां से हटाकर उसे आत्मा में विलीन कर देते।

आत्मा अमूर्त है, सूक्ष्मतम है, अदृश्य है। भगवान् उसे प्रज्ञा से ग्रहण करते। आत्मा चेतक है, शरीर चैत्य है। आत्मा द्रष्टा है, शरीर दृश्य है। आत्मा ज्ञाता है, शरीर ज्ञेय है। भगवान् इस चेतन, द्रष्टा और ज्ञाता स्वरूप की अनुभूति करते-करते आत्मा तक पहुंच जाते। वे आत्मध्यान में चिंतन का निरोध नहीं करते। वे पहले देह और आत्मा के भेद-ज्ञान की भावना को सुदृढ़ कर लेते। उसके सुदृढ़ होने पर वे आत्मा के चिन्मय स्वरूप में तन्मय हो जाते। अशुद्ध भाव से अशुद्ध भाव की और शुद्ध भाव से शुद्ध भाव की सृष्टि होती है। इस सिद्धान्त के आधार पर भगवान् आत्मा के शुद्ध स्वरूप का ध्यान करते थे। उनका वह ध्यान धारावाही आत्म-चिंतन या आत्म-दर्शन के रूप में चलता था।

भगवान् सर्दी से धूप में नहीं जाते; गर्मी से छाया में नहीं जाते; आंखें नहीं मलते; शरीर को नहीं खुजलाते; वमन-विरेचन आदि का प्रयोग नहीं करते; चिकित्सा नहीं करते; मर्दन, तैल-मर्दन और स्नान नहीं करते। एक शब्द में वे शरीर की सार-सम्हाल नहीं करते। ऐसा क्यों? कुछ विद्वानों ने इस चर्या की व्याख्या यह की है—'भगवान् ने शरीर को कष्ट देने के लिए यह सब किया।' मेरी

---

१. उपयोग चैतन्य का परिणमन है। वह ज्ञान-स्वरूप है। क्रोध आदि भावकर्म, ज्ञानावरण आदि द्रव्यकर्म और शरीर आदि नो-कर्म—ये सब पुद्गल द्रव्य के परिणमन हैं, अचेतन हैं। उपयोग में क्रोध आदि नहीं है और क्रोध आदि में उपयोग नहां है। इनमें पारमार्थिक आधार-आधेयभाव नहीं है। परमार्थतः इनमें अत्यन्त भेद है। इस भेद का बोध ही 'भेद-विज्ञान' है।

व्याख्या इससे भिन्न है। शरीर बेचारा जड़ है। पहली बात—उसे कष्ट होगा ही कैसे ? दूसरी बात—उसे कष्ट देने का अर्थ ही क्या ? तीसरी बात—भगवान् का शरीर धर्म-यात्रा में बाधक नहीं था, फिर वे उसे कष्ट किसलिए देते ? मेरी व्याख्या यह है—भगवान् आत्मा में इतने लीन हो गए कि बाहरी अपेक्षाओं की पूर्ति का प्रश्न बहुत गौण हो गया और चेतना के जिस स्तर पर शारीरिक कष्टों की अनुभूति होती है, वह चेतना अपने स्थान से च्युत होकर चेतना के मुख्य स्रोत की ओर प्रवाहित हो गई। इसलिए वे साधनाकाल में शरीर के प्रति जागरूक नहीं रहे।

तन्मूर्तियोग

भगवान् ध्यान के समय साधन और साध्य में समस्वरता स्थापित करते थे। उनकी भाषा में इसका नाम 'तन्मूर्ति' या 'भावक्रिया' है। यह अतीत की स्मृति और भविष्य की कल्पना से बचकर केवल वर्तमान में रहने की क्रिया के साथ पूर्णरूपेण समंजस होने की प्रक्रिया है। वे इस ध्यान का प्रयोग चलने, खाने-पीने के समय भी करते थे। वे चलते समय केवल चलते ही थे—न कुछ चिंतन करते, न इधर-उधर झांकते और न कुछ बोलते। उनके शरीर और मन—दोनों परिपूर्ण एकता बनाए रखते।

भोजन की वेला में वे केवल खाते ही थे—न स्वाद की ओर ध्यान देते, न चिंतन करते और न बातचीत करते।

भगवान् आवश्यक क्रियाओं से निवृत्त होने पर आत्ममूर्ति हो जाते। वर्तमान क्रिया के प्रति सर्वात्मना समर्पित होकर ही कोई व्यक्ति तन्मूर्ति हो सकता है। भगवान् ने तन्मूर्ति होने के लिए चेतना की समग्र धारा को आत्मा की ओर प्रवाहित कर दिया। मन, विचार, अध्यवसाय, इन्द्रिय और भावना—ये सब एक ही दिशा में गतिशील हो गए।

पुरुषाकार आत्मा का ध्यान

आत्मा दृश्य नहीं है, फिर उसका ध्यान कैसे किया जाए ? यह प्रश्न आज भी उठता है, भगवान् के सामने भी उठा होगा। उन्होंने देखा, आत्मा समूचे शरीर में व्याप्त है। शरीर का एक भी अणु ऐसा नहीं है, जिसमें चेतना अनुप्रविष्ट न हो। पुरुष समग्रतः आत्ममय है, इसलिए भगवान् ने पुरुषाकार आत्मा का ध्यान किया। उन्होंने शरीर के हर अवयव में आत्मा का दर्शन किया। इससे [illegible] से दूर होने में बहुत सहायता मिली।

मन राग के रथ पर आरूढ़ होकर फैलता है। वैराग्य से सिमटकर वह अपने केन्द्र-बिन्दु में स्थित हो जाता है। भगवान् वैराग्य और संवर, ध्यान और अनुभूति के द्वारा मन की धारा को चैतन्य के महासिन्धु में विलीन कर रहे थे।

१७

कहीं वंदना और कहीं बंदी

विश्व के हर अंचल में विविधता का साम्राज्य है। एक-रूप कौन है और एक-रूपता कहां है ? जीवन की धारा अनगिन घाटियों और गढों को पार कर प्रवाहित हो रही है। केवल समतल पर अंकित होने वाले चरण-चिह्न कहीं भी अस्तित्व में नहीं हैं।

१. भगवान् उत्तर वाचाला से प्रस्थान कर श्वेतव्या पहुंचे।[1] राजा प्रदेशी ने भगवान् की उपासना की। भगवान् की दृष्टि में राजा की उपासना से अपनी उपासना का मूल्य अधिक था। इसलिए वे पूजा में लिप्त नहीं हुए। वे श्वेतव्या से विहार कर सुरभिपुर की ओर आगे बढ़ गए। मार्ग में पांच नैयक राजा मिले। वे राजा प्रदेशी के पास जा रहे थे। उन्होंने भगवान् को आते देखा। वे अपने-अपने रथ से नीचे उतरे। भगवान् को वंदना कर आगे चले गए।[2]

२. भगवान् एक बार पुरिमताल नगर में गए।[3] वहां वग्गुर नाम का श्रेष्ठी रहता था। उसकी पत्नी का नाम था भद्रा। वह पुत्र के लिए अनेक देवी-देवताओं की मनौती कर रही थी। फिर भी उसे पुत्र-लाभ नहीं हुआ। एक बार वग्गुर दंपति उद्यान में क्रीडा करने गया। वहां उसने अर्हत् मल्ली का जीर्ण-शीर्ण मंदिर देखा। श्रेष्ठी ने संकल्प किया—'यदि मेरे घर पुत्र उत्पन्न हो जाये तो मैं इस मंदिर का नव-निर्माण करा दूंगा।' संयोग की बात है, पुत्र का जन्म हो गया। श्रेष्ठी ने मंदिर का पुनरुद्धार करा दिया।

एक दिन वग्गुर दंपति पूजा करने मंदिर में जा रहा था। उस समय भगवान्

---

१. साधना का दूसरा वर्ष।

२. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २७९-२८०।

३. साधना का आठवां वर्ष।

महावीर उस उद्यान में ध्यान कर रहे थे। एक दिव्य आत्मा ने देखा। वह बोल उठी—'कितना आश्चर्य है कि वग्गुर दंपति साक्षात् भगवान् को छोड़ मूर्ति को पूजने जा रहा है!' वग्गुर दंपति को अपनी भूल पर अनुताप हुआ। उसकी दिशा बदल गई। वह भगवान् की आराधना में तल्लीन हो गया।[1]

३. भगवान् सिद्धार्थपुर से प्रस्थान कर वैशाली पहुंचे।[2] वे नगर के बाहर कायोत्सर्ग की मुद्रा में खड़े थे। उनकी दृष्टि एक वस्तु पर टिकी हुई थी, स्थिर और अनिमेष। बच्चों ने उन्हें देखा। वे डर गए। वे इधर-उधर घूमकर भगवान् को सताने लगे। उस समय राजा शंख वहां पहुंच गया। वह महाराज सिद्धार्थ का मित्र था। वह भगवान् को पहचानता था। उसने भगवान् को उस विघ्न से मुक्त किया। वह भगवान् को वंदना कर अपने आवास की ओर चला गया।[3]

४. भगवान् कुमाराक सन्निवेश से चोराक सन्निवेश पहुंचे।[4] वहां चोरों का बड़ा आतंक था। उसके प्रहरी बड़े सतर्क थे। उनकी आंखों से बचकर कोई भी आदमी सन्निवेश में नहीं पहुंच पाता था। प्रहरियों ने भगवान् को देखा और परिचय पूछा। भगवान् मौन रहे। प्रहरी क्रुद्ध हो गए। उस समय गोशालक भगवान् के साथ था। वह भी मौन रहा। प्रहरी और बिगड़ गए। वे दोनों को सताने लगे। एक ओर मौन और दूसरी ओर उत्पीड़न—दोनों लम्बे समय तक चले। सन्निवेश के लोगों ने यह देखा। बात आगे से आगे फैलती गई।

उस सन्निवेश में दो परिव्राजिकाएं रहती थीं। एक का नाम था सोमा और दूसरी का नाम था जयंती। वे भगवान् पार्श्व की परम्परा में साध्वियां बनी थीं। वे साधुत्व की साधना में असमर्थ होकर परिव्राजिकाएं बन गई थीं। उन्होंने सुना कि आज सन्निवेश के प्रहरी दो तपस्वियों को सता रहे हैं। प्रहरी उनसे परिचय मांग रहे हैं और वे अपना परिचय नहीं दे रहे हैं। यही उनके सताने का हेतु है। परिव्राजिकाओं ने सोचा—'ये तपस्वी कौन हैं? भगवान् महावीर इसी क्षेत्र में विहार कर रहे हैं। वे साधना में तन्मय होने के कारण बहुत कम बोलते हैं। कहीं वे ही तो नहीं हैं?'

दोनों परिव्राजिकाएं घटनास्थल पर आईं। उन्होंने देखा, भगवान् महावीर मौन और शान्त खड़े हैं, प्रहरी अशान्त और उद्विग्न। प्रहरी अपने कर्तव्य का पालन कर रहे हैं और भगवान् मौन का प्रायश्चित्त।

'प्रिय प्रहरियो! यह चोर नहीं हैं। यह महाराज सिद्धार्थ के पुत्र भगवान्

---

१ आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २९४-२९५।
२. साधना का दसवां वर्ष।
३. आयारो, ९।१।५; आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २९६।
४. साधना का चौथा वर्ष।

महावीर हैं। क्या तुम और परिचय पाना चाहते हो ?' परिव्राजिका-युगल ने कहा। प्रहरी अवाक् रह गए। उन्हें अपने कृत्य पर अनुताप हुआ। वे बोले, 'पूज्य परिव्राजिकाओ ! हम आपके बहुत-बहुत आभारी हैं। आपने हमें धर्म-संकट से उबार लिया है। हम अब और परिचय नहीं चाहते। हम इस तरुण तपस्वी से क्षमा चाहते हैं। इस कार्य में आप हमारा सहयोग कीजिए।' वे प्रायश्चित्त की मुद्रा में भगवान् के चरणों में झुक गए। भगवान् की सौम्य-स्निग्ध दृष्टि और मुखमण्डल से टपक रही प्रसन्नता ने उनका भार हर लिया।

'भंते ! हमारे प्रहरियों ने आपका अविनय किया है, पर श्रमण-परम्परा के महान् साधक अबोध व्यक्तियों के अज्ञान को क्षमा करते आए हैं। हमें विश्वास है, आप भी उन्हें क्षमा कर देंगे। भंते ! हमारा छोटा-सा परिचय यह है, हम दोनों नैमित्तिक उत्पल की बहनें हैं।'

परिचय के प्रसंग में वे अपना परिचय देकर, जिस दिशा से आई थीं, उसी दिशा की ओर चली गईं। भगवान् अपने गंतव्य की ओर आगे बढ़ गए।[1]

५. मेघ और कालहस्ती दोनों भाई थे। कलंबुका उनके अधिकार में था। ये सीमान्तवासी थे।

एक बार कालहस्ती कुछ चोरों को साथ ले चोरी करने जा रहा था। भगवान् चोराक सन्निवेश से प्रस्थान कर कलंबुका की ओर जा रहे थे। गोशालक उनके साथ था।

कालहस्ती ने भगवान् का परिचय पूछा। भगवान् नहीं बोले। उसने फिर पूछा, भगवान् फिर मौन रहे। गोशालक भी मौन रहा। कालहस्ती उत्तेजित हो उठा। उसने अपने साथियों से कहा, 'इन्हें बांधकर कलंबुका ले जाओ और मेघ के सामने उपस्थित कर दो।'

मेघ अपने वासकक्ष में बैठा था। उसके सेवक दोनों तपस्वियों को साथ लिये वहां पहुंचे। उसने भगवान् को पहचान लिया और मुक्त कर दिया।[2]

भगवान् को बंदी बनाने का जो सिलसिला चला उसके पीछे सामयिक परिस्थितियों का एक चक्र है। उस समय छोटे-छोटे राज्य थे। वे एक-दूसरे को अपने अधिकार में लेने के लिए लालायित रहते थे। गुप्तचर विभिन्न वेशों में इधर-उधर घूमते थे। इसीलिए हर राज्य के आरक्षिक बहुत सतर्क रहते। वे किसी भी अपरिचित व्यक्ति को अपने राज्य की सीमा में नहीं घुसने देते।

६. कूपिय सन्निवेश के आरक्षिकों ने भगवान् को गुप्तचर समझकर बंदी

---

१. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २८६-२८७।

२. साधना का पांचवां वर्ष। स्थान—कलंबुका सन्निवेश। आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २६०।

वना लिया।[1] भगवान् के मौन ने उनके सन्देह को पुष्ट कर दिया। यह घटना पूरे सन्निवेश में विजली की भांति फैल गई। वहां भगवान् पार्श्व की परंपरा की दो साध्वियां रहती थीं। एक का नाम था विजया और दूसरी का नाम था प्रगल्भा। इस घटना की सूचना पाकर वे आरक्षि-केन्द्र में पहुंचीं। उन्होंने आरक्षिकों को भगवान् का परिचय दिया। भगवान् मुक्त हो गए।[2]

यह नियति की कैसी विडंवना है कि भगवान् मुक्ति की साधना में रत हैं और कुछ लोग उन्हें वंदी वनाने में प्रवृत्त हैं।

७. लोहार्गला में भी भगवान् के साथ यही हुआ।[3] उस राज्य के अपने पड़ोसी राज्य के साथ तनावपूर्ण सम्वन्ध चल रहे थे। वहां के अधिकारी आने-जाने वालों पर कड़ी निगरानी रखते थे। उन्हीं दिनों भगवान् महावीर और गोशालक वहां आ गए। प्रहरियों ने उनसे परिचय मांगा। उन्होंने वह दिया नहीं। उन्हें वंदी वनाकर राजा जितशत्रु के पास भेजा गया। नैमित्तिक उत्पल अस्थिकग्राम से वहां आया हुआ था। वह राज्य-सभा में उपस्थित था। वह भगवान् को वन्दी के रूप में देख स्तव्ध रह गया। वह भावावेश की मुद्रा में वोला, 'यह कैसा अन्याय !' राजा ने पूछा, 'उत्पल ! राज्य-अधिकारियों के कार्य में हस्तक्षेप करना भी क्या कोई निमित्तशास्त्र का विधान है ?'

'यह हस्तक्षेप नहीं है, महाराज ! यह अधिकारियों का अविवेक है।'

'यह क्या कह रहे हो, उत्पल ? आज तुम्हें क्या हो गया ?'

'कुछ नहीं हुआ, महाराज ! मेरा सिर लाज से झुक गया है।'

'क्यों ?'

'क्या आप नहीं देख रहे हैं, आपके सामने कौन खड़े हैं ?'

'वंदी है, मैं देख रहा हूं।'

'ये वंदी नहीं हैं। ये मुक्ति के महान् साधक भगवान् महावीर हैं।'

महावीर का नाम सुनते ही राजा सहम गया। वह जल्दी से उठा और उसने भगवान् के वन्धन खोल दिए और अपने अधिकारियों की भूल के लिए क्षमा मांगी।

भगवान् वंदी वनने के समय भी मौन थे और अव मुक्ति के समय भी मौन।[4]

उनका चित्त मुक्ति का द्वार खोल चुका था, इसलिए वह शरीर के वंदी होने पर रोष का अनुभव नहीं कर रहा था और मुक्त हो जाने पर हर्ष की हिलोरें नहीं

---

१. साधना का छठा वर्ष।

२. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २९१-२९२।

३. साधना का आठवां वर्ष।

४. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २९४।

ले रहा था। बेचारे बंदी को बंदी बनाने का यह अभिनव प्रयोग चल रहा था।

८. इस दुनिया में जो घटित होता है, वह सब सकारण ही नहीं होता। कुछ-कुछ निष्कारण भी होता है। हिरण घास खाकर जीता है, फिर भी शिकारी उसके पीछे पड़े हैं। मछली पानी में तृप्त है, फिर भी मच्छीगर उसे जीने नहीं देते। सज्जन अपने आप में संतुष्ट है, फिर भी पिशुन उसे आराम की नींद नहीं लेने देते।

भगवान् तोसली गांव के उद्यान में ध्यान कर खड़े थे।[1] संगम देव उनके कार्य में विघ्न उत्पन्न कर रहा था। वह साधु का वेश बना गांव में गया और सेंध लगाने लगा। लोग उसे पकड़कर पीटने लगे। तब वह बोला, 'आप मुझे क्यों पीटते हैं ?'

'सेंध तुम लगा रहे हो, तब किसी दूसरे को क्यों पीटें ?'

'मैं अपनी इच्छा से चोरी करने नहीं आया हूं। मेरे गुरु ने मुझे भेजा है, इसलिए आया हूं।'

'कहां हैं तुम्हारे गुरु ?'

'चलिए, अभी बताए देता हूं।'

संगम आगे हो गया। गांव के लोग उसके पीछे-पीछे चलने लगे। वे सब भगवान् के पास पहुंचे। संगम ने कहा, 'ये हैं मेरे गुरु।' लोगों ने भगवान् से पूछा, 'क्या तुम चोर हो ?' भगवान् मौन रहे। लोगों ने फिर पूछा, 'क्या तुमने इसे चोरी करने के लिए भेजा था ?' भगवान् अब भी मौन थे। लोगों ने सोचा, कोई उत्तर नहीं मिल रहा है, अवश्य ही इसमें कोई रहस्य छिपा हुआ है। वे भगवान् को बांधकर गांव में ले जाने लगे।

महाभूतिल उस युग का प्रसिद्ध ऐन्द्रजालिक था। वह उस रास्ते से जा रहा था। उसने देखा, 'बन्धन मुक्ति को अभिभूत करने का प्रयत्न कर रहा है।' उसने दूर से ही ग्रामवासियों को ललकारा—'मूर्खो ! यह क्या कर रहे हो ?' उन्होंने देखा—यह महाभूतिल बोल रहा है। उनके पैर ठिठक गए। वे कुछ सिर झुकाकर बोले, 'महाराज ! यह चोर है। इसे पकड़कर गांव में ले जा रहे हैं।' इतने में महाभूतिल नज़दीक आ गया। वह भगवान् के पैरों में लुढ़क गया।

ग्रामवासी आश्चर्य में डूब गए। यह क्या हो रहा है ? हम भूल रहे हैं या महाभूतिल ? क्या यह चोर नहीं ? वे परस्पर फुसफुसाने लगे। महाभूतिल ने दृढ़ स्वर में कहा, 'यह चोर नहीं है। महाराज सिद्धार्थ का पुत्र राजकुमार महावीर है। जिस व्यक्ति ने राज्य-संपदा को त्यागा है, वह तुम्हारे घरों में चोरी करेगा ? मुझे लगता है कि तुम लोग चिंतन के क्षेत्र में बिलकुल दरिद्र हो।'

---

१. साधना का ग्यारहवां वर्ष।

'महाराज ! आप क्षमा करें। हमारी भूल हुई है, उसका कारण हमारा अज्ञान है। हमने जान-बूझकर ऐसा नहीं किया।' ग्रामवासी एक साथ चिल्लाए।

भगवान् पहले भी शान्त थे, बीच में भी शान्त थे और अब भी शान्त हैं। शान्ति ही उनके जीवन की सफलता है।[1]

९. भगवान् तोसली से प्रस्थान कर मोसली गांव पहुंचे।[2] वहां संगम ने फिर उसी घटना की पुनरावृत्ति की। आरक्षिक भगवान् को पकड़कर राजकुल में ले गए। उस गांव के शास्ता का नाम था सुमागध। वह सिद्धार्थ का मित्र था। उसने भगवान् को पहचाना और मुक्त कर दिया। उसने अपने आरक्षिकों की भूल के लिए क्षमा मांगी और हार्दिक अनुताप प्रकट किया।[3]

१०. भगवान् फिर तोसली गांव में आए।[4] संगम ने कुछ औजार चुराए और भगवान् के पास लाकर रख दिए। आरक्षिक भगवान् को तोसली क्षत्रिय के पास ले गए। क्षत्रिय ने कुछ प्रश्न पूछे। भगवान् ने कोई उत्तर नहीं दिया। क्षत्रिय के मन में संदेह हो गया। उसने फांसी के दंड की घोषणा कर दी।

जल्लाद ने भगवान् के गले में फांसी का फंदा लटकाया और वह टूट गया। दूसरी बार फिर लटकाया और फिर टूट गया। सात बार ऐसा ही हुआ। आरक्षिक हैरान थे। वे क्षत्रिय के पास आए और बीती बात कह सुनाई। क्षत्रिय ने कहा, 'यह चोर नहीं है। कोई पहुंचा हुआ साधक है।' वह दौड़ा-दौड़ा आया। भगवान् के चरणों में नमस्कार कर उसने अपने अपराध के लिए क्षमा-याचना की।[5]

भगवान् अक्षमा और क्षमा—दोनों की मर्यादा से मुक्त हो चुके थे। उनके सामने न कोई अक्षम्य था और न कोई क्षम्य। वे सहज शान्ति की सरिता में निष्णात होकर विहार कर रहे थे।

---

१. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० ३१२।
२. साधना का ग्यारहवां वर्ष।
३. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० ३१३।
४. साधना का ग्यारहवां वर्ष।
५. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० ३१३।

१८

नारी का बन्ध-विमोचन

नवोदित सूर्य की रश्मियां व्योमतल में तैरती हुई धरती पर आ रही हैं। तिमिर का सघन आवरण खण्ड-खण्ड होकर शीर्ण हो रहा है। प्रकाश के अंचल में हर पदार्थ अपने आपको प्रकट करने के लिए उत्सुक-सा दिखाई दे रहा है। नींद की मादकता नष्ट हो रही है। जागरण का कार्य तेजी के साथ बढ़ रहा है।

चंपा के नागरिकों ने जागकर देखा, उनकी नगरी शत्रु की सेना से घिर गई है। वे इस आकस्मिक आक्रमण से आश्चर्य-स्तब्ध हैं। 'यह किसकी सेना है? इसने किस हेतु से हमारी नगरी पर घेरा डाला है? क्या पहले कोई दूत आया था? क्या हमारे राज्य की सेना इस आकस्मिक आक्रमण के लिए तैयार है।' यत्र-तत्र ये प्रश्न पूछे जाने लगे। पर इनका समुचित उत्तर कौन दे?

राजा दधिवाहन वहां उपस्थित नहीं था। वह सुभद्र की सहायता के लिए गया हुआ था।

सुभद्र छोटा राजा था। वह चंपा की अधीनता में अपना शासन चलाता था। उसने अपनी रूपसी कन्या की सगाई अहिच्छत्रा के राजकुमार के साथ कर दी। भद्दिला के राजा मदनक को यह प्रिय नहीं लगा। वह उस कन्या को अपने अंतःपुर में लाना चाहता था। उसने सुभद्र को युद्ध की चुनौती दे दी। सुभद्र ने दधिवाहन की सहायता चाही। दधिवाहन अपनी सेना के साथ रणभूमि में पहुंच गया।

वत्स देश का अधिपति शतानीक अंग देश को अपने राज्य में विलीन करने का स्वप्न संजोए बैठा था। एक बार अंग देश की सेना ने उसका स्वप्न भंग कर दिया था, इसका भी उसके मन में रोष था।

शतानीक का सेनापति काकमुख धारिणी के स्वयंवर में असफल हो चुका था। दधिवाहन की सफलता पर उसे ईर्ष्या हो गई। धारिणी के प्रति उसके मन में अब भी आकर्षण था। शतानीक की स्वप्नपूर्ति और काकमुख की प्रतिशोध-भावना को एक

साथ अवसर मिला। काकमुख के संचालन में वत्स की सेना ने स्थल और जल—दोनों ओर से चंपा पर आक्रमण कर दिया। चंपा की सेना इस आकस्मिक आक्रमण से हतप्रभ हो गई। राजा उपस्थित नहीं था, वह युद्ध के लिए तैयार नहीं थी। फिर भी उसने प्रतिरोध किया किन्तु वत्स की सुसज्जित सेना का वह लम्बे समय तक सामना नहीं कर सकी। राजधानी के द्वार शत्रु सैनिकों के लिए खुल गए। काकमुख के प्रतिशोध की आग बुझी नहीं। उसने चंपा को लूटने की स्वीकृति दे दी। वत्स के सैनिक चंपा पर टूट पड़े।

उन्होंने किसी भी प्रासाद को शेष नहीं छोड़ा। वे राजप्रासाद में भी पहुंच गए। काकमुख ने रानी धारिणी और उसकी कन्या वसुमती का अपहरण कर लिया।

सैनिक अपनी-अपनी बहादुरी बखानते लौट रहे थे। यह मानव-जाति का दुर्भाग्यपूर्ण इतिहास है कि मनुष्य दूसरे मनुष्यों को लूटकर प्रसन्नता का अनुभव करता है, दूसरों को अशान्ति की भट्टी में झोंककर शान्ति का अनुभव करता है।

चंपा के नागरिकों ने क्या अपराध किया था? उन्होंने शतानीक या उसकी सेना का क्या बिगाड़ा था? उनका अपराध यही था कि वे विजेता देश के नागरिक नहीं थे, पराजित देश के नागरिक थे। शक्तिहीनता क्या कम अपराध है? शक्तिहीन निरपराध को हमेशा अपराधी के कठघरे में खड़ा होना पड़ा है। दधिवाहन की सेना शतानीक की सेना के सामने अल्पवीर्य थी। शतानीक की सेना पूरी सज्जा के साथ आक्रामक होकर आई थी। दधिवाहन की सेना युद्ध के लिए तैयार नहीं थी। प्रमाद क्या कम अपराध है? जो अपने दायित्व के प्रति जागरूक नहीं होता, उसे सदा यातनाएं झेलनी पड़ी हैं।

विजेता का उन्माद शक्ति-प्रदर्शन किए बिना कब शान्त होता है? इस अ-हेतुक शक्ति-प्रदर्शन में हजारों-हजारों नागरिकों को काल-रात्रि भुगतनी पड़ी। फिर राजप्रासाद कैसे बच पाता और कैसे बच पाता उसका अन्तःपुर? धारिणी और वसुमती को उसी मानवीय क्रूरता के अट्टहास का शिकार होना पड़ा।

काकमुख ने अपने पराक्रम का बखान इन शब्दों में किया, 'मैंने धन की ओर ध्यान नहीं दिया। मैं सीधा राजप्रासाद में पहुंचा। वहां मेरा कुछ प्रतिरोध भी हुआ। पर मैं उसे चीरकर अन्तःपुर में पहुंच गया और महारानी को ले आया। मुझे पत्नी की आवश्यकता है। यह मेरी पत्नी होगी। एक कन्या को भी ले आया हूं। यदि धन आवश्यक होगा तो इसे बेच दूंगा।'

काकमुख की बातें सुन महारानी का सुकुमार मन उद्वेलित हो गया। उसके हृदय पर तीव्र आघात लगा। वह मूर्च्छित हो गई। वसुमती ने अपनी मां को सचेत करने का प्रयत्न किया। पर उसकी मूर्च्छा नहीं टूटी। उसके हृदय की गति व्यथा को रोकने में अक्षम होकर स्वयं रुक गई। काकमुख ने महारानी का अपहरण

किया और उसकी वाणी ने महारानी के प्राणों का अपहरण कर लिया। अब शेष रह गया, उसका निष्प्राण और निस्पन्द शरीर।

महारानी के महाप्रयाण ने काकमुख का हृदय बदल दिया। उसकी आंखें खुल गईं। उसका मानवीय रूप जाग उठा। उसने अपने कार्य के प्रति सोचा। उसे लगा, जैसे महारानी का अपहरण करते समय वह उन्माद में धुत्त था। प्रत्येक आवेश मनुष्य को धुत्त कर देता है। अब उन्माद के उतर जाने पर उसे अपनी और अपने साथियों की चेष्टा की व्यर्थता का अनुभव हो रहा है। उन्माद की समाप्ति पर हर आदमी ऐसा ही अनुभव करता है। पर जो होना होता है, वह तो उन्माद की छाया में हो जाता है, फिर मूर्च्छा-भंग घटित घटना का पाप-प्रक्षालन कैसे कर सकता है?

काकमुख का दायां हाथ पाप के रक्त से रंजित हो गया। उसका बायां हाथ अभी बच रहा था। वह उसके रक्त-रंजित होने की आशंका से भयभीत हो उठा। उसने वसुमती के सामने अपनी अधमता को उघाड़कर रख दिया। उसकी अश्रुपूरित आंखों में क्षमा की मांग सजीव हो उठी। हताश काकमुख व्यथित वसुमती को साथ लिये कौशाम्बी पहुंच गया।

वह युग मनुष्यों के विक्रय का युग था। आज हमें पशु-विक्रय स्वाभाविक लगता है। उस युग में मनुष्य-विक्रय इतना ही स्वाभाविक था। बिका हुआ मनुष्य दास बन जाता और वह खरीददार की चल-संपत्ति हो जाता। उस युग में मनुष्य का मूल्य आज जितना नहीं था। आज का मनुष्य पशु की श्रेणी से ऊंचा उठ गया है। इस आरोहण में दीर्घ तपस्वी महावीर की तपस्या का कम योग नहीं है।

काकमुख वसुमती को लेकर मनुष्य-विक्रय के बाजार में उपस्थित हो गया। बाजार में बड़ी चहल-पहल है। सैकड़ों आदमी बिकने के लिए खड़े हैं। विक्रेताओं और क्रेताओं के बीच बोलियां लग रही हैं।

वसुमती राजकन्या थी। उसका रूप-लावण्य मुसकरा रहा था। यौवन उभार की दहलीज पर पैर रखे खड़ा था। इतनी रूपसी और शालीन कन्या की बिक्री! सारा बाजार स्तब्ध रह गया।

हर ग्राहक ने वसुमती को खरीदना चाहा। पर उसका मोल इतना अधिक था कि उसे कोई खरीद नहीं सका।

उस समय श्रेष्ठी धनावह उधर से जा रहा था। उसने वसुमती को देखा। वह अवाक् रह गया। उसे कन्या की कुलगरिमा और वर्तमान की दयनीय परिस्थिति—दोनों की कल्पना हो गई। उसका हृदय करुणा से भर गया। वह भारी कीमत चुकाकर कन्या को अपने घर ले आया।

श्रेष्ठी ने मृदु स्वर में कहा, 'पुत्री! मैं तुम्हारा परिचय जानना चाहता हूं।' वसुमती की मुद्रा गंभीर हो गई। वह कुछ नहीं बोली। श्रेष्ठी ने फिर अपनी बात

दोहराई। वसुमती फिर मौन रही। उसने तीसरी बार फिर पूछा, तब वसुमती ने इतना ही कहा, 'मैं आपकी दासी हूं। इससे अधिक मेरा परिचय कुछ नहीं है।' उसकी आंखों से अश्रुधारा बह चली। श्रेष्ठी का दिल पसीज गया। उसने बात का सिलसिला तोड़ दिया।

श्रेष्ठी धनावह की पत्नी का नाम था मूला। वह वसुमती को देख आश्चर्य में पड़ गई। धनावह ने उससे कहा, 'तुम्हारे लिए पुत्री लाया हूं। इसका ध्यान रखना।'

वसुमती के स्वभाव और व्यवहार ने समूचे घर को मोहित कर लिया। उसने धनावह के घर में दासी के रूप में पैर रखा था, पर अपनी विशिष्टता के कारण वह पुत्री बन गई। शील की सुगंध और शीतलता ने उसे वसुमती से चंदना बना दिया।

चंदना का दिन-दिन निखरता सौन्दर्य अन्य युवतियों के मन में ईर्ष्या भरने लगा। एक दिन मूला के मन में आशंका के बादल उमड़ आए। वह सोचने लगी, 'श्रेष्ठी चंदना के बारे में सही बात नहीं बता रहे हैं। वे इसके प्रति बहुत आकृष्ट हैं। कहीं धोखा न हो जाए? इसके साथ विवाह न कर लें? यदि कर लिया तो फिर मेरी क्या गति होगी?'—इन अर्थशून्य विकल्पों ने मूला को विक्षिप्त-जैसा बना दिया।

जिसे अपने-आप पर भरोसा नहीं होता, उसके लिए पग-पग पर विक्षेप की परिस्थिति निर्मित हो जाती है। मनुष्य अपनी शक्ति के सहारे जीना क्यों पसन्द नहीं करता? उसे अपनी ओर निहारना क्यों नहीं अच्छा लगता? दूसरों की ओर निहारकर क्या वह अपनी शक्ति को कुंठा की कारा में कैद नहीं कर देता? पर यह मानवीय दुर्बलता है। इस दुर्बलता से उबारने के लिए ही भगवान् महावीर ने आत्म-दीप की लौ जलाई थी।

मध्याह्न का सूर्य पूरी तीव्रता से तप रहा था। धरती का हर कोना प्रकाश की आभा से चमक उठा था। हर मनुष्य का शरीर प्रस्वेद की बूंदों से अभिषिक्त हो रहा था। उस समय धनावह बाजार से छुट्टी पाकर घर आया। नौकर सब चले गए थे। पैर धोने के लिए जल लाने वाला भी कोई नहीं था। पूरा घर खाली था। चंदना ने श्रेष्ठी को देखा। वह पानी लेकर पैर धुलाने आई। श्रेष्ठी ने उसे रोका। पर वह आग्रहपूर्वक श्रेष्ठी के पैर धोने लगी। उस समय उसकी केश-राशि बिकीर्ण होकर भूमि को छूने लगी। उसे कीचड़ से बचाने के लिए श्रेष्ठी ने उसे अपने लीला-काष्ठ से उठा लिया और व्यवस्थित कर दिया। मूला वातायन में बैठी-बैठी यह सब देख रही थी। श्रेष्ठी के मन में कोई पाप नहीं था और चंदना का मन भी निष्पाप था। पाप भरा था मूला के मन में। वह जाग उठा।

धनावह विश्राम कर फिर बाजार में चला गया। मूला घर के भीतर आई।

नौकर को भेजकर नाई को बुलाया। चंदना का सिर मुंड़वा दिया। हाथ-पैरों में बेड़ियां डाल दीं। एक ओरे में बिठा, उसका दरवाजा बन्द कर ताला लगा दिया। दास-दासियों को कड़ा निर्देश दे दिया कि इस घटना के बारे में श्रेष्ठी को कोई कुछ भी न कहे और न चंदना की उपस्थिति का अता-पता बताए। यदि किसी ने इस निर्देश की अवहेलना की तो उसके प्राण सुरक्षित नहीं होंगे।

अपराह्न के भोजन का समय। श्रेष्ठी घर पर आया। भोजन के समय चंदना पास रहती थी। आज वह दिखाई नहीं दी। श्रेष्ठी ने पूछा, 'चंदना कहां है ?' सबसे एक ही उत्तर मिला, 'पता नहीं।' श्रेष्ठी ने सोचा, 'कहीं क्रीड़ा कर रही होगी या प्रासाद के ऊपरी कक्ष में बैठी होगी।'

श्रेष्ठी दूकान के कार्य से निवृत्त होकर रात को फिर घर आया। चंदना को वहां नहीं देखा। फिर पूछा और वही उत्तर मिला। श्रेष्ठी ने सोचा, जल्दी सो गई होगी। दूसरे दिन भी उसे नहीं देखा। श्रेष्ठी ने उसी कल्पना से अपने मन का समाधान कर लिया। तीसरे दिन भी वह दिखाई नहीं दी। तब श्रेष्ठी गम्भीर हो गया। उसने दास-दासियों को एकत्र कर कहा, 'बताओ, चंदना कहां है ?' वे सब दुविधा में पड़ गए। बताएं तो मौत और न बताएं तो मौत। एक ओर सेठानी का भय और दूसरी ओर श्रेष्ठी का भय। उन्हें सूझ नहीं रहा था कि वे क्या करें ? एक बूढ़ी दासी ने साहस बटोरकर सबकी समस्या सुलझा दी। जो मृत्यु के भय को चीर देता है, वह अपनी ही नहीं, अनेकों की समस्या सुलझा देता है। उस स्थविरा दासी ने कहा, 'चंदना इस ओरे में बन्द है।'

'यह किसने किया ?' संभ्रम के साथ श्रेष्ठी ने पूछा।

'इसका उत्तर आप हमसे क्यों पाना चाहते हैं ?' स्वर को कुछ उद्धत करते हुए स्थविरा दासी ने कहा।

श्रेष्ठी बात की गहराई तक पहुंच गया। उसने तत्काल दरवाजा खोला। बादलों की घोर घटा एक ही क्षण में फट गई। निरभ्र आकाश में सूर्य की भांति चंदना का भाल ज्योति विकीर्ण करने लगा।

'यह क्या हुआ, पुत्री ! मैंने कल्पना ही नहीं की थी कि तुम्हारे साथ कोई ऐसा व्यवहार करेगा ?'

'पिताजी ! किसी ने कुछ नहीं किया। यह सब मेरे ही किसी अज्ञात संस्कार का सृजन है।'

चंदना की उदात्त भावना और स्नेहिल वाणी ने श्रेष्ठी को शान्त कर दिया। वह बोला, 'मैं बहुत दुःखी हूं, पुत्री ! तुम तीन दिन से भूखी-प्यासी हो।'

'कुछ नहीं, अब खा लूंगी।'

श्रेष्ठी ने रसोई में जाकर देखा, भोजन अभी बना नहीं है। भात बचे हुए नहीं है। केवल उबले हुए थोड़े उड़द बच रहे हैं। उसने शूर्प के कोने में उन्हें डाला और

चंदना के सामने लाकर रख दिया।

'पुत्री ! तुम खाओ। मैं लुहार को साथ लिये आता हूं'—इतना कहकर श्रेष्ठी घर से बाहर चला गया।

भगवान् महावीर वैशाली और कौशाम्बी के मध्यवर्ती गांवों में विहार कर रहे थे। उन्हें पता चला कि शतानीक ने विजयादशमी का उत्सव चंपा को लूटकर मनाया है। उसके सैनिकों ने जीभरकर चंपा को लूटा है और किसी सैनिक ने धारिणी और वसुमती का अपहरण कर लिया है। उनके सामने अहिंसा के विकास की आवश्यकता ज्वलंत हो उठी। वे इस चिंतन में लग गए कि हिंसा कितना बड़ा पागलपन है। उसका खूनी पंजा अपने सगे-सम्बन्धियों पर भी पड़ जाता है। कौन पद्मावती और कौन मृगावती ! दोनों एक ही पिता (महाराज चेटक) की प्रिय पुत्रियां। पद्मावती का घर उजड़ा तो उससे मृगावती को क्या सुख मिलेगा ? पर हिंसा के उन्माद में उन्मत्त ये राजे बेचारी स्त्रियों की बात कहां सुनते हैं ? ये अपनी मनमानी करते हैं।

शक्तिशाली राजे शक्तिहीन राजाओं पर आक्रमण कर उनका राज्य हड़प लेते हैं। यह कितनी गलत परम्परा है। वे जान-बूझकर इस गलत परम्परा को पाल रहे हैं। क्या शतानीक अजर-अमर रहेगा ? क्या वह सदा इतना शक्तिशाली रहेगा ? कौन जानता है कि उसकी मृत्यु के बाद उसके राज्य पर क्या बीतेगा ? ये राजे अहं से अन्धे होकर यथार्थ को भुला देते हैं। इस प्रकार की घटनाएं मुझे प्रेरित कर रही है कि मैं अहिंसा का अभियान शुरू करूं।

भगवान् को फिर पता चला कि महारानी धारिणी मर गई और वसुमती दासी का जीवन जी रही है। इस घटना का उनके मन पर गहरा असर हुआ। नारी-जाति की दयनीयता और दास्य-कर्म—दोनों का चित्र उनकी आंखों के सामने उभर आया। उन्होंने मन-ही-मन इसके अहिंसक प्रतिकार की योजना बना ली।

साधना का बारहवां वर्ष चल रहा था। भगवान् कौशाम्बी आ गए। पौष मास का पहला दिन। भगवान् ने संकल्प किया, 'मैं दासी बनी हुई राजकुमारी के हाथ से ही भिक्षा लूंगा, जिसका सिर मुंडा हुआ है, हाथ-पैरों में बेड़ियां हैं, तीन दिन की भूखी है और आंखों में आंसू है, जो देहलीज के बीच में खड़ी है और जिसके सामने शूर्प के कोने में उबले हुए थोड़े से उड़द पड़े हैं।'[1]

चंदना का यह चित्र भगवान् के प्रतिभज्ञान में अंकित हो गया। दासी के इस बीभत्स रूप में ही उन्हें चंदना के उज्ज्वल भविष्य का दर्शन हो रहा था।

भगवान् कौशाम्बी के घरों में भिक्षा लेने गए। लोगों ने बड़ी श्रद्धा के साथ

१ आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० ३१६, ३१७।

उन्हें भोजन देना चाहा। पर भगवान् उसे लिये बिना ही लौट आए। दूसरे दिन भी यही हुआ। तीसरे-चौथे दिन भी यही हुआ। लोगों में बातचीत का सिलसिला प्रारम्भ हो गया। भगवान् भिक्षा के लिए घरों में जाते हैं पर भोजन लिये बिना ही लौट आते हैं, यह क्यों ? यह प्रश्न बार-बार पूछा जाने लगा।

चार मास वीत गए। भगवान् का सत्याग्रह नहीं टूटा। कौशाम्बी के नागरिक यह जानते है कि भगवान् भोजन नहीं कर रहे हैं, पर यह नहीं जान पाए कि वे भोजन क्यों नहीं कर रहे हैं ? भगवान् इस विषय पर मौन हैं। उनका मौन-संकल्प दिन-दिन सशक्त होता जा रहा है।

सुगुप्त कौशाम्बी का अमात्य है। उसकी पत्नी का नाम है नंदा। वह श्रमणों की उपासिका है। भगवान् भिक्षा के लिए उसके घर पधारे। उसने भोजन लेने का बहुत आग्रह किया, पर भगवान् ने कुछ भी नहीं लिया। नंदा मर्माहत-सी हो गई। तब उसकी दासी ने कहा, 'सामिणी ! इतना दुःख क्यों ? यह तपस्वी कौशाम्बी के घरों में सदा जाता है पर कुछ लिये बिना ही वापस चला आता है। चार महीनों से ऐसा ही हो रहा है, फिर आप इतना दुःख क्यों करती हैं ?'

दासी की यह बात सुन उसका अन्तस्तल और अधिक व्यथित हो गया।

अमात्य भोजन के लिए घर आया। वह नंदा का उदास चेहरा देख स्तब्ध रह गया। उसने उदासी का कारण खोजा, पर कुछ समझ नहीं पाया।

नंदा की गंभीरता पल-पल बढ़ रही थी। उसकी आकृति पर भावों की रेखा उभरती और मिटती जा रही थी। अमात्य ने आखिर पूछ लिया, 'प्रिये ! आज इतनी उदासी क्यों है ?'

'बताने का कोई अर्थ हो तो बताऊं, अन्यथा मौन ही अच्छा है।'

'बिना जाने अर्थ या अनर्थ का क्या पता लगे ?'

'क्या अमात्य का काम समग्र राज्य की चिन्ता करना नहीं है ?'

'अवश्य है ?'

'क्या आपको पता है, राजधानी में क्या घटित हो रहा है ?'

'मुझे पता है कि समूचे देश में और उसके आसपास क्या घटित हो रहा है ?'

'इसमें आपका अहं बोल रहा है, वस्तुस्थिति यह नहीं है। क्या आपको पता है, इन दिनों भगवान् महावीर कहां हैं ?'

'मैं नहीं जानता, किन्तु जानना चाहता हूं।'

'भगवान् हमारे ही नगर में विहार कर रहे हैं।'

'तब तो तुम्हें प्रसन्नता होनी चाहिए, उदासी क्यों ?'

'भगवान् की उपस्थिति मेरे लिए प्रसन्नता का विषय है, किन्तु यह जानकर मैं उदास हो गई कि भगवान् चार महीनों से भूखे हैं।'

'तपस्या कर रहे होंगे ?'

'तपस्या होती तो वे भिक्षा के लिए नहीं निकलते। वे प्रतिदिन अनेक घरों में जाते हैं, किन्तु कुछ लिये विना ही वापस चले आते हैं।'

'हमारे गुप्तचरों ने यह सूचना कैसे नहीं दी ?' अमात्य ने भृकुटी तानते हुए कहा, 'और मैं सोचता हूं कि महाराज शतानीक को भी इसका पता नहीं है और मेरा खयाल है कि महारानी मृगावती भी इस घटना से परिचित नहीं हैं। मैं अवश्य ही इस घटना के कारण का पता लगाऊंगा।'

प्रतिहारी विजया महारानी के कक्ष में उपस्थित हो गई। महारानी ने उसकी भावभंगिमा देख उसकी उपस्थिति का कारण पूछा। वह बोली, 'देवि ! मैं नंदा के घर पर एक महत्त्वपूर्ण बात सुनकर आई हूं। क्या आप उसे जानना चाहेंगी ?'

'उसका किससे सम्बन्ध है ?'

'भगवान् महावीर से।'

'तब अवश्य सुनना चाहूंगी।'

विजया ने नंदा के घर पर जो सुना वह सब कुछ सुना दिया। महारानी का मन पीड़ा से संकुल हो गया। कुछ देर बाद महाराज अन्तःपुर में आए और वे भी महारानी की पीड़ा के संभागी हो गए।

महाराज शतानीक और अमात्य सुगुप्त ने इस विषय पर मंत्रणा की। उन्होंने उपाध्याय तथ्यवादी को बुलाया। वह बहुत बड़ा धर्मशास्त्री और ज्ञानी था। महाराज ने उसके सामने समस्या प्रस्तुत की। पर वह कोई समाधान नहीं दे सका।

महाराज खिन्न हो गए। उन्होंने उद्धत स्वर में कहा, 'अमात्यवर ! मुझे लगता है कि हमारा गुप्तचर विभाग निकम्मा हो गया है। मैं जानना चाहता हूं, इसका उत्तरदायी कौन है ? क्या मेरा अमात्य इतनी बड़ी घटना की जानकारी नहीं दे पाता ? क्या मेरा अधिकारी-वर्ग इतना भी नहीं जानता कि महारानी महाश्रमण पार्श्वनाथ की शिष्या हैं ? क्या वह नहीं जानता कि भगवान् महावीर महारानी के ज्ञाति हैं ? भगवान् हमारी राजधानी में विहार करें और उन्हें श्रमणोचित भोजन न मिले, यह सचमुच हमारे राज्य का दुर्भाग्य है। अमात्यवर ! तुम शीघ्रातिशीघ्र ऐसी व्यवस्था करो जिससे भगवान् भोजन स्वीकार करें।'

अमात्य भगवान् के चरणों में उपस्थित हो गया। उसने महाराज, महारानी, अपनी पत्नी और समूचे नगर की हार्दिक भावना भगवान् के सामने प्रस्तुत की और भोजन स्वीकार करने का विनम्र अनुरोध किया। किन्तु भगवान् का मौन-भंग नहीं हुआ। अमात्य निराश हो अपने घर लौट आया।

भगवान् की चर्या उसी क्रम से चलती रही। प्रतिदिन घरों में जाना और कुछ लिये बिना वापस चले आना। लोग हैरान थे। समूचे नगर में इस बात की चर्चा फैल गई। पांचवां महीना पूरा का पूरा उपवास में बीत गया। छठे महीने के पचीस दिन चले गए।

नगर के लोग भगवान् के भोजन का समाचार सुनने को पल-पल अधीर थे। उनकी उत्सुकता अब अधीरता में बदल गई थी। सब लोग अपना-अपना आत्मालोचन कर रहे थे। महाराज शतानीक ने भी आत्मालोचन किया। कौशाम्बी पर आक्रमण और उसकी लूट का पाप उनकी आंखों के सामने आ गया। महाराज ने सोचा—हो सकता है, भगवान् मेरे पाप का प्रायश्चित्त कर रहे हों।

चंदना को अतीत की स्मृति हो आई। उसे अपना वैभवपूर्ण जीवन स्वप्न-सा लगने लगा। वह चंपा के प्रासाद की स्मृतियों में खो गई। वे उड़द उसके सामने पड़े रहे।

आज छठे महीने का छब्बीसवां दिन था। भगवान् महावीर माधुकरी के लिए निकले। अनेक लोग उनके पीछे-पीछे चल रहे थे। भगवान् धनावह के घर में गए। वे रसोई में नहीं रुके। सीधे चंदना के सामने जा ठहरे। वह देहलीज के बीच बैठी थी। उसे किसी के आने का आभास मिला। वह खड़ी हो गई। उसने सामने देखे बिना ही कल्पना की—पिताजी लुहार को लेकर आ गए हैं। अब मेरे बंधन टूट जाएंगे।

पर उसके सामने तो जगत्पिता खड़े हैं। उसकी आंखें सामने की ओर उठीं और उसका अन्तःकरण बोल उठा, 'ओह! भगवान् महावीर आ रहे हैं।' वह हर्षातिरेक से उत्फुल्ल हो गई। उसकी आंखों में ज्योति-दीप जल उठे। उसका कण-कण प्रसन्नता से नाच उठा। वह विपदा को भूल गई।

भगवान् उसके सामने जाकर रुके। उन्होंने देखा, यह वही वसुमती है, जिसके दैन्य की प्रतिमा मेरे मानस में अंकित है। केवल आंसू नहीं हैं। भगवान् वापस मुड़े। चन्दना की आशा पर तुषारापात हो गया। उसके पैरों से धरती खिसक गई। आंखों में आंसू की धार बह चली। वह करुण स्वर में बोली, 'भगवन्! मेरा विश्वास था, तुम नारी-जाति के उद्धारक हो, दास-प्रथा के निवारक हो। पर मेरे हाथ से आहार न लेकर तुमने मेरे विश्वास को झुठला दिया। इस दीन दशा में मैं तुम्हें ही अपना मानती थी। तुम मेरे नहीं हो, यह तुमने प्रमाणित कर दिया। बुरे दिन आने पर कौन किसका होता है? मैंने इस शाश्वत सत्य को क्यों भुला दिया?'

चंदना का मन आत्म-ग्लानि से भर गया। वह सिसक-सिसककर रोने लगी।

भगवान् ने मुड़कर देखा—मेरे संकल्प की शर्तें पूर्ण हो चुकी हैं। वे फिर चंदना के सामने जा खड़े हुए। उसने उबले हुए उड़द का आहार भगवान् को दिया। उसके मन में हर्ष का इतना अतिरेक हुआ कि उसके बंधन टूट गए। उसका शरीर पहले से अधिक चमक उठा।

'भगवान् ने धनावह श्रेष्ठी की दासी के हाथ से आहार ले लिया'—यह बात विजली की भांति सारे नगर में फैल गई। हजारों-हजारों लोग धनावह के घर के

सामने एकत्र हो गए। दासवर्ग हर्ष के मारे उछलने लगा। महाराज शतानीक भी वहां पहुंच गए। महारानी मृगावती उनके साथ थी। नंदा हर्ष से उत्फुल्ल हो रही थी। अमात्य भी एक बहुत बड़ी चिन्ता से मुक्त हो गया।

धनावह लुहार को साथ लिये अपने घर पहुंचा। वह अनेक प्रकार की बातें सुन रहा था। उसका मन आश्चर्य से आंदोलित हो गया। उसने भीतर जाकर देखा—चंदना दिव्य-प्रतिमा की भांति अचल खड़ी है। वह हर्ष-विभोर हो गया।

अब चंदना के बारे में लोगों की जिज्ञासा बढ़ी। वे उसके दर्शन को लालायित हो उठे। वह घर से बाहर आई। चंदना के जय-जयकार के स्वर में जनता का तुमुल विलीन हो गया।

संपुल महाराज दधिवाहन का कंचुकी था। चंपा-विजय के समय महाराज शतानीक उसे बंदी बना कौशांबी ले आए थे। वह आज ही राजाज्ञा से मुक्त हुआ था। वह महाराज के साथ आया। उसने चंदना को पहचान लिया। वह दौड़ा। चंदना के पैरों में नमस्कार कर रोने लगा। चंदना ने उसे आश्वस्त किया। दोनों एक-दूसरे को देख अतीत के गहरे चिंतन में खो गए।

महाराज ने कंचुकी से पूछा, 'यह कन्या कौन है?'

कंचुकी ने कहा, 'महाराज दधिवाहन की पुत्री वसुमती है।'

मृगावती बोली, 'तब तो यह मेरी बहन की पुत्री है।'

महाराज ने चंदना से राजप्रासाद में चलने का आग्रह किया। उसने उसे ठुकरा दिया। महारानी ने फिर बहुत आग्रह किया। चंदना ने उसे फिर ठुकरा दिया। महारानी ने चंदना की ओर मुड़कर पूछा, 'तुम हमारे प्रासाद में क्यों नहीं चलना चाहती?'

'दासी की अपनी कोई चाह नहीं होती।'

'तुम दासी कैसे?'

'यह तो महाराज शतानीक ही जानें, मैं क्या कहूं?'

महाराज का सिर लज्जा से झुक गया। उसे अपने युद्धोन्माद पर पछतावा होने लगा। वह चंदना के दासी बनने का कारण समझ गया। उसने धनावह को बुलाया। चंदना सदा के लिए दासी-जीवन से मुक्त हो गई। भगवान् का मौन सत्याग्रह दासी का मूल्य बढ़ाकर दासत्व की जड़ पर तीव्र कुठाराघात कर गया।[1]

---

१ आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० ३१६-३२०।

१९

कैवल्य-लाभ

प्राची की अपूर्व अरुणिमा। बाल-सूर्य का रक्तिम बिम्ब। सघन तिमिर क्षण भर में विलीन हो गया, जैसे उसका अस्तित्व कभी था ही नहीं। कितना शक्तिशाली अस्तित्व था उसका जिसने सब अस्तित्वों पर आवरण डाल रखा था।

भगवान् महावीर आज अपूर्व आभा का अनुभव कर रहे हैं। उन्हें सूर्योदय का आभास हो रहा है। ऐसा प्रतीत हो रहा है कि अस्तित्व पर पड़ा हुआ परदा अब फटने को तैयार है।

भगवान् गोदोहिका आसन में बैठे हैं। दो दिन का उपवास है। सूर्य का आतप ले रहे हैं। शुक्लध्यान की अंतरिका में वर्तमान हैं। ध्यान की श्रेणी का आरोहण करते-करते अनावरण हो गए। कैवल्य का सूर्य सदा के लिए उदित हो गया।

कितना पुण्य था वह क्षेत्र—जंभियग्राम का बाहरी भाग। ऋजुबालिका नदी का उत्तरी तट। जीर्ण चैत्य का ईशानकोण। श्यामाक गृहपति का खेत। वहां शालवृक्ष के नीचे कैवल्य का सूर्योदय हुआ।

कितना पुण्य था वह काल—वैशाख शुक्ला दशमी का दिन। चौथा प्रहर। विजय मुहूर्त्त। चन्द्रमा के साथ उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र का योग। इन्हीं क्षणों में हुआ कैवल्य का सूर्योदय।

भगवान् अब केवली हो गए—सर्वज्ञ और सर्वदर्शी। उनमें सब द्रव्यों और सब पर्यायों को जानने की क्षमता उत्पन्न हो गई। उनकी अनावृत चेतना में सूक्ष्म, व्यवहित और दूरस्थ पदार्थ अपने आप प्रतिबिंबित होने लगे। न कोई जिज्ञासा और न कोई जानने का प्रयत्न। सब कुछ सहज और सब कुछ आत्मस्थ। शान्त सिन्धु की भांति निस्पंद और निश्चेष्ट। विघ्नों का ज्वार-भाटा

विलीन हो गया। न तूफान, न ऊर्मियां और न तुमुल कोलाहल। शान्त, शान्त और प्रशान्त।[1]

कैवल्य-प्राप्ति के पश्चात् भगवान् मुहूर्त भर वहां ठहरे, फिर लक्ष्य की ओर गतिमान हो गए।[2]

---

१. आयारचूला, १५।३८, ३९, आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २२२, २२३ ।
२. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २२४।

२०

तीर्थ और तीर्थंकर

भगवान् महावीर वैशाख शुक्ला एकादशी को मध्यम पावा पहुंचे। महासेन उद्यान में ठहरे।[1] अन्तर् में अकेले और बाहर भी अकेले। न कोई शिष्य और न कोई सहायक।

इतने दिनों तक भगवान् साधना में व्यस्त थे। वह निष्पन्न हो गई। अब उनके पास समय ही समय है। उनके मन में प्राणियों के कल्याण की सहज प्रेरणा स्फूर्त हो रही है।

मध्यम पावा में सोमिल नाम का एक ब्राह्मण रहता था। उसने एक विशाल यज्ञ का आयोजन किया। उसे संपन्न करने के लिए ग्यारह यज्ञविद् विद्वान् आए।

इन्द्रभूति, अग्निभूति और वायुभूति—ये तीनों सगे भाई थे। इनका गोत्र था गौतम। ये मगध के गोबर गांव में रहते थे। इनके पांच-पांच सौ शिष्य थे।

दो विद्वान् कोलाग सन्निवेश से आए। एक का नाम था व्यक्त और दूसरे का सुधर्मा। व्यक्त का गोत्र था भारद्वाज और सुधर्मा का गोत्र था अग्नि वैश्यायन। इनके भी पांच-पांच सौ शिष्य थे।

दो विद्वान् मौर्य सन्निवेश से आए। एक का नाम था मंडित और दूसरे का मौर्यपुत्र। मंडित का गोत्र था वाशिष्ट और मौर्यपुत्र का गोत्र था काश्यप। इनके साढ़े तीन सौ, साढ़े तीन सौ शिष्य थे।

अकंपित मिथिला से, अचलभ्राता कौशल से, मेतार्य तुंगिक से और प्रभास राजगृह से आए। इनमें पहले का गोत्र गौतम, दूसरे का हारित और शेष दोनों का कौडिन्य था। इनके तीन-तीन सौ शिष्य थे।

---

१. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० ३२४।

ये ग्यारह विद्वान् और इनके ४४०० शिष्य सोमिल की यज्ञवाटिका में उपस्थित थे।

भगवान् महावीर ने देखा, अब जनता को अहिंसा की दिशा में प्रेरित करना है। जो उसका महाव्रती बनना चाहे, उसके लिए महाव्रती और जो अणुव्रती बनना चाहे उसके लिए अणुव्रती बनने का पथ प्रशस्त करना है। बलि, दासता आदि सामाजिक हिंसा का उन्मूलन करना है। इस कार्य के लिए मुझे कुछ सहयोगी व्यक्ति चाहिए। वे व्यक्ति यदि ब्राह्मण वर्ग के हों तो और अधिक उपयुक्त होगा।

भगवान् ने प्रत्यक्ष ज्ञान से देखा—इन्द्रभूति आदि धुरंधर विद्वान् यज्ञशाला में उपस्थित हैं। उनकी योग्यता से भगवान् खिंच गए और भगवान् के संकल्प से वे खिंचने लगे।

उद्यानपाल आज एक नया संवाद लेकर राजा के पास पहुंचा। वह बोला, 'महाराज! आज अपने उद्यान में भगवान् महावीर आए हैं।' राजा बहुत प्रसन्न हुआ। उद्यानपाल ने फिर कहा, 'भगवान् आज बोल रहे हैं।' यह सुन राजा को आश्चर्य हुआ।

'महाराज! मैं निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता, फिर भी कुछ लोगों को मैंने यह चर्चा करते हुए सुना है कि भगवान् आज धर्म का उपदेश देंगे,' उद्यानपाल ने कहा।

राजा प्रसन्नता के सागर में तैरने लगा। वह स्वयं महासेन वन में गया और नागरिकों को इसकी सूचना करा दी।

इन्द्रभूति ने देखा—आज हजारों लोग एक ही दिशा में जा रहे हैं। उनके मन में कुतूहल उत्पन्न हुआ। उन्होंने यज्ञशाला के संदेश-वाहक को लोकयात्रा का कारण जानने को भेजा। संदेश-वाहक ने आकर बताया, 'आज यहां श्रमणों के नए नेता आए हैं। उनका नाम महावीर है। वे अपनी साधना द्वारा सर्वज्ञ बन गए हैं। आज उनका पहला प्रवचन होने वाला है।[1] इसलिए हजारों-हजारों लोग बड़ी उत्सुकता से वहां जा रहे हैं।'

संदेश-वाहक की बात सुन इन्द्रभूति तिलमिला उठे। उन्होंने मन ही मन सोचा—ये श्रमण हमारी यज्ञ-संस्था को पहले से क्षीण करने पर तुले हुए हैं। श्रमण नेता पार्श्व ने हमारी यज्ञ-संस्था को काफी क्षति पहुंचाई है। उनके शिष्य आज भी हमें परेशान किये हुए हैं। जनता को इस प्रकार अपनी ओर आकृष्ट करने वाले इस नए नेता का उदय क्या हमारे लिए खतरे की घंटी नहीं है? मुझे

१. दिगम्बर परम्परा के अनुसार भगवान् महावीर ने कैवल्यज्ञान-प्राप्ति के ६६ दिन बाद श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के दिन पहला प्रवचन किया था।

इस उगते अंकुर को ही उखाड़ फेंकना चाहिए। यह चिनगारी है। इसे फैलने का अवसर देना समझदारी नहीं होगी। बीमारी का इलाज प्रारम्भ में ही न हो तो फिर वह असाध्य बन जाती है। अब विलम्ब करना श्रेय नहीं है। मैं वहां जाऊं और श्रमण नेता को पराजित कर वैदिक धर्म में दीक्षित करूं। इसके दो लाभ होंगे—

१—हमारी यज्ञ-संस्था को एक समर्थ व्यक्ति प्राप्त हो जाएगा।

२—हज़ारों-हज़ारों लोग श्रमण-धर्म को छोड़ वैदिक धर्म में दीक्षित हो जाएंगे।

इन्द्रभूति ने इस विषय पर गंभीरता से सोचा। अपनी सफलता के मधुर स्वप्न संजोए। शिष्यों को साथ ले, वहां से चलने को तैयार हो गए। इतने में ही उन्हें कुछ लोग वापस आते हुए दिखाई दिए। इन्द्रभूति ने उनसे पूछा—

'आप कहां से आ रहे हैं ?'

'भगवान् महावीर के समवसरण से।'

'आप लोगों ने महावीर को देखा है ? वे कैसे हैं ?'

'क्या बताएं, इतना प्रभावशाली व्यक्ति हमने कहीं नहीं देखा। उनके चेहरे पर तप का तेज दमक रहा है।'

'वहां कौन जा सकता है ?'

'किसी के लिए कोई प्रतिबंध नहीं है।'

'वहां काफी लोग होंगे ?'

'हज़ारों-हज़ारों की भीड़। पैर रखने को स्थान नहीं। फिर भी जो लोग जाते हैं, वे निराश होकर नहीं लौटते।'

इन्द्रभूति के पैर आगे बढ़ते-बढ़ते रुक गए। मन में सन्देह उत्पन्न हो गया। उन्होंने सोचा—महावीर कोई साधारण व्यक्ति नहीं है। लोगों की बातों से लगता है कि उनके पास साधना का बल है, तपस्या का तेज है। क्या मैं जाऊं ? मन ही मन यह प्रश्न उभरने लगा। इसका उत्तर उनका अहं दे रहा था। अपने पांडित्य पर उन्हें गर्व था। वे शास्त्र-चर्चा के मल्लयुद्ध में अनेक पंडितों को परास्त कर चुके थे। वे अपने को अजेय मान रहे थे। इस सारी परिस्थिति से उत्पन्न अहं ने उन्हें फिर महावीर के पास जाने को प्रेरित किया। उनके पैर आगे बढ़े। उनके पीछे हज़ारों पैर और उठ रहे थे। शिष्यों द्वारा उच्चारित विरुदावलियों से आकाश गूंज उठा। पावा के नागरिकों का ध्यान उनकी ओर केन्द्रित हो गया। राजपथ स्तब्ध हो गए।

इन्द्रभूति महासेन वन के बाहरी कक्ष में पहुंचे। समवसरण को देखा। उनकी आंखों में अद्भुत रंग-रूप तैरने लगा। उनका मन अपनत्व की अनुभूति से उद्वेलित हो गया। उन्हें लगा जैसे उनका अहं विनम्रता की धारा में प्रवाहित हो रहा है।

भगवान् की वाणी के पीछे सत्य बोल रहा था। इन्द्रभूति का ग्रन्थि-भेद हो गया। उन्हें अपने अस्तित्व की अनुभूति हुई। उनकी आंखों में बिजली कौंध गई। वे अपने अस्तित्व का साक्षात् करने को तड़प उठे। वे भावावेश में बोले, 'भंते ! मैं आत्मा का साक्षात् करना चाहता हूं। आप मेरा मार्ग-दर्शन करें और मुझे अपनी शरण में ले लें।'

भगवान् ने कहा, 'जैसी तुम्हारी इच्छा।'

इन्द्रभूति ने अपने शिष्यों से मंत्रणा की। उन सबने अपने गुरु के पद-चिह्नों पर चलने की इच्छा प्रकट की। इन्द्रभूति अपने पांच सौ शिष्यों सहित भगवान् की शरण में आ गए, आत्म-साक्षात्कार की साधना में दीक्षित हो गए।

इन्द्रभूति ने श्रमण-नेता के पास दीक्षित होकर ब्राह्मणों की गौरवमयी परम्परा के सिर पर फिर एक बार सुयश का कलश चढ़ा दिया। ब्राह्मण विद्वान् बहुत गुणग्राही और सत्यान्वेषी रहे हैं। उनकी गुणग्राहिता और सत्यान्वेषी मनोवृत्ति ने ही उन्हें सहस्राब्दियों तक विद्या और चरित्र में शिखरस्थ बनाए रखा है।

इन्द्रभूति की दीक्षा का समाचार जल में तेल-बिन्दु की भांति सारे नगर में फैल गया। अग्निभूति और वायुभूति ने परस्पर मंत्रणा की। उन्होंने सोचा, 'भाई जिस जाल में फंसा है, वह साधारण तो नहीं है। फिर भी हमें उसकी मुक्ति का प्रयत्न करना चाहिए।'

अग्निभूति अपने पांच सौ शिष्यों के साथ इन्द्रभूति को उस इन्द्रजालिक के जाल से मुक्त कराने को चले। जनता में बड़ा कुतूहल उत्पन्न हो गया। लोग परस्पर पूछने लगे, 'अब क्या होगा ? इन्द्रभूति श्रमणनेता के जाल से मुक्त होंगे या अग्निभूति उसमें फंस जाएंगे ?' कुछ लोगों ने कहा—'दोनों भाई मिलकर महावीर का सामना कर सकेंगे और उन्हें अपने मार्ग पर ले जाएंगे।' कुछ लोगों ने इसका प्रतिकार किया। वे बोले, 'इन्द्रभूति क्या कम विद्वान् था ! यह कोई दूसरा ही जादू है। श्रमणनेता के पास जाते ही विद्वत्ता की आंच धीमी हो जाती है। उनके सामने जाते ही मनुष्य विचार-शून्य-से हो जाते हैं। हमें स्पष्ट दीख रहा है कि अग्निभूति की भी वही दशा होगी जो इन्द्रभूति की हुई है।'

अग्निभूति अब चर्चा के केन्द्र बन चुके थे। वे अनेक प्रकार की चर्चा सुनते हुए महासेन वन के बाहरी कक्ष में पहुंचे। वहां पहुंचते ही उनकी वही गति हुई जो इन्द्रभूति की हुई थी। वे समवसरण के भीतर गए। भगवान् ने उन्हें वैसे ही संबोधित किया, 'गौतम अग्निभूति ! तुम आ गए ?'

अग्निभूति को अपने नाम-गोत्र के संबोधन पर आश्चर्य हुआ। उनका आश्चर्यचकित मन विकल्पों की सृष्टि कर रहा था। इधर भगवान् ने उनके आश्चर्य पर गम्भीर प्रहार करते हुए कहा, 'अग्निभूति ! तुम्हें कर्म के बारे में

सन्देह है। क्यों, ठीक है न ?'

अग्निभूति इन्द्रभूति के सामने देखने लगे। ऐसा लग रहा था जैसे अपने भाई से कुछ निर्देश चाह रहे हों। पर भाई क्या कहे ? उनका सिर अपने आप श्रद्धानत हो गया। वे बोले, 'भंते ! मेरा सर्वथा अप्रकाशित सन्देह प्रकाश में आ गया, तब उसका समाधान भी प्रकाश में आना चाहिए।'

भगवान् ने अग्निभूति के विचार का समर्थन किया। 'अग्निभूति ! क्या तुम नहीं जानते, क्रिया की प्रतिक्रिया होती है ?'

'भंते ! जानता हूं, क्रिया की प्रतिक्रिया होती है।'

'कर्म और क्या है, क्रिया की प्रतिक्रिया ही तो है। क्या तुम नहीं जानते, हर कार्य के पीछे कारण होता है ?'

'भंते ! जानता हूं।'

'मनुष्य की आन्तरिक शक्ति के विकास का तारतम्य दृष्ट है, किन्तु उसकी पृष्ठभूमि में रहा हुआ कारण अदृष्ट है। वही कर्म है।'

'भंते ! उस तारतम्य का कारण क्या परिस्थिति नहीं है ?'

'परिस्थिति निमित्त कारण हो सकती है पर वह मूल कारण नहीं है। परिस्थिति की अनुकूलता में अंकुर फूटता है, पर वह अंकुर का मूल कारण नहीं है। उसका मूल कारण बीज है। विकास का तारतम्य परिस्थिति से प्रभावित होता है, पर उसका मूल कारण परिस्थिति नहीं है, किन्तु कर्म है।'

अग्निभूति की तार्किक क्षमता काम नहीं कर रही थी। भगवान् के प्रथम दर्शन में ही उनमें शिष्यत्व की भावना जाग उठी थी। शिष्यत्व और तर्क—दोनों एक साथ कैसे चल सकते हैं ? वे लंबी चर्चा के बिना ही संबुद्ध हो गए। वे आए थे इन्द्रभूति को वापस ले जाने के लिए, पर नियति ने उन्हें इन्द्रभूति का साथ देने को विवश कर दिया। वे अपने पांच सौ शिष्यों के साथ भगवान् की शरण में आ गए।

पावा की जनता कुछ नई घटना घटित होने की प्रतीक्षा में थी। उसने अग्निभूति की दीक्षा का संवाद बड़े आश्चर्य के साथ सुना। वह वायुभूति के कानों तक पहुंचा। वे चकित रह गए। उनमें संघर्ष की अपेक्षा जिज्ञासा का भाव अधिक था। उन्होंने सोचा—श्रमणनेता में ऐसी क्या विशेषता है, जिसने मेरे दोनों बड़े भाइयों को पराजित कर दिया। मैं जानता हूं, मेरे भाई तर्कबल से पराजित होने वाले नहीं हैं। वे श्रमणनेता की आत्मानुभूति से पराजित हुए हैं। वायुभूति के मन में भगवान् को देखने की उत्कंठा प्रबल हो गई। वे अपने पांच सौ शिष्यों को साथ लेकर भगवान् के पास पहुंच गए।

भगवान् ने उन्हें संबोधित कर कहा, 'वायुभूति ! तुम्हारी यह धारणा संशोधनीय है कि जो शरीर है वही जीव है। मैं साक्षात् देखता हूं कि शरीर और

जीव एक नहीं हैं। ये दोनों भिन्न हैं, एक अचेतन और दूसरा चेतन।'

'भंते! क्या इस विषय का साक्षात् किया जा सकता है?'

'निश्चित ही किया जा सकता है।'

'क्या यह मेरे लिए भी संभव है?'

'उन सबके लिए संभव है जो आत्मवादी हैं और आत्मा के शक्ति-स्रोतों को विकसित करना जानते हैं।'

वायुभूति के मन में एक प्रबल प्यास जाग गई। वे आत्म-साक्षात्कार करने के लिए अधीर हो उठे। उन्होंने उसी समय भगवान् से आत्मवाद की दीक्षा स्वीकार कर ली।

भगवान् का परिवार कुछ ही घंटों में बड़ा हो गया। वर्षों तक वे अकेले रहे। आज पन्द्रह सौ शिष्य उन्हें घेरे बैठे हैं और दरवाजा अभी बन्द नहीं है।

यज्ञशाला में एक विचित्र स्थिति निर्मित हो गई। उसके आयोजक चिंता में डूब गए। यज्ञ की असफलता उनके चेहरे पर झलकने लगी। सर्वत्र उदासी का वातावरण छा गया। आयोजक वर्ग ने अन्य विद्वानों को श्रमणनेता के पास जाने से रोकने के प्रयत्न शुरू कर दिए।

पैसे के पास पैसा जाता है। धनात्मक शक्ति ऋणात्मक शक्ति को अपनी ओर खींच लेती है। महावीर ने शेष विद्वानों को इस प्रकार खींचा कि वे वहां जाने से रुक नहीं सके।

एक-एक विद्वान् आते गए और भगवान् से संबोधन और अपनी धारणा में संशोधन पाकर दीक्षित होते गए। उनकी धारणाएं थीं—

व्यक्त—पंचभूत का अस्तित्व नहीं है।

सुधर्मा—प्राणी मृत्यु के बाद अपनी ही योनि में उत्पन्न होता है।

मंडित—बंध और मोक्ष नहीं है।

मौर्यपुत्र—स्वर्ग नहीं है।

अकंपित—नरक नहीं है।

अचलभ्राता—पुण्य और पाप पृथक् नहीं हैं।

मेतार्य—पुनर्जन्म नहीं है।

प्रभास—मोक्ष नहीं है।[1]

भगवान् ने परिषद् के सम्मुख धर्म की व्याख्या की। उसके दो अंग थे—अहिंसा और समता। भगवान् ने कहा, 'विषमता से अहिंसा और हिंसा से व्यक्ति के चरित्र का पतन होता है। व्यक्ति-व्यक्ति के चरित्र-पतन से सामाजिक चरित्र का पतन होता है। इस पतन को रोकने के लिए अहिंसा और उसकी प्रतिष्ठा के

---

१. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा ६४४-६६०; आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० ३३४-३३६।

लिए समता आवश्यक है।'

हिंसा, घृणा, पशुबलि और उच्च-नीचता के दमनपूर्ण वातावरण में भगवान् का प्रवचन अमा की सघन अंधियारी में सूर्य की पहली किरण जैसा लगा। जनता ने अनुभव किया कि आज इस प्रकाश की अपेक्षा है। महावीर जैसे समर्थ धर्मनेता के द्वारा वह पूर्ण होगी। उसकी संपन्नता में अपनी आहुति देने के लिए अनेक स्त्री-पुरुष भगवान् के चरणों में समर्पित हो गए।

चन्दनबाला साध्वी बनने के लिए भगवान् के सामने उपस्थित हुई। वैदिक धर्म के संन्यासी स्त्री को दीक्षित करने के विरोधी थे। श्रमण-परम्परा में स्त्रियां दीक्षित होती थीं। भगवान् पार्श्व की साध्वियां उस समय विद्यमान थी। किन्तु उनका नेतृत्व शिथिल हो गया था। उनमें से अनेक साध्वियां दीक्षा को त्याग परिव्राजिकाएं बन चुकी थीं।

भगवान् महावीर स्त्री के प्रति वर्तमान दृष्टिकोण में परिवर्तन लाना चाहते थे। वैदिक प्रवक्ता उसके प्रति हीनता का प्रसार करते थे। भगवान् को वह इष्ट नहीं था। उन्होंने साध्वी-संघ की स्थापना कर स्त्री जाति के पुनरुत्थान कार्य को फिर गतिशील बना दिया।

भगवान् ने चंदना को दीक्षित कर उसे साध्वी-संघ का नेतृत्व सौंप दिया। साधु-संघ का नेतृत्व इन्द्रभूति आदि ग्यारह विद्वानों को सौंपा।

भगवान् महावीर गणतंत्र के वातावरण में पले-पुसे थे। सत्ता और अर्थ के विकेन्द्रीकरण का सिद्धान्त उनके रक्त में समाया हुआ था। वर्तमान में वे अहिंसा के वातावरण में जी रहे थे। उनमें केन्द्रीकरण के लिए कोई अवकाश नहीं है।

भगवान् ने साधु-संघ को नौ गणों में विभक्त कर उनकी व्यवस्था का विकेन्द्रीकरण कर दिया। इन्द्रभूति आदि को गणधर के रूप में नियुक्त किया। प्रथम सात गणों का नेतृत्व एक-एक गणधर को सौंपा। आठवें गण का नेतृत्व अकंपित और अचलभ्राता तथा नौवें गण का नेतृत्व मेतार्य और प्रभास को सौंपकर संयुक्त नेतृत्व की व्यवस्था की।

जो लोग साधु-जीवन की दीक्षा लेने में समर्थ नहीं थे, किन्तु समता धर्म में दीक्षित होना चाहते थे, उन्हें भगवान् ने अणुव्रत की दीक्षा दी। वे श्रावक-श्राविका कहलाए।

भगवान् महावीर साधु-साध्वी और श्रावक-श्राविका — इन तीर्थ-चतुष्टय की स्थापना कर तीर्थंकर हो गए। इतने दिन भगवान् स्वतंत्र थे और व्यक्तिगत जीवन जीते थे, अब भगवान् संघ बन गए और उनके संघीय जीवन का सिलसिला शुरू हो गया।

इतने दिन भगवान् स्वयं के कल्याण में निरत थे, अब उनकी शक्ति जन-कल्याण में लग गई।

भगवान् स्वार्थवश अपने कल्याण में प्रवृत्त नहीं थे। यह एक सिद्धांत का प्रश्न था। जो व्यक्ति स्वयं खाली है, वह दूसरों को कैसे भरेगा ? जिसके पास कुछ नहीं है, वह दूसरों को क्या देगा ? स्वयं विजेता बनकर ही दूसरों को विजय का पथ दिखाया जा सकता है। स्वयं बुद्ध होकर ही दूसरों को बोध दिया जा सकता है। स्वयं जागृत होकर ही दूसरों को जगाया जा सकता है। भगवान् स्वयं बुद्ध हो गए और दूसरों को बोध देने का अभियान शुरू हो गया।

२१

ज्ञान-गंगा का प्रवाह

ढाई हजार वर्ष पहले का युग श्रुति और स्मृति का युग था। लिपि का प्रचलन बहुत ही कम था। इसलिए उस युग में स्मृति की विशिष्ट पद्धतियां विकसित थीं। ग्रंथ-रचना की पद्धति भी स्मृति की सुविधा पर आधारित थी। इसी परिस्थिति में सूत्र-शैली के ग्रंथों का विकास हुआ, जिनका प्रयोजन था, थोड़े में बहुत कह देना।

इन्द्रभूति आदि गणधरों पर भगवान् महावीर के विचार-प्रसार का दायित्व आ गया। अतः भगवान् के आधारभूत तत्त्वों को समझना उनके लिए आवश्यक था। इन्द्रभूति ने विनम्र वंदना कर पूछा—'भंते ! तत्त्व क्या है ?'

'पदार्थ उत्पन्न होता है।'

'भंते ! पदार्थ उत्पत्तिधर्मा है तो वह लोक में कैसे समाएगा ?'

'पदार्थ नष्ट होता है।'

'भंते ! पदार्थ विनाशधर्मा है तो वह उत्पन्न होगा और नष्ट हो जाएगा, शेष क्या रहेगा ?'

'पदार्थ ध्रुव है।'

'भंते ! जो उत्पाद-व्यय धर्मा है, वह ध्रुव कैसे होगा ? क्या उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य में विरोधाभास नहीं है ?'

(द्वादशांगी) की रचना की। उसमें भगवान् महावीर के दर्शन और तत्त्वों क
प्रतिपादन किया।

गणधरों ने सोचा—हम इतने दिन पर्यायों में उलझ रहे थे, मूल तक पहुंच ह
नहीं पाए। मनुष्य, पशु, पक्षी—ये सब पर्याय हैं। मूल तत्त्व आत्मा है। आत्म
मूल है और ये सब पर्याय उसी के प्रकाश से प्रकाशित हैं, तब कोई हीन कैसे औ
अतिरिक्त कैसे? कोई नीच कसे और ऊंच कैसे? कोई स्पृश्य कैसे और अस्पृश्
कैसे? ये सब पर्याय आत्मा के आलोक से आलोकित हैं, तब जन्मना जाति क
अर्थ क्या होगा? जातिवाद तात्त्विक कैसे होगा? स्त्री और शूद्र को हीन मान
का आधार क्या होगा?

देवता और पशु दोनों एक ही आत्मा की ज्योति से ज्योतित हैं, फिर देवत
के लिए पशु-बलि देने का औचित्य कैसे स्थापित किया जा सकता है?

इस त्रिपदी ने गणधरों के अन्तःचक्षु खोल दिए। उनके चिरकालीन संस्का
भगवान् की ज्ञान-गंगा के प्रवाह में धुल गए।

२२

संघ-व्यवस्था

भगवान् महावीर अहिंसा के साधक थे। अहिंसा की साधना का अर्थ है—मन की ग्रन्थियों को खोल डालना। यही है मुक्ति, यही है स्वतंत्रता। राजनीति की सीमा में स्वतंत्रता का अर्थ सापेक्ष होता है। एक देश पर दूसरा देश शासन करता है, तब वह परतंत्र कहलाता है। एक देश उसमें रहने वाली जनता के द्वारा शासित होता है, तब वह स्वतंत्र कहलाता है। अहिंसा की भूमिका में स्वतंत्रता का अर्थ निरपेक्ष होता है। जिसका मन ग्रन्थियों से मुक्त नहीं है, वह किसी दूसरे व्यक्ति द्वारा शासित हो या न हो, परतंत्र है। जिसके मन की ग्रन्थियां खुल चुकी हैं, वह फिर किसी दूसरे व्यक्ति के द्वारा शासित हो या न हो, स्वतंत्र है। इसी सत्य को भगवान् ने रहस्यात्मक शैली में प्रतिपादित किया था। उन्होंने कहा—अहिंसक व्यक्ति न पराधीन होता है और न स्वाधीन। वह बाहरी बंधनों से बंधा हुआ नहीं होता, इसलिए पराधीन नहीं होता और वह आत्मानुशासन की मर्यादा से मुक्त नहीं होता, इसलिए स्वाधीन भी नहीं होता।

सामुदायिक जीवन जीने वाला अहिंसक व्यक्ति भी व्यवस्था-तंत्र को मान्यता देता है, किन्तु उसकी अभिमुखता तंत्र-मुक्ति की ओर होती है।

भगवान् महावीर ने एक ऐसे समाज का प्रतिपादन किया, जिसमें तंत्र नहीं है। वह समाज हमारी आंखों के सामने नहीं है, इसलिए हम उसे महत्त्व दें या न दें किन्तु उस प्रतिपादन का अपने आप में महत्त्व है।

भगवान् ने बताया—कल्पातीत देव अहमिन्द्र होते हैं। उनकी हर इकाई स्वतंत्र है। वहां कोई शासक और शासित नहीं है, कोई स्वामी और सेवक नहीं है, कोई बड़ा और छोटा नहीं है। वे सब स्वयं-शासित हैं। उनके क्रोध, मान, माया और लोभ उपशान्त हैं, इसलिए वे स्वयं-शासित हैं।

हमारा समाज राज्य के द्वारा शासित है। मनुष्य का क्रोध उपशान्त नहीं है,

इसलिए वह दूसरों को अपना शत्रु बना लेता है। उसका मान शान्त नहीं है, इसलिए वह अपने को बड़ा और दूसरों को छोटा मानता है। उसकी माया उपशान्त नहीं है, इसलिए वह दूसरों के साथ प्रवंचनापूर्ण व्यवहार करता है। उसका लोभ उपशान्त नहीं है, इसलिए वह स्वार्थ की सिद्धि के लिए दूसरों के स्वार्थों का विघटन करता है।

जिस समाज में शत्रुता, उच्च-नीच की मनोवृत्ति, प्रवंचनापूर्ण व्यवहार और दूसरों के स्वार्थों का विघटन चलता है, वह स्वयं-शासित नहीं हो सकता।

जनतंत्र शासन-तंत्र में अहिंसा का प्रयोग है। विस्तार आत्मानुशासन और व्यक्तिगत स्वतंत्रता की दिशा में होता है। जनतंत्र के नागरिक अहिंसानिष्ठ नहीं होते, उसका अस्तित्व कभी विश्वसनीय नहीं होता।

अहिंसा का अर्थ है—अपने भीतर छिपी हुई पूर्णता में विश्वास और अपने ही जैसे दूसरे व्यक्तियों के भीतर छिपी हुई पूर्णता में विश्वास।

हिंसा निरंतर अपूर्णता की खोज में चलती है, जबकि अहिंसा की खोज पूर्णता की दिशा में होती है। राग और द्वेष की चिता में जलने वाला कोई भी आदमी पूर्ण नहीं होता। पर उस चिता को उपशांत कर देने वाला मुमुक्षु पूर्णता की दिशा में प्रस्थान कर देता है। महावीर ने ऐसे मुमुक्षुओं के लिए ही संघ का संगठन किया।

भगवान् ने आत्म-नियंत्रण, अनुशासन और व्यवस्था में संतुलन स्थापित किया। मुक्ति की साधना में आत्म-नियंत्रण अनिवार्य है। व्यक्तिगत रुचि, संस्कार और योग्यता की तरतमता में अनुशासन भी आवश्यक है। आत्म-साधना के क्षेत्र में आत्म-नियंत्रण विहीन अनुशासन प्रवंचना है। अनुशासन के अभाव में आत्म-नियंत्रण कहीं-कहीं असहाय जैसा हो जाता है। व्यवस्था इन दोनों से फलित होती है। भगवान् ने व्यवस्था की दृष्टि से अपने गणों के नेतृत्व को सात इकाइयों में बांट दिया, जैसे—

१. आचार्य
२. उपाध्याय
३. स्थविर
४. प्रवर्तक
५. गणी
६. गणधर
७. गणावच्छेदक

ये शिक्षा, साधना, सेवा, धर्म-प्रचार, उपकरण, विहार आदि आवश्यक कार्यों की व्यवस्था करते थे। गण के नेतृत्व का विकास एक ही दिन में नहीं हुआ। जैसे-जैसे गणों का विस्तार होता गया, वैसे-वैसे व्यवस्था की सुसंपन्नता के लिए नेतृत्व की दिशाएं विकसित होती गईं।

यह आश्चर्य की बात है कि संघीय नेतृत्व का इतना विकास अन्य किसी धर्म-परम्परा में नहीं मिलता। इस व्यवस्था का आधार था भगवान् महावीर का अहिंसा, स्वतंत्रता और सापेक्षता का दृष्टिकोण। इसीलिए भगवान् ने आत्मानुशासन

से मुक्त अनुशासन को कभी मूल्य नहीं दिया। भगवान् के धर्म-संघ में दस प्रकार की सामाचारी का विकास हुआ। उसमें एक सामाचारी है 'इच्छाकार'। कोई मुनि किसी दूसरे मुनि को सेवा देने से पूर्व कहता—'मैं अपनी इच्छा से आपकी सेवा कर रहा हूं।' दूसरों से सेवा लेने के लिए कहा जाता—'यदि आपकी इच्छा हो तो आप मेरा यह कार्य करें।' सेवा लेने-देने तथा अन्य प्रवृत्तियों में बलप्रयोग वर्जित था। आपवादिक परिस्थितियों के अतिरिक्त आचार्य भी बल का प्रयोग नहीं करते थे।

दिनचर्या

भगवान् ने साधु-संघ की दिनचर्या निश्चित कर दी। उसके अनुसार मुनि दिन के पहले प्रहर में स्वाध्याय, दूसरे में ध्यान, तीसरे में भोजन और चौथे में फिर स्वाध्याय किया करते थे। इसी प्रकार रात्रि के पहले प्रहर में स्वाध्याय, दूसरे में ध्यान, तीसरे में शयन और चौथे में फिर स्वाध्याय।[1]

वस्त्र

भगवान् ने परिग्रह पर बड़ी सूक्ष्मता से ध्यान दिया। भगवान् ने दीक्षा के समय एक शाटक रखा था। यह भगवान् पार्श्व की परम्परा का प्रतीक था। कुछ समय बाद भगवान् विवस्त्र हो गए। वे तीर्थ-प्रवर्तन के बाद भी विवस्त्र रहे। उनके तीर्थ में दीक्षित होने वाले विवस्त्र रहे या सवस्त्र—इस प्रश्न का उत्तर एकांगी दृष्टिकोण से नहीं मिल सकता। जितेन्द्रिय होने के लिए वस्त्र-त्याग का बहुत मूल्य है। अतीन्द्रिय ज्ञान की उपलब्धि में वह बहुत सहायक होता है। फिर भी स्याद्वाद-दृष्टि के प्रवर्तक ने विवस्त्रता का ऐकान्तिक विधान किया हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता। यदि किया हो तो उसे स्वीकारने में मुझे कोई आपत्ति नहीं होगी। मुनि के वस्त्र रखने की परम्परा उत्तरकालीन हो तो उसे विचार का विकास या व्यवहार का अनुपालन मानना मुझे संगत लगता है। किन्तु इस तथ्य की स्वीकृति यथार्थ के बहुत निकट है कि भगवान् का झुकाव विवस्त्र रहने की ओर था। भगवान् पार्श्व के शिष्य विवस्त्र रहने में अक्षम थे। इस स्थिति में भगवान् ने दोनों विचारों का सामंजस्य कर अचेल और सचेल—दोनों रूपों को मान्यता दे दी। इस मान्यता के कारण भगवान् पार्श्व के संघ का बहुत बड़ा भाग भगवान् महावीर के शासन में सम्मिलित हो गया।

भगवान् ने मुनि को अपरिग्रही जीवन बिताने का निर्देश दिया। परिग्रह के दो अर्थ हैं—वस्तु और मूर्च्छा। वस्तु का परिग्रह होना या न होना मूर्च्छा पर निर्भर है। मूर्च्छा के होने पर वस्तु परिग्रह बन जाती है और मूर्च्छा के अभाव में वह

१. उत्तरज्झयणाणि, २६।१८।

अपरिग्रह बन जाती है।

परिग्रह के मुख्य प्रकार दो हैं—शरीर और वस्तु। शरीर को छोड़ा नहीं जा सकता। उसके प्रति होनेवाली मूर्च्छा को छोड़ा जा सकता है। वस्तु को सर्वथा छोड़ा नहीं जा सकता। उसके प्रति होनेवाली मूर्च्छा को छोड़ा जा सकता है। वस्त्र जैसे वस्तु है, वैसे भोजन भी वस्तु है। वस्त्र और भोजन चैतन्य की मूर्च्छा के हेतु न बनें, यह सोचकर भगवान् ने कुछ व्यवस्थाएं दीं—

१. जो मुनि जित-लज्ज और जित-परीषह हों वे विवस्त्र रहें। वे पात्र न रखें।

२. जो मुनि जित-लज्ज और जित-परीषह न हों वे एक वस्त्र और एक पात्र रखें।

३. जो मुनि एक वस्त्र से काम नहीं चला सकें वे दो वस्त्र और एक पात्र रखें।

४. जो मुनि दो वस्त्र से काम न चला सकें वे तीन वस्त्र और एक पात्र रखें।

५. जो मुनि लज्जा को जीतने में समर्थ हों किन्तु सर्दी को सहने में समर्थ न हों, वे ग्रीष्म ऋतु के आने पर विवस्त्र हो जाएं।

६. वस्त्र रखने वाले मुनि रंगीन और मूल्यवान् वस्त्र न रखें।

७. मुनि के निमित्त बनाया या खरीदा हुआ वस्त्र न लें।

दिगम्बर परम्परा आज भी वस्त्र न रखने के पक्ष में है। श्वेताम्बर परम्परा वस्त्र रखने के पक्ष में है। इसमें कोई संदेह नहीं कि श्वेताम्बर परम्परा में उत्तरोत्तर वस्त्रों और पात्रों की संख्या में वृद्धि हुई है।

भोजन और विहार

भोजन के विषय में विधान यह था—

१. मुनि रात को न खाए।

२. सामान्यतया दिन में बारह बजे के पश्चात् एक बार खाए।

३. यदि अधिक बार खाए तो पहले पहर में लाया हुआ भोजन चौथे पहर में न खाए।

४. बत्तीस कौर से अधिक न खाए।

५. मादक और प्रणीत वस्तुएं न खाए।

६. माधुकरी-चर्या द्वारा प्राप्त भोजन ले, अपने निमित्त बना हुआ भोजन स्वीकार न करे।

७. लाकर दिया हुआ भोजन स्वीकार न करे।

भगवान् पार्श्व के शिष्यों के लिए परिव्रजन की कोई मर्यादा नहीं थी। वे एक

गांव में चाहे जितने समय तक रह सकते थे। भगवान् महावीर ने इसमें परिवर्तन कर नवकल्पी विहार की व्यवस्था की। उसके अनुसार मुनि वर्षावास में एक गांव में रह सकता है। शेष आठ महीनों में एक गांव में एक मास से अधिक नहीं रह सकता।

पात्र

भगवान् महावीर दीक्षित हुए तब उनके पास कोई पात्र नहीं था। भगवान् ने पहला भोजन गृहस्थ के पात्र में किया। भगवान् ने सोचा—यह पात्र कोई मांजेगा, धोएगा। यह समारम्भ किसके लिए होगा ? मेरे लिए दूसरे को यह क्यों करना पड़े ? उन्होंने पात्र में भोजन करना छोड़ दिया। फिर भगवान् पाणि-पात्र हो गए—हाथ में ही भोजन करने लगे।[1]

भगवान् साधना-काल में तंतुवायशाला में ठहरे हुए थे।[2] उस समय गोशालक ने कहा—'भंते ! मैं आपके लिए भोजन लाऊं ?' भगवान् ने इस अनुरोध को अस्वीकार कर दिया। भगवान् गृहस्थ के पात्र में भोजन न करने का संकल्प कर चुके थे। इसीलिए भगवान् ने गोशालक की बात स्वीकार नहीं की।[3] भगवान् भिक्षा के लिए स्वयं गृहस्थों के घर में जाते और वहीं खड़े रहकर भोजन कर लेते। तीर्थ-स्थापना के बाद भगवान् ने मुनि को एक पात्र रखने की अनुमति दी। अब मुनिजन पात्रों में भिक्षा लाने लगे। भगवान् के लिए भिक्षा लाने का अवकाश ही नहीं रहा। गणधर गौतम ने भगवान् के लिए भिक्षा लाने की व्यवस्था कर दी। मुनि लोहार्य इस कार्य में नियुक्त थे। भगवान् उनके द्वारा लाया हुआ भोजन करते थे। एक आचार्य ने उनकी स्तुति में लिखा है—

'धन्य है वह लोहार्य श्रमण,
परम सहिष्णु कनक-गोरवर्ण।
जिसके पात्र में लाया हुआ आहार
भगवान् खाते थे, अपने हाथों से।'[4]

अभिवादन

अभिवादन के विषय में भगवान् की दो दृष्टियां प्राप्त होती हैं—साधुत्वमूलक और व्यवस्थामूलक। पहली दृष्टि के अनुसार साधुत्व वंदनीय है। जिस व्यक्ति में

१. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २७१; आचारांगचूर्णि, पृ० ३०६।
२. गोशालक का दूसरा वर्ष।
३. आवश्यकचूर्णि पूर्वभाग पृ० २७१।
४. आयारो, ९।१।१८; आचारांगचूर्णि, पृ० ३०६; आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २७१।

साधुत्व विकसित है वह साधु हो या साध्वी, सबके लिए वंदनीय है। दूसरी दृष्टि के अनुसार भगवान् ने व्यवस्था की—दीक्षा-पर्याय में छोटा साधु या साध्वी दीक्षा-पर्याय में ज्येष्ठ साधु या साध्वी का अभिवादन करे।[१]

साधु-साध्वियों के परस्पर अभिवादन के विषय में भगवान् ने क्या निर्देश दिया, यह उनकी वाणी में उपलब्ध नहीं है। उत्तरवर्ती साहित्य में मिलता है कि सौ वर्ष की दीक्षित साध्वी आज के दीक्षित साधु को वंदना करे। क्योंकि धर्म का प्रवर्तक पुरुष है, धर्म का उपदेष्टा पुरुष है, पुरुष ज्येष्ठ है; लौकिक पथ में भी पुरुष प्रभु होता है, तब लोकोत्तर पथ का कहना ही क्या ?[२]

उस समय लोकमान्यता के अनुसार पुरुष की प्रधानता थी। बहुत सारे धार्मिक संघ भी पुरुष को प्रधानता देते थे। बौद्ध साहित्य से यह तथ्य स्पष्ट होता है। महाप्रजापति गौतमी ने आयुष्यमान् आनन्द का अभिवादन कर कहा, 'भंते आनन्द ! मैं भगवान् से एक वर मांगती हूं। अच्छा हो भंते ! भगवान् भिक्षुओं और भिक्षुणियों में परस्पर दीक्षा-पर्याय की ज्येष्ठता के अनुसार अभिवादन, प्रत्युत्थान, हाथ जोड़ने और सत्कार करने की अनुमति दे दें।'

आनन्द ने यह बात बुद्ध से कही। तब भगवान् बुद्ध ने कहा, 'आनन्द ! इसकी जगह नहीं, इसका अवकाश नहीं कि तथागत स्त्रियों को अभिवादन, प्रत्युत्थान, हाथ जोड़ने और सत्कार करने की अनुमति दें।'

'आनन्द ! जिनका धर्म ठीक से नहीं कहा गया है, वे तीर्थिक (दूसरे मतवाले साधु) भी स्त्रियों को अभिवादन, प्रत्युत्थान, हाथ जोड़ने और सत्कार करने की अनुमति नहीं देते तो भला तथागत स्त्रियों को अभिवादन, प्रत्युत्थान, हाथ जोड़ने और सत्कार करने की अनुमति कैसे दे सकते हैं ?'

तब भगवान् ने इसी सम्बन्ध में इसी प्रकरण में धार्मिक कथा कह, भिक्षुओं को सम्बोधित किया—'भिक्षुओ ! स्त्रियों का अभिवादन, प्रत्युत्थान, हाथ जोड़ना और सत्कार नहीं करना चाहिए, जो करे उसे उत्कट का दोष हो।'[३]

भगवान् महावीर का दृष्टिकोण स्त्रियों के प्रति बहुत उदार था। साधना के क्षेत्र में उन्हें पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त थी। समता का प्रयोग स्त्री-पुरुष—दोनों पर समान रूप से चलता था। अतः यह कल्पना करने को मन ललचाता है कि भगवान् ने अभिवादन की स्वतन्त्र व्यवस्था की। उसका आशय था—

१. दीक्षा-पर्याय में छोटा साधु ज्येष्ठ साधु का अभिवादन करे।

२. दीक्षा-पर्याय में छोटी साध्वी ज्येष्ठ साध्वी का अभिवादन करे।

---

१. दसवेआलियं, ९।३।३।

२. उपदेशमाला, श्लोक १५, १६।

३. विनयपिटक, पृ० ५२२।

सामुदायिकता

भगवान् महावीर वैयक्तिक स्वतन्त्रता के महान् प्रवक्ता और सामुदायिक मूल्यों के महान् संस्थापक थे। उनके सापेक्षवाद का सूत्र था—व्यक्ति-सापेक्ष, समुदाय और समुदाय-सापेक्ष व्यक्ति।

स्वतन्त्रता और संगठन—दोनों सापेक्ष सत्य हैं। एक की अवहेलना करने का अर्थ है दोनों की अवहेलना करना। इस सत्य को निर्युक्तिकार ने इस भाषा में प्रस्तुत किया है—'जो एक मुनि की अवहेलना करता है, वह समूचे संघ की अवहेलना करता है और जो एक मुनि की प्रशंसा करता है, वह समूचे संघ की प्रशंसा करता है।'[1]

रुचि, संस्कार और विचार—ये व्यवस्था के सूत्र नहीं बन सकते। ये व्यक्तिगत तत्त्व हैं। दीक्षा-पर्याय यह सामुदायिक तत्त्व है। भगवान् ने इसी तत्त्व के आधार पर व्यवस्थाओं का निर्माण किया। मेघकुमार की घटना से इस स्थापना की पुष्टि हो जाती है।

मेघकुमार भगवान् के पास दीक्षित हुआ।[2] रात के समय सब साधुओं ने दीक्षा-पर्याय के क्रम से सोने के स्थान का संविभाग किया। मेघकुमार सबसे छोटा था, इसलिए उसे दरवाज़े के पास सोने का स्थान मिला।

भगवान् के साथ बहुत साधु थे। वे देहचिंता-निवारण, स्वाध्याय, ध्यान आदि प्रयोजनों से इधर-उधर जाने-आने लगे। कोई मेघकुमार के हाथ को छू जाता, कोई पैर को और कोई सिर को। इस हलचल में उसे सारी रात नींद नहीं आई। रात का हर क्षण उसने जागते-जागते बिताया।

राजकुमार, कोमल शैया पर सोया हुआ और राज-प्रासाद के विशाल प्रांगण में रहा हुआ। कठोर शैया, दरवाज़े के पास संकरा स्थान और आने-जाने वाले साधुओं के पैरों-हाथों का स्पर्श। इस विपरीत स्थिति ने मेघकुमार को विचलित कर दिया। वह सोचने लगा—'मैं महाराज श्रेणिक का पुत्र और महारानी धारिणी का आत्मज था। मैं अपने माता-पिता को बहुत प्रिय था। जब मैं घर में था तब ये साधु मेरा कितना आदर करते थे? मुझे पूछते थे। मेरा सत्कार-सम्मान करते थे। मुझे अर्थ और हेतु बतलाते थे। मीठे बोल बोलते थे। आज मैं साधु हो गया। इन साधुओं ने न मेरा आदर किया, न मुझे पूछा, न मेरा सत्कार-सम्मान किया,

---

१ ओघनिर्युक्ति, गाथा : ५२६, ५२७।
एक्कम्मि हीलियम्मि सव्वे ते हीलिया हुंति ॥
एक्कम्मि पूइयम्मि सव्वे ते पूइया हुंति ॥

२ [illegible] काल का पहला वर्ष।

साधुत्व विकसित है वह साधु हो या साध्वी, सबके लिए वंदनीय है। दूसरी दृष्टि के अनुसार भगवान् ने व्यवस्था की—दीक्षा-पर्याय में छोटा साधु या साध्वी दीक्षा-पर्याय में ज्येष्ठ साधु या साध्वी का अभिवादन करे।[१]

साधु-साध्वियों के परस्पर अभिवादन के विषय में भगवान् ने क्या निर्देश दिया, यह उनकी वाणी में उपलब्ध नहीं है। उत्तरवर्ती साहित्य में मिलता है कि सौ वर्ष की दीक्षित साध्वी आज के दीक्षित साधु को वंदना करे। क्योंकि धर्म का प्रवर्तक पुरुष है, धर्म का उपदेष्टा पुरुष है, पुरुष ज्येष्ठ है; लौकिक पथ में भी पुरुष प्रभु होता है, तब लोकोत्तर पथ का कहना ही क्या ?[२]

उस समय लोकमान्यता के अनुसार पुरुष की प्रधानता थी। बहुत सारे धार्मिक संघ भी पुरुष को प्रधानता देते थे। बौद्ध साहित्य से यह तथ्य स्पष्ट होता है। महाप्रजापति गौतमी ने आयुष्यमान् आनन्द का अभिवादन कर कहा, 'भंते आनन्द ! मैं भगवान् से एक वर मांगती हूं। अच्छा हो भंते ! भगवान् भिक्षुओं और भिक्षुणियों में परस्पर दीक्षा-पर्याय की ज्येष्ठता के अनुसार अभिवादन, प्रत्युत्थान, हाथ जोड़ने और सत्कार करने की अनुमति दे दें।'

आनन्द ने यह बात बुद्ध से कही। तब भगवान् बुद्ध ने कहा, 'आनन्द ! इसकी जगह नहीं, इसका अवकाश नहीं कि तथागत स्त्रियों को अभिवादन, प्रत्युत्थान, हाथ जोड़ने और सत्कार करने की अनुमति दें।'

'आनन्द ! जिनका धर्म ठीक से नहीं कहा गया है, वे तीर्थिक (दूसरे मतवाले साधु) भी स्त्रियों को अभिवादन, प्रत्युत्थान, हाथ जोड़ने और सत्कार करने की अनुमति नहीं देते तो भला तथागत स्त्रियों को अभिवादन, प्रत्युत्थान, हाथ जोड़ने और सत्कार करने की अनुमति कैसे दे सकते हैं ?'

तब भगवान् ने इसी सम्बन्ध में इसी प्रकरण में धार्मिक कथा कह, भिक्षुओं को सम्बोधित किया—'भिक्षुओ ! स्त्रियों का अभिवादन, प्रत्युत्थान, हाथ जोड़ना और सत्कार नहीं करना चाहिए, जो करे उसे उत्कट का दोष हो।'[३]

भगवान् महावीर का दृष्टिकोण स्त्रियों के प्रति बहुत उदार था। साधना के क्षेत्र में उन्हें पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त थी। समता का प्रयोग स्त्री-पुरुष—दोनों पर समान रूप से चलता था। अतः यह कल्पना करने को मन ललचाता है कि भगवान् ने अभिवादन की स्वतन्त्र व्यवस्था की। उसका आशय था—

१. दीक्षा-पर्याय में छोटा साधु ज्येष्ठ साधु का अभिवादन करे।

२. दीक्षा-पर्याय में छोटी साध्वी ज्येष्ठ साध्वी का अभिवादन करे।

---

१. दसवेआलियं, ९।३।३।

२. उपदेशमाला, श्लोक १५, १६।

३. विनयपिटक, पृ० ५२२।

सामुदायिकता

भगवान् महावीर वैयक्तिक स्वतन्त्रता के महान् प्रवक्ता और सामुदायिक मूल्यों के महान् संस्थापक थे। उनके सापेक्षवाद का सूत्र था—व्यक्ति-सापेक्ष, समुदाय और समुदाय-सापेक्ष व्यक्ति।

स्वतन्त्रता और संगठन—दोनों सापेक्ष सत्य हैं। एक की अवहेलना करने का अर्थ है दोनों की अवहेलना करना। इस सत्य को निर्युक्तिकार ने इन भाषा में प्रस्तुत किया है—'जो एक मुनि की अवहेलना करता है, वह समूचे संघ की अवहेलना करता है और जो एक मुनि की प्रशंसा करता है, वह समूचे संघ की प्रशंसा करता है।'[1]

रुचि, संस्कार और विचार—ये व्यवस्था के सूत्र नहीं बन सकते। ये व्यक्तिगत तत्त्व हैं। दीक्षा-पर्याय यह सामुदायिक तत्त्व है। भगवान् ने इसी तत्त्व के आधार पर व्यवस्थाओं का निर्माण किया। मेघकुमार की घटना से इस स्थापना की पुष्टि हो जाती है।

मेघकुमार भगवान् के पास दीक्षित हुआ।[2] रात के समय सब साधुओं ने दीक्षा-पर्याय के क्रम से सोने के स्थान का संविभाग किया। मेघकुमार सबसे छोटा था, इसलिए उसे दरवाजे के पास सोने का स्थान मिला।

भगवान् के साथ बहुत साधु थे। वे देहचिंता-निवारण, स्वाध्याय, ध्यान आदि प्रयोजनों से इधर-उधर जाने-आने लगे। कोई मेघकुमार के हाथ को छू जाता, कोई पैर को और कोई सिर को। इस हलचल में उसे सारी रात नींद नहीं आई। रात का हर क्षण उसने जागते-जागते बिताया।

राजकुमार, कोमल शैया पर सोया हुआ और राज-प्रासाद के विशाल प्रांगण में रहा हुआ। कठोर शैया, दरवाजे के पास संकरा स्थान और आने-जाने वाले साधुओं के पैरों-हाथों का स्पर्श। इस विपरीत स्थिति ने मेघकुमार को विचलित कर दिया। वह सोचने लगा—'मैं महाराज श्रेणिक का पुत्र और महारानी धारिणी का आत्मज था। मैं अपने माता-पिता को बहुत प्रिय था। जब मैं घर में था तब ये साधु मेरा कितना आदर करते थे? मुझे पूछते थे। मेरा सत्कार-सम्मान करते थे। मुझे अर्थ और हेतु बतलाते थे। मीठे बोल बोलते थे। आज मैं साधु हो गया। इन साधुओं ने न मेरा आदर किया, न मुझे पूछा, न मेरा सत्कार-सम्मान किया,

---

१ ओघनिर्युक्ति, गाथा : ५२६, ५२७।
एक्कम्मि हीलियम्मि सव्वे ते हीलिया हुंति॥
एक्कम्मि पूइयम्मि सव्वे ते पूइया हुंति॥
२ देखिए ज्ञाता का पहला वर्ग।

न मुझे अर्थ और हेतु बतलाया और न मधुर वाणी से मुझे सम्बोधित किया। मुझे एक दरवाज़े के पास सुला दिया। सारी रात मुझे नींद नहीं लेने दी। इस प्रकार मैं कैसे जी सकूंगा ? मैं इस प्रकार की नारकीय रातें नहीं बिता सकता। कल सूर्योदय होते ही मैं भगवान् के पास जाऊंगा, और भगवान् को पूछकर अपने घर लौट जाऊंगा।"[1]

इस घटना के बाद भगवान् महावीर ने नव-दीक्षित साधुओं को उस आनुक्रमिक व्यवस्था से मुक्त कर दिया। उन्हें अनेक कार्यों में प्राथमिकता दी। 'उनकी सेवा करने वाले तीर्थंकर बन सकते हैं, मेरी स्थिति को प्राप्त हो सकते हैं'[2]—यह घोषणा कर भगवान् ने नव-दीक्षित साधुओं की प्राथमिकता को स्थायित्व दे दिया और चिर-दीक्षित साधुओं की व्यवस्था दीक्षा-पर्याय के क्रमानुसार संविभागीय पद्धति से चलती रही।

सेवा

सेवा सामुदायिक जीवन का मौलिक आधार है। इस संसार में विभिन्न रुचि के लोग होते हैं। भगवान् महावीर ने ऐसे लोगों को चार वर्गों में विभक्त किया है[3]—

१. कुछ लोग दूसरों से सेवा लेते हैं, पर देते नहीं।
२. कुछ लोग दूसरों को सेवा देते हैं, पर लेते नहीं।
३. कुछ लोग सेवा लेते भी हैं और देते भी हैं।
४. कुछ लोग न सेवा लेते हैं और न देते हैं।

सामुदायिक जीवन में सेवा लेना और देना—यही विकल्प सर्वमान्य होता है। भगवान् ने इसी आधार पर सेवा की व्यवस्था की।

कुछ साधु परिव्रजन कर रहे हैं। उन्हें पता चले कि इस गांव में कोई रुग्ण साधु है। वे वहां जाएं और सेवा की आवश्यकता हो तो वहां रहें। यदि आवश्यकता न हो तो अन्यत्र चले जाएं। रुग्ण साधु का पता चलने पर वहां न जाएं तो वे संघीय अनुशासन का भंग करते हैं और प्रायश्चित्त के भागी होते हैं।

भगवान् ने ग्लान साधु की सेवा को साधना की कोटि का मूल्य दिया। संघीय सामाचारी के अनुसार एक मुनि आचार्य के पास जाकर कहता—'भंते ! मैं आवश्यक क्रिया से निवृत्त हूं। अब आप मुझे कहां नियोजित करना चाहते हैं ? यदि सेवा की अपेक्षा हो तो मुझे उसमें नियोजित करें। उसकी अपेक्षा न हो तो

---

१. नायाधम्मकहाओ, १।१५२-१५४।
२. नायाधम्मकहाओ, ८।१२।
३. ठाणं, ४।४१२।

२३

संघातीत साधना

भगवान् महावीर तीर्थंकर थे। जो व्यक्ति सत्य का साक्षात् और प्रतिपादन —दोनों करता है, वह तीर्थंकर होता है। उस समय भारतीय धर्म की दो धाराएं चल रही थीं—एक शास्त्र की और दूसरी तीर्थंकर की।

मीमांसा दर्शन ने तर्क उपस्थित किया कि शरीरधारी व्यक्ति वीतराग नहीं हो सकता। जो वीतराग नहीं होता, वह सर्वज्ञ नहीं हो सकता। जो सर्वज्ञ नहीं होता, उसके द्वारा प्रतिपादित शास्त्र प्रमाण नही हो सकता। इस तर्क के आधार पर मीमांसकों ने पौरुषेय (पुरुष द्वारा कृत) शास्त्र का प्रामाण्य स्वीकार नहीं किया। वे वेदों को अपौरुषेय (ईश्वरीय) मानकर उनका प्रामाण्य स्वीकार करते थे।

श्रमण दर्शन का तर्क था कि शास्त्र वर्णात्मक होता है, इसलिए वह अपौरुषेय नहीं हो सकता। पुरुष साधना के द्वारा वीतराग हो सकता है। वीतराग पुरुष कैवल्य या बोधि प्राप्त कर लेता है। कैवल्य-प्राप्त पुरुष का वचन प्रमाण होता है।

बौद्ध साहित्य में महावीर, अजितकेशकंबली, पकुधकात्यायन, गोशालक, संजयवेलट्ठिपुत्त और पूरणकश्यप—इन्हें तीर्थंकर कहा गया है। बुद्ध भी तीर्थंकर थे। शंकराचार्य ने कपिल और कणाद को भी तीर्थंकर कहा है।[1]

जैन साहित्य में महावीर को आदिकर कहा गया है। परम्परा का सूत्र उन्हें चौवीसवां और इस युग का अन्तिम तीर्थंकर कहता है। वास्तविकता यह है कि प्रत्येक तीर्थंकर आदिकर होता है। वह किसी पुराने शास्त्र के आधार पर सत्य का प्रतिपादन नहीं करता। वह सत्य का साक्षात्कार कर उसका प्रतिपादन करता है। इस दृष्टि से प्रत्येक तीर्थंकर पहला होता है, अंतिम कोई नहीं होता।

---

१. ब्रह्मसूत्र, अ० २, पा० १, अधि० ३, सू० ११—शांकरभाष्य।

भगवान् महावीर ने अपने प्रत्यक्ष बोध के आधार पर सत्य का प्रतिपादन किया। भगवान् पार्श्व भी तीर्थंकर थे। उन्होंने अपने प्रत्यक्ष बोध से सत्य का प्रतिपादन किया। महावीर के प्रतिपादन का पार्श्व के प्रतिपादन से भिन्न होना आवश्यक नहीं है तो अभिन्न होना भी आवश्यक नहीं है। सत्य के अनन्त पक्ष हैं। प्रत्यक्षदर्शी उन्हें जान लेता है पर उन सबका प्रतिपादन नहीं कर पाता। ज्ञान की शक्ति असीम है, वाणी की शक्ति ससीम है। इसलिए प्रतिपादन सीमित और सापेक्ष ही होता है। भगवान् पार्श्व को जिस तत्त्व के प्रतिपादन की अपेक्षा थी, उसी का प्रतिपादन उन्होंने किया, शेष का नहीं किया। समग्र का प्रतिपादन हो नहीं सकता। भगवान् महावीर ने भी उसी तत्त्व का प्रतिपादन किया जिसकी अपेक्षा उनके सामने थी। निष्कर्ष की भाषा यह होगी कि सत्य का दर्शन दोनों का भिन्न नहीं था, प्रतिपादन भिन्न भी था।

भगवान् महावीर का साधना-मार्ग भगवान् पार्श्व के साधना-मार्ग से कुछ भिन्न था। इतिहास की स्थापना है कि भगवान् पार्श्व संघबद्ध साधना के प्रवर्तक हैं। उनसे पहले व्यक्तिगत साधना चलती थी। उसे सामूहिक रूप भगवान् पार्श्व ने दिया।

अध्यात्म वस्तुतः वैयक्तिक होता है। वह संघबद्ध कैसे हो सकता है? सत्य का साक्षात् करने के लिए असीम स्वतन्त्रता अपेक्षित होती है। संघीय जीवन में वह प्राप्त नहीं हो सकती। उसमें समझौता चलता है। सत्य में समझौते के लिए कोई अवकाश नहीं है। व्यवहार विवादास्पद हो सकता है। सत्य निर्विवाद है। जहां विवाद हो, वहां समझौता आवश्यक होता है। निर्विवाद के लिए समझौता कैसा?

संघ में व्यवहार होता है और व्यवहार में समझौता। फिर भगवान् पार्श्व ने संघबद्ध साधना का सूत्रपात क्यों किया? भगवान् महावीर ने उसे मान्यता क्यों दी? वे भगवान् पार्श्व के अनुयायी नहीं थे, शिष्य नहीं थे। भगवान् पार्श्व ने जिस परम्परा का सूत्रपात किया उसे चलाना उनके लिए अनिवार्य नहीं था। फिर संघबद्ध साधना को उनकी सम्मति क्यों मिली?

भगवान् महावीर साधना के पथ पर अकेले ही चले थे। वर्षों तक अकेले ही चलते रहे। केवली होने के बाद वे संघबद्धता में आए। उनके भीतरी बंधन टूट गए, तब उन्होंने बाहरी बंधन स्वीकार किया। यह बंधन [illegible] मुक्ति के लिए स्वीकृत था। यथार्थ की भाषा में यह बंधन नहीं, [illegible] था। [illegible] ज्योति प्रज्वलित होती है। उसके प्रज्वलन का प्रयोजन है प्रकाश, केवल प्रकाश।

भगवान् पार्श्व ने साधना का संघीकरण एक विशेष सन्दर्भ में किया। वह था जीवन-व्यवहार का समुचित संचालन। कुछ साधक शरीर से अशक्त थे और कुछ

सक्षम। कुछ साधक स्वस्थ थे और कुछ रुग्ण। कुछ साधक युवा थे और कुछ वृद्ध। दुर्बल, रुग्ण और वृद्ध साधक जीवन-यापन की कठिनाई का अनुभव करते थे। वे या तो जीवन चला नहीं पाते या जीवन चलाने के लिए गृहस्थों का सहारा लेते थे। भगवान् पार्श्व ने सोचा कि यदि दूसरे का सहारा ही लेना है तो फिर एक साधक दूसरे साधक का सहारा क्यों न ले ? गृहस्थ के अपने उत्तरदायित्व हैं। उसे उन्हें निभाना होता है। साधकों पर कोई पारिवारिक उत्तरदायित्व नहीं होता। अक्षम साधक की परिचर्या का उत्तरदायित्व समर्थ साधक के कंधों पर क्यों नहीं आना चाहिए ?

यह चिंतन संघीय साधना का पहला उच्छ्वास बना। उन्मुक्त साधना की कोई पद्धति नहीं होती। संघीय साधना पद्धतिबद्ध होती है। साधना को संघीय बनाने के लिए उसकी पद्धति का निर्धारण किया गया। पद्धतिहीन साधना का एकरूप होना जरूरी नहीं है, किन्तु पद्धतिबद्ध साधना का एकरूप होना अत्यन्त जरूरी है। इस एकरूपता के लिए साधना के संविधान की रचना हुई। उससे मुनि-संघ अनुशासित हो गया। संगठन की दृष्टि से उसका बहुत महत्त्व नहीं है। अनुशासन और साधना की प्रकृति भिन्न है। साधक भी भिन्न-भिन्न प्रकृति के होते हैं। कुछ अनुशासन के साथ साधना को पसन्द करते हैं और कुछ मुक्त साधना को। मुक्त साधना करने वाले अपना पथ स्वयं चुन लेते हैं। कुछ साधक संघ में दीक्षित होकर बाद में मुक्त साधना करना चाहते हैं। भगवान् महावीर ने इन सबको मान्यता दी। भगवान् ने साधकों को तीन श्रेणियों में विभक्त कर दिया—

१. प्रत्येक बुद्ध—प्रारम्भ से ही संघ-मुक्त साधना करने वाले।

२. स्थविरकल्पी—संघबद्ध साधना करने वाले।

३. जिनकल्पी—संघ से मुक्त होकर साधना करने वाले।

यह श्रेणी-विभाग भगवान् पार्श्व के समय में भी उपलब्ध होता है। संघ साधना का स्थायी केन्द्र था। अकेले रहकर साधना करने वाले साधकों को उस (साधना) की अनुमति मिल जाती। वे साधना पूर्ण कर फिर संघ में आना चाहते तो आ सकते थे। भगवान् महावीर की दृष्टि संघ से बंधी हुई नहीं थी। उसका अनुबंध साधना के साथ था। साधक का लक्ष्य साधना को विकसित करना है, फिर वह संघ में रहकर करे या अकेले में। साधना-शून्य होकर अकेले में रहना भी अच्छा नहीं है और संघ में रहना भी अच्छा नहीं है। संघ को प्रधान मानने वाले व्यक्ति अपने द्वार को खुला नहीं रख सकते। जो अपने संघ के भीतर आ गया, उसके लिए बाहर जाने का द्वार बन्द रहता है और जो बाहर चला गया, उसके लिए भीतर आने का द्वार बन्द रहता है। भगवान् महावीर ने आने और जाने के दोनों द्वार खुले रखे। साधना के लिए कोई भीतर आए तो आने का द्वार खुला है और साधना के लिए कोई बाहर जाए तो जाने का द्वार खुला है।

'हम साधु हैं।'

'इस पात्र में क्या है ?'

'भोजन।'

'भोजन का संग्रह करते हो, फिर साधु कैसे ? साधु को जो मिले वह वहीं खा लेना चाहिए। वह पात्र भर क्यों ले जाए ?'

'हम संग्रह नहीं करते, किन्तु यह भोजन बीमार साधु के लिए ले जा रहे हैं।'

'दूसरों के लिए ले जा रहे हो, तब तुम निश्चित ही साधु नहीं हो। यह गृहस्थोचित कार्य है, साधु-जनोचित कार्य नहीं है। यह मोह है।'

'यह मोह नहीं है, यह सेवा है। भगवान् महावीर ने इसका समर्थन किया है। एक साधक दूसरे साधक की सेवा करे, इसमें अनुचित क्या है ? इसे गृहस्थ-कर्म क्यों माना जाए ?'

संघबद्ध रहना और परस्पर सहयोग करना, उस समय पूर्णतः विवाद-रहित नहीं था। फिर भी भगवान् महावीर ने संघबद्ध साधना का मूल्य कम नहीं किया। साथ-साथ संघमुक्त साधना को भी पदच्युत नहीं किया। दोनों विधाओं के लिए भगवान् का दृष्टिकोण स्पष्ट था। उन्होंने कहा—

१. जिस साधक को सहयोग की अपेक्षा हो, वह संघ में रहकर साधना करे।
२. जिसमें अकेला रहने की क्षमता हो, वह एकाकी साधना करे।
३. संघ में निपुण सहायक—उत्कृष्ट या समान चरित्र वाले साधक के साथ रहे। हीन चरित्र वाले साधक के साथ न रहे। निपुण सहायक के अभाव में अकेला रहकर साधना करे।[1]

---

१. उत्तरज्झयणाणि, ३२।५।

किया। फिर चन्दनबाला के हाथ से भिक्षा लेकर भोजन किया। यह कोई अकारण आग्रह नहीं था। यह मेरा प्रयोग था, नारी-जाति के पुनरुत्थान की दिशा में।'

'भंते ! मैं अनुभव कर रहा हूं कि भगवान् का वह प्रयोग बहुत सफल रहा। चन्दनबाला को दीक्षित कर भगवान् ने नारी जाति के विकास का अवरुद्ध द्वार ही खोल दिया। भंते ! भगवान् ने एक जाति के उदय का प्रयत्न किया, क्या इससे दूसरी जाति का अनुदय नहीं होगा ?'

'गौतम ! समता धर्म का साधक सर्वोदय चाहता है। वह किसी एक के हित-साधन से दूसरे के हित को बाधित नहीं करता। जब मनुष्य विषमता का पथ चुनता है, तभी हितों का संघर्ष खड़ा होता है। मैंने दासप्रथा का विरोध सर्वोदय की दृष्टि से किया। मेरा समता धर्म किसी भी व्यक्ति को दास बनाने की स्वीकृति नहीं देता। मैं दास बनाने में बड़े लोगों का अहित देखता हूं, नहीं बनाने में नहीं देखता।'

'भंते ! भगवान् को कष्ट न हो तो मैं जानना चाहता हूं कि भगवान् ने समता के प्रयोग मानव-जगत् पर ही किए या समूचे प्राणी-जगत् पर ?'

'गौतम ! मेरे समता धर्म में पशु-पक्षियों का मूल्य कम नहीं है। समूचे प्राणी जगत् को मैंने आत्मा की दृष्टि से देखा है। चंडकौशिक सर्प मुझे डसता रहा और मैं उसे प्रेम की दृष्टि से देखता रहा। आखिर विषधर शान्त हो गया। उसमें समता का निर्झर प्रवाहित हो गया।'

'भंते ! भगवान् अब भविष्य में क्या करना चाहते हैं ?'

'गौतम ! जो साधना-काल में किया, वही करना चाहता हूं। मेरे करणीय की सूची लम्बी नहीं है। मेरे सामने एक ही कार्य है और वह है विषमता के आसन पर समता की प्रतिष्ठा।'

'भंते ! समता की प्रतिष्ठा चाहने वाला क्या शरीर के प्रति विषम व्यवहार कर सकता है ?'

'कभी नहीं, गौतम !'

'भंते ! फिर भगवान् ने कैसे किया ? बहुत कठोर तप तपा। क्या यह शरीर के प्रति समतापूर्ण व्यवहार है ?'

'गौतम ! इसका उत्तर बहुत सीधा है। जितना रोग उतनी चिकित्सा और जैसा रोग वैसी चिकित्सा। मैंने रोगानुसार चिकित्सा की, शरीर को यातना देने की कोई चेष्टा नहीं की।'

'भंते ! संस्कार-शुद्धि ध्यान से ही हो जाती, फिर भगवान् को तप क्यों आवश्यक हुआ ?'

'गौतम ! एकांगी कार्य में मेरा विश्वास नहीं है, इसलिए मैंने तप और ध्यान दोनों को साधा। मैं चाहता हूं एकांगिता की वेदी पर समन्वय की प्रतिष्ठा।'

किया। फिर चन्दनबाला के हाथ से भिक्षा लेकर भोजन किया। यह कोई अकारण आग्रह नहीं था। यह मेरा प्रयोग था, नारी-जाति के पुनरुत्थान की दिशा में।'

'भंते ! मैं अनुभव कर रहा हूं कि भगवान् का वह प्रयोग बहुत सफल रहा। चन्दनबाला को दीक्षित कर भगवान् ने नारी जाति के विकास का अवरुद्ध द्वार ही खोल दिया। भंते ! भगवान् ने एक जाति के उदय का प्रयत्न किया, क्या इससे दूसरी जाति का अनुदय नहीं होगा ?'

'गौतम ! समता धर्म का साधक सर्वोदय चाहता है। वह किसी एक के हित-साधन से दूसरे के हित को बाधित नहीं करता। जब मनुष्य विषमता का पथ चुनता है, तभी हितों का संघर्ष खड़ा होता है। मैंने दासप्रथा का विरोध सर्वोदय की दृष्टि से किया। मेरा समता धर्म किसी भी व्यक्ति को दास बनाने की स्वीकृति नहीं देता। मैं दास बनाने में बड़े लोगों का अहित देखता हूं, नहीं बनाने में नहीं देखता।'

'भंते ! भगवान् को कष्ट न हो तो मैं जानना चाहता हूं कि भगवान् ने समता के प्रयोग मानव-जगत् पर ही किए या समूचे प्राणी-जगत् पर ?'

'गौतम ! मेरे समता धर्म में पशु-पक्षियों का मूल्य कम नहीं है। समूचे प्राणी जगत् को मैंने आत्मा की दृष्टि से देखा है। चंडकौशिक सर्प मुझे डसता रहा और मैं उसे प्रेम की दृष्टि से देखता रहा। आखिर विषधर शान्त हो गया। उसमें समता का निर्झर प्रवाहित हो गया।'

'भंते ! भगवान् अब भविष्य में क्या करना चाहते हैं ?'

'गौतम ! जो साधना-काल में किया, वही करना चाहता हूं। मेरे करणीय की सूची लम्बी नहीं है। मेरे सामने एक ही कार्य है और वह है विषमता के आसन पर समता की प्रतिष्ठा।'

'भंते ! समता की प्रतिष्ठा चाहने वाला क्या शरीर के प्रति विषम व्यवहार कर सकता है ?'

'कभी नहीं, गौतम !'

'भंते ! फिर भगवान् ने कैसे किया ? बहुत कठोर तप तपा। क्या यह शरीर के प्रति समतापूर्ण व्यवहार है ?'

'गौतम ! इसका उत्तर बहुत सीधा है। जितना रोग उतनी चिकित्सा और जैसा रोग वैसी चिकित्सा। मैंने रोगानुसार चिकित्सा की, शरीर को यातना देने की कोई चेष्टा नहीं की।'

'भंते ! संस्कार-शुद्धि ध्यान से ही हो जाती, फिर भगवान् को तप क्यों आवश्यक हुआ ?'

'गौतम ! एकांगी कार्य में मेरा विश्वास नहीं है, इसलिए मैंने तप और ध्यान दोनों को साधा। मैं चाहता हूं एकांगिता की वेदी पर समन्वय की प्रतिष्ठा।'

'भंते ! क्या भगवान् को भोजन करना इष्ट नहीं था ?'

'गौतम ! मैं इसका उत्तर एकान्त की भाषा में नहीं दे सकता। साधना की पुष्टि के लिए मैंने भोजन किया। उसमें बाधा उत्पन्न करने वाला भोजन मैंने नहीं किया। यह सापेक्षता है। मैं अनाग्रह के दीवट पर सापेक्षता का दीप जलाना चाहता हूं।'

'भंते ! श्रमणों ने पहले से ही अनेक दीप जला रखे हैं, फिर नया दीप जलाने की क्या आवश्यकता है ?'

'गौतम ! मैं मानता हूं भगवान् पार्श्व ने प्रखर ज्योति प्रज्वलित की थी। किन्तु आज वह कुछ क्षीण हो गई है। उसमें पुनः प्राण फूंकना आवश्यक है।'

'भंते ! बारह वर्ष तक आप अकेले रहे, अब आपको संघ-निर्माण की आवश्यकता क्यों हुई ?'

'गौतम ! मुझे अहिंसा और सापेक्षता को जनता तक पहुंचाना है। उसे जनता के माध्यम से ही पहुंचाया जा सकता है। धर्म की उत्पत्ति और निष्पत्ति समाज में ही होती है, शून्य में नहीं होती।'

'भंते ! फिर लम्बे समय तक शून्य में रहने का क्या अर्थ है ?'

'गौतम ! उसका अर्थ था शून्य को भरना। अपनी शून्यता को भरे बिना दूसरों की शून्यता को भरा नहीं जा सकता। मैं साधना-काल में लगभग अकेला रहा। न सभा में उपस्थिति, न प्रवचन और न संगठन। तत्त्व-चर्चा भी बहुत कम। मैंने साधना-काल का बारहवां चातुर्मास चम्पा में बिताया। मैं स्वातिदत्त ब्राह्मण की अग्नि-होत्र शाला में रहा। एक दिन स्वातिदत्त ने पूछा—

'भंते ! आत्मा क्या है ?'

'जो अहं (मैं) का अनुभव है, वही आत्मा है।'

'भंते ! वह कैसा है ?'

'सूक्ष्म है।'

'भंते ! सूक्ष्म का अर्थ ?'

'जो इन्द्रियों द्वारा गृहीत नहीं होता।'

'भंते ! इसका साक्षात्कार कैसे किया जा सकता है ?'

'मैं इसी प्रयत्न में लगा हूं।'

स्वातिदत्त आत्मा की खोज में लग गया। मुझे आत्मा ही प्रिय रहा है। इसलिए मैंने स्वयं उसकी खोज की है और यदा-कदा दूसरों को उस दिशा में जाने को प्रेरित किया है।'

मैंने साधना के दूसरे वर्ष में एक शिष्य भी बनाया। उसका नाम था—

१ [illegible]

मंखलिपुत्र गोशालक। वह कुछ वर्षों तक मेरे साथ रहा। फिर उसने मेरा साथ छोड़ दिया।

मैंने गोशालक के साथ कुछ बातें की, उसके प्रश्नों का उत्तर दिया, अपने अतीन्द्रिय ज्ञान का थोड़ा-थोड़ा परिचय कराया और आंतरिक शक्ति के कुछ रहस्य भी सिखाए।

'भंते ! यह प्रकरण बहुत ही दिलचस्प है, मैं इसे थोड़े विस्तार से सुनना चाहता हूं। मैं विश्वास करता हूं, भगवान् मुझ पर कृपा करेंगे।'

'गौतम ! गोशालक आज नियतिवादी हो गया है। नियतिवाद के बीज एक दिन मैंने ही बोए थे।'

'भंते ! यह कैसे ?'

'गौतम ! एक बार हम (मैं और गोशालक) कोल्लाग सन्निवेश से सुवर्णखल की ओर जा रहे थे।[1] मार्ग में एक स्थान पर ग्वाले खीर पका रहे थे। गोशालक ने मुझे रोकना चाहा। मैंने कहा—खीर नहीं पकेगी, हांड़ी फट जाएगी।

मैं आगे चला गया। गोशालक वहीं रहा। उसने ग्वालों को सावधान कर दिया। ग्वालों ने हांड़ी को बांस की खपाचों से बांध दिया। हांड़ी दूध से भरी थी। चावल अधिक थे। वे फूले तब हांड़ी फट गई। खीर नीचे ढुल गई। गोशालक के मन में नियति का पहला बीज-वपन हो गया। उसने सोचा—जो होने का होता है वह होकर ही रहता है।[2] ऐसी अनेक घटनाएं घटित हुईं। एक-दो मुख्य घटनाएं ही मैं तुम्हें बता रहा हूं।

एक बार हम लोग सिद्धार्थपुर से कूर्मग्राम जा रहे थे।[3] रास्ते में एक खेत आया। उसमें सात पुष्प वाला एक तिल का पौधा था। गोशालक ने मुझे पूछा—'क्या यह फलेगा ?' मैंने कहा—'अवश्य फलेगा। इसके सात पुष्पों के सात जीव एक ही फली में उत्पन्न होंगे।'

मैं आगे बढ़ गया। गोशालक पीछे की ओर मुड़ा। उसने उस खेत में जा तिल के पौधे को उखाड़ दिया।

हम कुछ दिन कूर्मग्राम में ठहरकर वापस सिद्धार्थपुर जा रहे थे। फिर वही खेत आया। गोशालक ने कहा—'भंते ! वह तिल का पौधा नहीं फला, जिसके फलने की आपने भविष्यवाणी की थी।'

मैंने सामने की ओर उंगली से संकेत कर कहा—'यह वही तिल का पौधा है, जिसके फलने की मैंने भविष्यवाणी की थी और जिसे तुमने उखाड़ा था।'

---

१. साधना का तीसरा वर्ष।
२. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २८३।
३. साधना का दसवां वर्ष।

गोशालक को मेरी बात पर विश्वास नहीं हुआ। वह उस पौधे के पास गया। उसकी फली को तोड़कर देखा। उसमें सात ही तिल निकले। वह स्तब्ध रह गया। उसने आश्चर्य के साथ पूछा—'भंते ! यह कैसे हुआ ?' मैंने उसे बताया—'हम उस पौधे को उखाड़कर आ गए। थोड़ी देर के बाद वर्षा हुई। उधर से एक गाय आई। उसका खुर उस पर पड़ा। वह जमीन में गड़ गया।'

गोशालक के मन में नियति का बीज अंकुरित हो गया। उसने फिर इसी भाषा में सोचा—'जो होने का होता है, वह होकर ही रहता है। मृत्यु के उपरान्त सभी जीव अपनी ही योनि में उत्पन्न होते हैं।'[1]

गौतम बड़ी तन्मयता से भगवान् की बात सुन रहे थे। उनकी बुद्धि प्रत्येक तथ्य की गहराई तक पहुंच रही थी। वे भगवान् के प्रत्येक वचन को बड़ी सूक्ष्मता से पकड़ रहे थे। वे अतृप्त जिज्ञासा को शान्त करने के लिए बोले—'भंते ! आपने गोशालक को शक्ति के रहस्य सिखलाए, उस विषय में कुछ सुनना चाहता हूं।'

भगवान् ने कहना प्रारम्भ किया—'एक बार हम लोग कूर्मग्राम में विहार कर रहे थे।[2] वहां वैश्यायन नाम का तपस्वी तपस्या कर रहा था। मध्याह्न का समय। दोनों हाथ ऊपर की ओर तने हुए थे। लम्बी जटा। सूर्य के सामने दृष्टि। उग्र थी उसकी मुद्रा। उसकी जटा से जूएं गिर रही थीं। वह उन्हें उठाकर पुनः अपनी जटा में रख रहा था। यह देख गोशालक ने मुझसे पूछा—'भंते ! यह जूओं का आश्रयदाता कौन है ?' उसने इस प्रश्न को कई बार दोहराया। तपस्वी क्रुद्ध हो गया। उसने गोशालक को जलाने के लिए तेजोलब्धि नामक योगशक्ति का प्रयोग किया। उसके मुंह से धुआं निकलने लगा। उसके पीछे आग की तेज लपटें दौड़ रही थीं। उस समय मैंने अपने शिष्य को भस्म होने देना उचित नहीं समझा। मैंने शीत तेजोलब्धि का प्रयोग कर उसे हतप्रभ कर दिया। गोशालक का जीवन बच गया।'[3]

इस घटना का उसके मन पर बहुत असर हुआ। वह तेजोलब्धि को प्राप्त करने के लिए आतुर हो गया। मैंने उसका रहस्य गोशालक को बता दिया। उसने बड़ी तत्परता से तेजोलब्धि की साधना की। वह उसे प्राप्त कर शक्तिशाली हो गया।'

गौतम ने पूछा—'भंते ! क्या मैं वह रहस्य जान सकता हूं ?'

भगवान् ने कहा—'गौतम ! जो व्यक्ति छह मास तक निरन्तर दो-दो उपवास (बेले-बेले) की तपस्या करता है, सूर्य के सामने दृष्टि गड़ाकर खड़े-खड़े आतापना

१. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २९७, २९८।
२. भगवान् का दसवां वर्ष।
३. भगवती, १५।४०-५४, आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २९८, २९९।

आतप लेता है, पारणा के दिन मुट्ठी भर उबले हुए छिलकेदार उड़द खाता है और चुल्लूभर गर्म पानी पीता है, वह तेजोलब्धि को प्राप्त कर लेता है।'[1]

गौतम जैसे-जैसे भगवान् को सुन रहे थे, वैसे-वैसे उनका मन भगवान् के चरणों में लीन हो रहा था। वे अपने गुरु के गौरवमय अतीत पर प्रफुल्ल हो रहे थे। वे भावावेश में बोले—'भंते ! मैंने आपको बहुत कष्ट दिया। पर क्या करूं, इसके बिना अतीत की शून्यता को भर नहीं सकता। भंते ! आपको मेरी भावना की पूर्ति के लिए थोड़ा कष्ट और करना होगा। भंते ! महाश्रमण पार्श्व का धर्म-तीर्थ आज भी चल रहा है। उसमें सैकड़ों-सैकड़ों साधु-साध्वियां विद्यमान हैं। भगवान् से उनका कभी साक्षात् नहीं हुआ ?'

'गौतम ! मुझे लोकमान्य अर्हत् पार्श्व के शासन से च्युत कुछ परिव्राजक मिले थे। उनके शासन का कोई साधु नहीं मिला। गोशालक से उनका साक्षात् हुआ था। मैं कुमाराक सन्निवेश के चंपक-रमणीय उद्यान में विहार कर रहा था। गोशालक मेरे साथ था। दुपहरी में उसने भिक्षा के लिए सन्निवेश में चलने का अनुरोध किया। मेरे उपवास था, इसलिए मैं नहीं गया। वह सन्निवेश में गया।

उस सन्निवेश में कूपनय नाम का कुंभकार रहता था। वह बहुत धनाढ्य था। उसकी शाला में भगवान् पार्श्व की परम्परा के साधु ठहरे हुए थे। गोशालक ने उन्हें देखा। उनके बहुरंगी वस्त्रों को देख गोशालक ने पूछा—'आप कौन हैं ?' उन्होंने उत्तर दिया—'हम श्रमण हैं। भगवान् पार्श्व के शासन में साधना कर रहे हैं।'

गोशालक बोला—'इतने वस्त्र-पात्र रखने वाले श्रमण कैसे हो सकते हैं ?'

'उसने बहुत देर तक पार्श्वापत्यीय श्रमणों से वाद-विवाद किया। फिर मेरे पास लौट आया। उसने मुझसे कहा—'भंते ! आज मैंने परिग्रही साधुओं को देखा है।' मैंने अन्तर्ज्ञान से देखकर बताया—'वे परिग्रही नहीं हैं। वे भगवान् पार्श्व के शिष्य हैं।'[2]

'एक बार तम्बाय सन्निवेश में भी पार्श्व की परम्परा के आचार्य नंदिषेण के श्रमणों से गोशालक मिला था। गौतम ! नंदिषेण बहुत ज्ञानी और ध्यानी श्रमण थे। वे रात्रि के समय चौराहे पर खड़े होकर ध्यान कर रहे थे। उस समय आरक्षिक का पुत्र आया। उसने नंदिषेण को चोर समझकर मार डाला।'[3]

'भंते ! यह तो बहुत बुरा हुआ।'

'गौतम ! क्या दासप्रथा बुरी नहीं है ? क्या पशु-बलि बुरी नहीं है ? क्या

---

१. भगवती, १५।६९, ७०, ७६; आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २९९।
२. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २८५, २८६।
३. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २९१।

२५

तत्कालीन धर्म और धर्मनायक

भारतीय क्षितिज में धर्म का सूर्य सुदूर अतीत में उदित हो चुका था। उसका आलोक जैसे-जैसे फैला वैसे-वैसे जनमानस आलोकित होता गया। आलोक के साथ गौरव बढ़ा और गौरव के साथ विस्तार।

भारतीय धर्म की दो धाराएं बहुत प्राचीन हैं—श्रमण और वैदिक। श्रमण धारा का विकास आर्य-पूर्व जातियों और क्षत्रियों ने किया। वैदिक धारा का विकास ब्राह्मणों ने किया। दोनों मुख्य धाराओं की उप-धाराएं अनेक हो गईं। भगवान् महावीर के युग में तीन सौ तिरेसठ धर्म-सम्प्रदाय थे—यह उल्लेख जैन लेखकों ने किया है। बौद्ध लेखक बासठ धर्म-सम्प्रदायों का उल्लेख करते हैं। जैन आगमों में सभी धर्म-सम्प्रदायों का चार वर्गों में समाहार किया गया है—

१. क्रियावाद
२. अक्रियावाद
३. अज्ञानवाद
४. विनयवाद

भगवान् महावीर गृहस्थ जीवन में इन वादों से परिचित थे।[1] इनकी समीक्षा कर उन्होंने क्रियावाद का मार्ग चुना था।

भगवान् महावीर का समय धार्मिक चेतना के नव-निर्माण का समय था। विश्व के अनेक अंचलों में प्रभावी धर्म-नेताओं द्वारा सदाचार और अध्यात्म की लौ प्रज्वलित हो रही थी। चीन में कन्फ्युशस और लाओत्से, यूनान में पैथागोरस, ईरान में जरथुस्त, फिलस्तीन में मूसा आदि महान् दार्शनिक दर्शन के रहस्यों को अनावृत कर रहे थे। भारतवर्ष में श्वेतकेतु, उद्दालक, याज्ञवल्क्य आदि ऋषि

---

१. सूयगडो १।६।२७।

शाण, कलंद, कर्णिकार, अच्छिद्र, अग्निवैश्यायन और गोमायुपुत्र अर्जुन। वे सुख-दु:ख, लाभ-अलाभ और जीवन-मृत्यु के रहस्यों के पारगामी विद्वान् थे। उनकी भविष्यवाणी बड़ी चमत्कारपूर्ण होती थी। वे भगवान् पार्श्व के शासन से पृथक् होकर अष्टांग-निमित्त से जीविका चलाते थे।[1]

भगवान् महावीर इन सारी परिस्थितियों का अध्ययन कर इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि वर्तमान परम्परा में नया प्राण फूंके बिना उसे सजीव नहीं बनाया जा सकता।

---

१. भगवती, १५।३-६; भगवती वृत्ति, पत्र ६५९ : पासावच्चिज्जत्ति चूर्णिकारः।

भगवान् ने जितना बल अहिंसा पर दिया, उतना ही बल ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह पर दिया। उनकी वाणी पढ़ने वाले को इसकी प्रतिध्वनि पग-पग पर सुनाई देती है।

भगवान् ने कहा—'जिसने ब्रह्मचर्य की आराधना कर ली, उसने सब व्रतों की आराधना कर ली। जिसने ब्रह्मचर्य का भंग कर दिया, उसने सब व्रतों का भंग कर दिया।'[1]

जो अब्रह्मचर्य का सेवन नहीं करते, वे मोक्ष जाने वालों की पहली पंक्ति में हैं।[2]

भगवान् का यह स्वर उनके उत्तराधिकार में भी गुंजित होता रहा है। एक आचार्य ने लिखा है—'कोई व्यक्ति मौनी हो या ध्यानी, वल्कल चीवर पहनने वाला हो या तपस्वी, यदि वह अब्रह्मचर्य की प्रार्थना करता है, तो वह मेरे लिए प्रिय नहीं है, भले फिर वह साक्षात् ब्रह्मा ही क्यों न हो।'[3]

भगवान् की आत्म-निष्ठा और अनुत्तर इन्द्रिय-विजय ने ब्रह्मचर्य-विकास के नए आयाम खोल दिए। उनसे पूर्व अब्रह्मचर्य को अनेक दिशाओं से प्रोत्साहन मिल रहा था। कुछ धर्म-चिन्तक 'संतान पैदा किए बिना परलोक में गति नहीं होती'—इस सिद्धान्त का प्रतिपादन कर विवाह की अनिवार्यता प्रतिपादित कर रहे थे। कुछ संन्यासी अब्रह्मचर्य को स्वाभाविक कर्म बतलाकर उसकी निर्दोषता प्रमाणित कर रहे थे। वे कह रहे थे—जैसे व्रण को सहलाना स्वाभाविक है वैसे ही वासना के व्रण को सहलाना स्वाभाविक है। इन दोनों धारणाओं के प्रतिरोध में खड़े होकर भगवान् महावीर ने ब्रह्मचर्य को इतना मूल्य दिया कि उनके उत्तर-युग में गृहवास में रहकर भी ब्रह्मचारी रहने को जीवन की सार्थकता समझा जाने लगा।

भगवान् दीक्षित हुए तब उनके पास केवल एक वस्त्र था। कुछ दिनों बाद उसे भी छोड़ दिया। वे मूर्च्छा की दृष्टि से प्रारम्भ से ही निर्ग्रन्थ थे, किन्तु वस्त्र-त्याग के बाद उपकरणों से भी निर्ग्रन्थ हो गए।

तीर्थ-प्रवर्तन के बाद भगवान् ने निर्ग्रन्थों को सीमित वस्त्र और पात्र रखने की अनुमति दी और वह केवल उन्हीं निर्ग्रन्थों को जो लज्जा पर विजय पाने में असमर्थ थे। महावीर के इन परिवर्तनों ने भगवान् पार्श्व और स्वयं उनके शिष्यों में एक प्रश्न पैदा कर दिया। केशी और गौतम की चर्चा में इसका स्पष्ट चित्र मिलता है।

१. पन्हावागरणाइं, ९।३।
२. पन्हावागरणाइं, ९।३।
३. जइ ठाणी जइ मोणी, जइ झाणी वक्कली तवस्सी वा।
पत्थंतो य अबंभं, बंभा वि न रोयए मज्झं॥

मान्य नहीं है। भगवान् महावीर ने वर्तमान की समस्या का अध्ययन कर वेषभूषा में परिवर्तन किया।'

'जीवन-यात्रा का निर्वाह वेश-धारण का प्रयोजन है। जनता को उसके मुनि होने की प्रतीति हो, यह भी उसका प्रयोजन है। वेश केवल प्रयोजन की निष्पत्ति है, मुक्ति का साधन नहीं है। उसके साधन हैं—ज्ञान, दर्शन और चारित्र। इस विपय में भगवान् पार्श्व और भगवान् महावीर का पूर्ण मतैक्य है।'

'भगवान् महावीर ने देखा—वर्तमान के मुनि वेश में कुछ आसक्त होते जा रहे हैं। मुनि-जीवन आसक्ति को क्षीण करने के लिए है, फिर उसका वेश आसक्ति को बढ़ाने वाला क्यों होना चाहिए ? इस चिंतन के आधार पर भगवान् ने अवस्त्र रहने का विधान किया और कोई अवस्त्र न रह सके उसके लिए अल्पमूल्य वाले अल्पवस्त्र रखने का विधान किया है। यह द्विधा का प्रयत्न नहीं है, यह मुख्य धारा से पृथक् चलने का प्रयत्न नहीं है, किन्तु उसे इस दिशा की ओर मोड़ने का प्रयत्न है।'[1]

केशी के शिष्यों का चित्त समाहित हो गया। उनके मन में एक नई स्फुरणा का उदय हुआ। केशी स्वयं बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने शिष्यों की भावना को पढ़ा और महावीर के तीर्थ में सम्मिलित होने का प्रस्ताव रख दिया। यह गौतम की बहुत बड़ी सफलता थी। महावीर के शासन में एक नया मोड़ लिया। एक प्राचीन तथा प्रभावी स्रोत के मिलन से उसकी धारा विस्तीर्ण हो गई।

भगवान् पार्श्व के शिष्यों ने महावीर और उनके तीर्थ को सहज ही मान्यता नहीं दी। वे लम्बी-लम्बी चर्चाओं के बाद उनके तीर्थ में सम्मिलित हुए और कुछ साधु अन्त तक भी उसमें सम्मिलित नहीं हुए।

गौतम ने केशी और उनकी शिष्य-संपदा को पंच-महाव्रत की परम्परा में दीक्षित किया। वह एक अद्भुत दृश्य था। उसे देखने के लिए हजारों लोग उपस्थित थे। अनेक सम्प्रदायों के श्रमण भी बड़ी उत्सुकता से देख रहे थे। वह कोई साधारण घटना नहीं थी। वह था अतीत और वर्तमान का सामंजस्य। वह था महान् श्रमण-नेताओं की दो धाराओं का एकीकरण।[2]

भगवान् ने रात्रि-भोजन न करने को एक व्रत का रूप दिया[3]। गमन, भाषा, भोजन, उपकरणों का लेना-रखना और उत्सर्ग—इन विषयों में होने वाले प्रमाद और असावधानी का निवारण करने के लिए भगवान् ने पांच समितियों की व्यवस्था की।[4] जैसे—

---

१. उत्तरज्झयणाणि, २३।२९-३४।
२. उत्तरज्झयणाणि, २३।८६, ८९।
३. दसवेआलियं, ६।२५।
४. उत्तरज्झयणाणि, २४।१,२।

मान्य नहीं है। भगवान् महावीर ने वर्तमान की समस्या का अध्ययन कर वेषभूषा में परिवर्तन किया।'

'जीवन-यात्रा का निर्वाह वेश-धारण का प्रयोजन है। जनता को उसके मुनि होने की प्रतीति हो, यह भी उसका प्रयोजन है। वेश केवल प्रयोजन की निष्पत्ति है, मुक्ति का साधन नहीं है। उसके साधन हैं—ज्ञान, दर्शन और चारित्र। इस विषय में भगवान् पार्श्व और भगवान् महावीर का पूर्ण मतैक्य है।'

'भगवान् महावीर ने देखा—वर्तमान के मुनि वेश में कुछ आसक्त होते जा रहे हैं। मुनि-जीवन आसक्ति को क्षीण करने के लिए है, फिर उसका वेश आसक्ति को वढ़ाने वाला क्यों होना चाहिए ? इस चिंतन के आधार पर भगवान् ने अवस्त्र रहने का विधान किया और कोई अवस्त्र न रह सके उसके लिए अल्पमूल्य वाले अल्पवस्त्र रखने का विधान किया है। यह द्विधा का प्रयत्न नहीं है, यह मुख्य धारा से पृथक् चलने का प्रयत्न नहीं है, किन्तु उसे इस दिशा की ओर मोड़ने का प्रयत्न है।"[1]

केशी के शिष्यों का चित्त समाहित हो गया। उनके मन में एक नई स्फुरणा का उदय हुआ। केशी स्वयं बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने शिष्यों की भावना को पढ़ा और महावीर के तीर्थ में सम्मिलित होने का प्रस्ताव रख दिया। यह गौतम की वहुत वड़ी सफलता थी। महावीर के शासन में एक नया मोड़ लिया। एक प्राचीन तथा प्रभावी स्रोत के मिलन से उसकी धारा विस्तीर्ण हो गई।

भगवान् पार्श्व के शिष्यों ने महावीर और उनके तीर्थ को सहज ही मान्यता नहीं दी। वे लम्बी-लम्बी चर्चाओं के बाद उनके तीर्थ में सम्मिलित हुए और कुछ साधु अन्त तक भी उसमें सम्मिलित नहीं हुए।

गौतम ने केशी और उनकी शिष्य-संपदा को पंच-महाव्रत की परम्परा में दीक्षित किया। वह एक अद्भुत दृश्य था। उसे देखने के लिए हज़ारों लोग उपस्थित थे। अनेक सम्प्रदायों के श्रमण भी बड़ी उत्सुकता से देख रहे थे। वह कोई साधारण घटना नहीं थी। वह था अतीत और वर्तमान का सामंजस्य। वह था महान् श्रमण-नेताओं की दो धाराओं का एकीकरण।[2]

भगवान् ने रात्रि-भोजन न करने को एक व्रत का रूप दिया[3]। गमन, भाषा, भोजन, उपकरणों का लेना-रखना और उत्सर्ग—इन विषयों में होने वाले प्रमाद और असावधानी का निवारण करने के लिए भगवान् ने पांच समितियों की व्यवस्था की।[4] जैसे—

---

१. उत्तरज्झयणाणि, २३।२९-३४।
२. उत्तरज्झयणाणि, २३।८६, ८९।
३. दसवेआलियं, ६।२५।
४. उत्तरज्झयणाणि, २४।१,२।

१. ईर्या—गतिशुद्धि का विवेक।
२. भाषा—भाषाशुद्धि का विवेक।
३. एषणा—भोजन का विवेक।
४. आदान-निक्षेप—उपकरण लेने-रखने का विवेक।
५. उत्सर्ग—मल-मूत्र के विसर्जन का विवेक।

इन समितियों का विधान कर भगवान् ने साधु-संघ के सामने अहिंसा का व्यापक रूप उपस्थित कर दिया, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अहिंसा की व्यावहारिकता, उपयोगिता और सार्थकता का दृष्टिकोण प्रस्तुत कर दिया। उनका साधु-संघ अहिंसा की साधना में अत्यन्त जागरूक हो गया।

भगवान् जीवन की छोटी-छोटी प्रवृत्तियों पर बड़ी गहराई से ध्यान देते थे। वे किसी को दीक्षित करते ही उसका ध्यान इन छोटी-छोटी प्रवृत्तियों की ओर आकृष्ट करते।

मेघकुमार सम्राट् श्रेणिक का पुत्र था। वह भगवान् के पास दीक्षित हुआ। मेघकुमार ने प्रार्थना की—'भंते ! मैं संयम-जीवन की यात्रा के लिए आपसे शिक्षा चाहता हूं।' उस समय भगवान् ने चलने, बैठने, खड़े रहने, सोने, खाने और बोलने में अहिंसा के आचरण की शिक्षा दी।[1] जीवन की महानता का निर्माण छोटी-छोटी प्रवृत्तियों की क्षमता पर होता है—यह सत्य उनके समिति-विधान में अभिव्यक्त हो रहा है।

भगवान् ने संयम की साधना के लिए तीन गुप्तियों का निरूपण किया[2]—

१. मनगुप्ति—मन का संवर, केन्द्रित विचार या निर्विचार।
२. वचनगुप्ति—वचन का संवर, मौन।
३. कायगुप्ति—काय का स्थिरीकरण, शिथिलीकरण, ममत्व-विसर्जन।

भगवान् ने देखा—अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य आदि संयम-साधना की निष्पत्तियां हैं। उनकी सिद्धि के लिए साधनों का सम्यक् चयन और अभ्यास होना चाहिए।

भाषासमिति और वचनगुप्ति के सम्यक् अभ्यास का अर्थ है—जीवन में सत्य की प्रतिष्ठा।

ईर्या, एषणा, उत्सर्ग, कायगुप्ति और मनगुप्ति के सम्यक् अभ्यास का अर्थ है—जीवन में अहिंसा की प्रतिष्ठा।

कायगुप्ति और मनगुप्ति के सम्यक् अभ्यास का अर्थ है—जीवन में ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा।

कायगुप्ति के सम्यक् अभ्यास का अर्थ है—जीवन में अपरिग्रह की प्रतिष्ठा।

---

१. नायाधम्मकहाओ, १।१५० ।
२ उत्तरज्झयणाणि, २४।१,२।

भगवान् महावीर ने भगवान् पार्श्व के चतुर्याम धर्म का विस्तार कर त्रयोदशांग धर्म की प्रतिष्ठा की है। जैसे[1]—

१. अहिंसा
२. सत्य
३. अचौर्य
४. ब्रह्मचर्य
५. अपरिग्रह
६. सम्यक् गति
७. सम्यक् भाषा
८. सम्यक् आहार
९. सम्यक् प्रयोग
१०. सम्यक् उत्सर्ग
११. मनगुप्ति
१२. वचनगुप्ति
१३. कायगुप्ति।

इस विभागात्मक धर्म की स्थापना के दो फलित हुए—

१. भगवान् पार्श्व के श्रमणों में आ रही आन्तरिक शिथिलता पर नियन्त्रण।

२. आन्तरिक शिथिलता के समर्थक तत्त्वों का समाधान।

भगवान् महावीर ने श्रामणिक, लौकिक और वैदिक—तीनों परम्पराओं के उन आचारों और विचारों का प्रतिवाद किया जो अहिंसा की शाश्वत प्रतिमा का विखंडन कर रहे थे। इस आधार पर भगवान् तीनों परम्पराओं के सुधारक या उद्धारक बन गए।

कुछ विद्वान् मानते हैं कि भगवान् महावीर यज्ञों और कर्मकाण्डों में संशोधन करने के लिए एक क्रान्तिकारी धर्मनेता के रूप में सामने आए और उन्होंने जैन धर्म का प्रवर्तन किया। किन्तु यह मत तथ्यों पर आधृत नहीं है। वास्तविकता यह है कि भगवान् श्रमण-परम्परा के क्षितिज में उदित हुए। उनका प्रकाश परम्परा से मुक्त होकर फैला। उसने सभी परम्पराओं को प्रकाशित किया। भगवान् के सामने वेदों की प्रामाणिकता और ब्राह्मणों की प्रधानता को अस्वीकृत करने का प्रश्न ही नहीं था। वह श्रमण-परम्परा के द्वारा पहले से ही स्वीकृत नहीं थी। श्रमण और वैदिक—ये दोनों महान् भारतीय जाति की स्वतंत्र शाखाएं स्वतन्त्र रूप में विकसित हुई थीं। दोनों में भगिनी का सम्बन्ध था, माता और पुत्री का नही।

भगवान् महावीर समन्वयवादी थे। वे क्षत्रियों और ब्राह्मणों के बीच चल रही दीर्घकालीन कटुता को समाप्त करना चाहते थे। उन्होंने ब्राह्मणों को प्रधानता दी—एक जाति के रूप में नहीं, किन्तु व्यक्ति के रूप में। जातीय भेद-भाव उन्हें मान्य नहीं था।

---

१. चारित्रभक्ति (पूज्यपाद रचित), श्लोक ७ :
तिस्रः सत्तमगुप्तयस्तनुमनोभाषानिमित्तोदयाः,
पंचेर्यादिसमाश्रयाः समितयः पंचव्रतानीत्यपि।
चारित्रोपहितं त्रयोदशतयं पूर्वं न दृष्टं परै-
राचारं परमेष्ठिनो जिनमतेर्वीरान् नमामो वयम्॥

२७

क्रान्ति का सिंहनाद

इस विश्व में प्रकाश और तिमिर की भांति सत् और असत् अनादिकाल से है। कोई भी युग केवल प्रकाश का नहीं होता और कोई भी युग केवल अन्धकार का नहीं होता। आज भी प्रकाश है और महावीर के युग में भी अन्धकार था। भगवान् ने मानवीय चेतना की सहस्र रश्मियों को दिग्-दिगंत में फैलने का अवसर दिया। मानस का कोना-कोना आलोक से भर उठा।

भगवान् महावीर ने अहिंसा को समता की भूमिका पर प्रतिष्ठित कर उस युग की चिन्तनधारा को सबसे बड़ी चुनौती दी। अहिंसा का सिद्धान्त श्रमण और वैदिक—दोनों को मान्य था। किन्तु वैदिकों की अहिंसा शास्त्रों पर प्रतिष्ठित थी। उसके साथ विषमता भी चलती थी। उसके घटक तत्त्व भी चलते थे।

१. जातिवाद

विषमता का मुख्य घटक था जन्मना जाति का सिद्धान्त। ब्राह्मण जन्मना श्रेष्ठ माना जाता है और शूद्र जन्मना तुच्छ। इस जातिवाद के विरोध में उन सब ने आवाज़ उठाई जो अध्यात्म-विद्या में निष्णात थे।

वृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य कहते हैं—'ब्रह्मनिष्ठ साधु ही सच्चा ब्राह्मण है।' किन्तु इस प्रकार के स्वर इतने मंद थे कि जातिवाद के कोलाहल में जनता उन्हें सुन ही नहीं पाई। भगवान् महावीर ने उस स्वर को इतना बलवान् बनाया कि उसकी ध्वनि जन-जन के कानों से टकराने लगी। भगवान् ने कर्मणा जाति के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।

भगवान् के शासन में दास, शूद्र और चांडाल जाति के व्यक्ति दीक्षित हुए और उन्हें ब्राह्मणों के समान उच्चता प्राप्त हुई। भगवान् ने अपनी साधु-संस्था को प्रयोगभूमि बनाया। उसमें जातिमद तथा गोत्रमद को निर्मूल करने के प्रयोग

किए। आज हमें अचरज हो सकता है कि साधु-संस्था में इस प्रयोग का अर्थ क्या है ? किन्तु ढाई हज़ार वर्ष पुराने युग में यह अचरज की बात नहीं थी। उस समय यह वास्तविकता थी। बहुत सारे साधु-संन्यासी जाति-गोत्र की उच्चता और नीचता के प्रतिपादन में अपना श्रेय मानते थे। यह विषमता धर्म के मंच से ही पाली-पोसी जाती थी। इसका विरोध भी धर्म के मंच से हो रहा था। भगवान् महावीर ने समता के मंच का नेतृत्व सम्भाल लिया। उनके सशक्त नेतृत्व को पाकर समता का आन्दोलन प्राणवान् हो गया।

भगवान् के संघ में सम्मिलित होने वाले व्यक्ति को सबसे पहले समता (सामायिक) का व्रत स्वीकारना होता, फिर भी कुछ मुनियों के जाति-संस्कार क्षीण नहीं होते।

१. एक बार कुछ निर्ग्रन्थ भगवान् के पास आकर बोले—'भंते ! हम भगवान् के धर्म-शासन में प्रव्रजित हुए हैं। भगवान् ने हमें समता-धर्म में दीक्षित किया है। फिर भी भंते ! हमारे कुछ साथी अपने गोत्र का मद करते हैं और अपने बड़प्पन को बखानते हैं।'

भगवान् ने उस साधु-कुल को आमंत्रित कर कहा—

'आर्यो ! तुम प्रव्रजित हो, इसकी तुम्हें स्मृति है ?'

'भंते ! है।'

'आर्यो ! तुम कहां प्रव्रजित हो, इसकी तुम्हें स्मृति है ?'

'भंते ! है। हम भगवान् के शासन में प्रव्रजित हैं।'

'आर्यो ! तुम्हें इसका पता है, मैंने किस धर्म का प्रतिपादन किया है ?'

'भंते ! हमें वह ज्ञात है। भगवान् ने समता-धर्म का प्रतिपादन किया है।'[1]

'आर्यो ! समता-धर्म में जाति-मद के लिए कोई स्थान है ?'

'भंते ! नहीं है। पर हमारे पुराने संस्कार अभी छूट नहीं रहे हैं।'

उस समय भगवान् ने उन्हें पथ-दर्शन दिया—

'जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, उग्रपुत्र या लिच्छवि मेरे समता-धर्म में दीक्षित होकर गोत्र का मद करता है, वह लौकिक आचार का सेवन करता है।'

'वह सोचे—क्या परदत्तभोजी श्रमण को गोत्र-मद करने का अधिकार है ?'

'वह सोचे—क्या उसे जाति और गोत्र त्राण दे सकते हैं या विद्या और चारित्र ?[2]

---

१. सूयगडो, १।२।६ : समताधम्म मुदाहरे मुणी।

२. सूयगडो, १।१३।१०, ११ :

जे माहणे खत्तिए जाइए वा, तहुग्गपुत्ते तह लेच्छवी वा।
जे पव्वइए परदत्तभोई, गोतेण जे थब्भति माणबद्धे॥
ण तस्स जाती व कुलं व ताणं, णण्णत्थ विज्जाचरणं सुचिण्णं।
णिक्खम्म से सेवईऽगारिकम्मं, ण से पारए होति विमोयणाए॥

२. एक निर्ग्रन्थ ने पूछा—'तो भंते ! हमारा कोई गोत्र नहीं है ?'

'सर्वथा नहीं।'

'भंते ! यह कैसे ?'

'तुम्हारा ध्येय क्या है ?'

'भंते ! मुक्ति।'

'वहां तुम्हारा कौन-सा गोत्र होगा ?'

'भंते ! वह अगोत्र है।'

'सगोत्र अगोत्र में प्रवेश नहीं पा सकता। इसलिए मैं कहता हूं—तुम अगोत्र हो, गोत्रातीत हो।'

भगवान् ने निर्ग्रन्थों को सम्बोधित कर कहा—'आर्यो ! निर्ग्रन्थ को प्रज्ञा, तप, गोत्र और आजीविका का मद नहीं करना चाहिए। जो इनका मद नहीं करता, वही सब गोत्रों से अतीत होकर अगोत्र-गति (मोक्ष) को प्राप्त होता है।[1]

३. भगवान् के संघ में सब गोत्रों के व्यक्ति थे। सब गोत्रों के व्यक्ति उनके सम्पर्क में आते थे। उस समय नाम और गोत्र से सम्बोधित करने की प्रथा थी। उच्च गोत्र से सम्बोधित होने वालों का अहं जागृत होता। नीच गोत्र से सम्बोधित व्यक्तियों में हीन भावना उत्पन्न होती। अहं और हीनता—ये दोनों विषमता के कीर्ति-स्तम्भ हैं। भगवान् को इनका अस्तित्व पसन्द नहीं था। भगवान् ने एक बार निर्ग्रन्थों को बुलाकर कहा—'आर्यो ! मेरी आज्ञा है कि कोई निर्ग्रन्थ किसी को गोत्र से सम्बोधित न करे।'[2]

४. जैसे-जैसे भगवान् का समता का आन्दोलन बल पकड़ता गया, वैसे-वैसे जातीयता के जहरीले दांत काटने को आकुल होते गए। विषमता के रंगमंच पर नए-नए अभिनय शुरू हुए। ईश्वरीय सत्ता की दुहाई से समता के स्वर को क्षीण करने का प्रयत्न होने लगा।

इधर मानवीय सत्ता के समर्थक सभी श्रमण सक्रिय हो गए। भगवान् बुद्ध का

---

१. सूयगडो, १।१३।१५,१६ :

पण्णामदं चेव तवोमदं च, णिण्णामए गोयमदं च भिक्खू।
आजीवगं चेव चउत्थमाहु, से पंडिए उत्तमपोग्गले से ॥
एयाइं मदाइं विगिंच धीरा, णेताणि सेवंति सुधीरधम्मा।
ते सव्वगोतावगता महेसी, उच्चं अगोतं च गतिं वयंति ॥

२. सूयगडो, १।६।२७ :

गोयावायं च णो वए। सूत्रकृतांगचूर्णि, पृ० २२५ : यथा
किं भो ! ब्राह्मण क्षत्रिय काश्यपगोत्र इत्यादि।

स्वर भी पूरी शक्ति से गूंजने लगा। श्रमणों का स्वर विषमता से व्यथित मानस को वर्षा की पहली फुहार जैसा लगा। इसका स्वागत उच्च गोत्रीय लोगों ने भी किया। क्षत्रिय इस आन्दोलन में पहले से ही सम्मिलित थे। ब्राह्मण और वैश्य भी इसमें सम्मिलित होने लगे। यह धर्म का आन्दोलन एक अर्थ में जन-आन्दोलन बन गया। इसे व्यापक स्तर पर चलाना भिक्षुओं का काम था। भगवान् बड़ी सतर्कता से उनके संस्कारों को मांजते गए।

एक बार कुछ मुनियों में यह चर्चा चली कि मुनि होने पर शरीर नहीं छूटता, तब गोत्र कैसे छूट सकता है? यह बात भगवान् तक पहुंची। तब भगवान् ने मुनि-कुल को बुलाकर कहा—'आर्यो! तुमने सर्प की केंचुली को देखा है?'

'हां, भंते! देखा है।'

'आर्यो! तुम जानते हो, उससे क्या होता है?'

'भंते! केंचुली आने पर सर्प अन्धा हो जाता है?'

'आर्यो! केंचुली के छूट जाने पर क्या होता है?'

'भंते! वह देखने लग जाता है।'

'आर्यो! यह गोत्र मनुष्य के शरीर पर केंचुली है। इससे मनुष्य अन्धा हो जाता है। इसके छूटने पर ही वह देख सकता है। इसलिए मैं कहता हूं कि सर्प जैसे केंचुली को छोड़ देता है, वैसे ही मुनि गोत्र को छोड़ दे। वह गोत्र का मद न करे। किसी का तिरस्कार न करे।'[1]

५. भगवान् के संघ में अभिवादन की एक निश्चित व्यवस्था थी। उसके अनुसार दीक्षा-पर्याय में छोटे मुनि को दीक्षा-ज्येष्ठ मुनि का अभिवादन करना होता था। एक मुनि के सामने यह व्यवस्था समस्या बन गई। वह राज्य को छोड़कर मुनि बना था। उसका नौकर पहले ही मुनि बन चुका था। राजर्षि की आंखों पर मद का आवरण आ गया। उसने उस नौकर मुनि का अभिवादन नहीं किया। यह बात भगवान् तक पहुंची। भगवान् ने मुनि-परिषद् को आमंत्रित कर कहा, 'सामाजिक व्यवस्था में कोई सार्वभौम सम्राट् होता है, कोई नौकर और कोई नौकर का भी नौकर। किन्तु मेरे धर्म-संघ में दीक्षित होने पर न कोई सम्राट् रहता है और न कोई नौकर। वे बाहरी उपाधियों से मुक्त होकर उस लोक में पहुंच जाते हैं, जहां सब सम हैं, कोई विषम नहीं है। फिर अपने दीक्षा-ज्येष्ठ का

---

१. सूयगडो, १।२।२३,२४:
तयसं व जहाइ से रयं, इइ संखाय मुणी ण मज्जई।
गोयन्नतरेण माहणे, अहसेयकरी अन्नेसि इंखिणी॥
जो परिभवई परं जणं, संसारे परिवत्तई महं।
अदु इंखिणिया उ पाविया, इइ संखाय मुणी ण मज्जई॥

अभिवादन करने में किसी को लज्जा का अनुभव नहीं होना चाहिए। सम्राट् और नौकर होने की विस्मृति होने पर ही आत्मा में समता प्रतिष्ठित हो सकती है।"[1]

राजर्षि का अहं विलीन हो गया। उनका नौकर अब उनका सार्धमिक भाई बन गया।

भगवान् ने अपने संघ को एक समता-सूत्र दिया। वह हजारों-हजारों कंठों से मुखरित होता रहा। उसने असंख्य लोगों के 'अहं' का परिशोधन किया। वह सूत्र है—

'यह जीव अनेक बार उच्च या नीच गोत्र का अनुभव कर चुका है। अतः न कोई किसी से हीन है और न कोई अतिरिक्त। यह जीव अनेक बार उच्च या नीच गोत्र का अनुभव कर चुका है—यह जान लेने पर कौन गोत्रवादी होगा और कौन मानवादी।"[2]

भगवान् ने अपने संघ में समता का बीज बोया, उसे सींचा, अंकुरित किया, पल्लवित, पुष्पित और फलित किया।

भगवान् ने समता के प्रति प्रगाढ़ आस्था उत्पन्न की। अत: उसकी ध्वनि सब दिशाओं में प्रतिध्वनित होने लगी।

जयघोष मुनि घूमते-घूमते वाराणसी में पहुंचे। उन्हें पता चला कि विजयघोष यज्ञ कर रहा है। वे विजयघोष की यज्ञशाला में गए। यज्ञ और जातिवाद का अहिंसक ढंग से प्रतिवाद करना महावीर के शिष्यों का कार्यक्रम बन गया था। इस कार्यक्रम में ब्राह्मण मुनि काफी रस ले रहे थे। जयघोष जाति से ब्राह्मण थे। विजयघोष भी ब्राह्मण था। एक यज्ञ का प्रतिकर्ता और दूसरा उसका कर्ता। एक जातिवाद का विघटक और दूसरा उसका समर्थक।

श्रमण और वैदिक—ये दो जातियां नहीं हैं। ये दोनों एक ही जाति-वृक्ष की दो विशाल शाखाएं हैं। उनका भेद जातीय नहीं किन्तु सैद्धान्तिक है। श्रमण-धारा का नेतृत्व क्षत्रिय कर रहे थे और वैदिक धारा का नेतृत्व ब्राह्मण। फिर भी बहुत सारे ब्राह्मण श्रमण-धारा में चल रहे थे और बहुत सारे क्षत्रिय ब्राह्मण-धारा में। उस समय धर्म-परिवर्तन व्यक्तिगत प्रश्न था। उसका व्यापक प्रभाव नहीं

---

१. सूयगडो, १।२।२५ :
जे यावि अणायगे सिया, जे वि य पेसगपेसगे सिया।
इद मोणपयं उवट्ठिए, णो लज्जे समयं सया चरे॥

२. आयारो, २।४९, ५० :
से असइं उच्चागोए, असइं णीयागोए।
णो हीणे णो अइरित्ते, णो पीहए।
इति संखाय के गोयावादी ? के माणावादी ?

होता था। यदि धर्म-परिवर्तन का अर्थ जाति-परिवर्तन होता तो समस्या बहुत गम्भीर बन जाती। किन्तु एक ही भारतीय जाति के लोग अनेक धर्मों का अनुगमन कर रहे थे, इसलिए उनके धर्म-परिवर्तन का प्रभाव केवल वैचारिक स्तर पर होता। जातीय स्तर पर उसका कोई प्रभाव नहीं होता।

विजयघोष के मन में वैचारिक भेद उभर आया। उसने दर्प के साथ कहा—'मुने! इस यज्ञ-मंडप में तुम भिक्षा नहीं पा सकते। कहीं अन्यत्र चले जाओ। यह भोजन वेदविद् और धर्म के पारगामी ब्राह्मणों के लिए बना है।'

मुनि बोले—'विजयघोष! मुझे भिक्षा मिले या न मिले, इसकी मुझे कोई चिन्ता नहीं। मुझे इसकी चिन्ता है कि तुम ब्राह्मण का अर्थ नहीं जानते।'

विजयघोष—'इसका अर्थ जानने में कौन-सी कठिनाई है? जो ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न ब्राह्मण के कुल में जन्म लेता है, वह ब्राह्मण है।'

मुनि—'मैं तुम्हारे सिद्धान्त का प्रतिवाद करता हूं। जाति जन्मना नहीं होती, वह कर्मणा होती है—

मनुष्य कर्म से ब्राह्मण होता है, कर्म से क्षत्रिय।
कर्म से वैश्य होता है और कर्म से शूद्र।'[१]

विजयघोष—'ब्राह्मण का कर्म क्या है?'

मुनि—'ब्राह्मण का कर्म है—ब्रह्मचर्य। जो व्यक्ति ब्रह्म का आचरण करता है, वह ब्राह्मण होता है।[२] जैसे जल में उत्पन्न कमल उसमें लिप्त नहीं होता, वैसे ही जो मनुष्य काम में उत्पन्न होकर उसमें लिप्त नहीं होता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।[३] जो राग, द्वेष और भय से अतीत होने के कारण मृष्ट स्वर्ण की भांति प्रभास्वर होता है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।'[४]

'जो अहिंसक, सत्यवादी और अकिंचन होता है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।'[५]

---

१. उत्तरज्झयणाणि, २५।३१ :
कम्मुणा बम्भणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ।
वइस्सो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा।

२. उत्तरज्झयणाणि, २५।३० :
बम्भचेरेण बम्भणो।

३. उत्तरज्झयणाणि, २५।२६ :
जहा पोमं जले जायं, नोवलिप्पइ वारिणा।
एवं अलित्तो कामेहिं, तं वयं बूम माहणं॥

४. उत्तरज्झयणाणि, २५।२१ :
जायरूवं जहामट्ठं, निद्धन्तमलपावगं।
रागद्दोसभयाईयं, तं वयं बूम माहणं॥

५. उत्तरज्झयणाणि २५।२२,२३,२७।

विजयघोष का विचार-परिवर्तन हो गया। उसने कर्मणा जाति का सिद्धान्त स्वीकार कर लिया।

हरिकेश जाति से चांडाल थे। वे मुनि बन गए। वे वाराणसी में विहार कर रहे थे। उस समय रुद्रदेव पुरोहित ने यज्ञ का विशाल आयोजन किया। हरिकेश उस यज्ञ-वाटिका में गए। रुद्रदेव ने मुनि का तिरस्कार किया। वे उससे विचलित नहीं हुए। दोनों के बीच लम्बी चर्चा चली। चर्चा के मध्य रुद्रदेव ने कहा—'मुने! जाति और विद्या से युक्त ब्राह्मण ही पुण्य-क्षेत्र हैं।'[1]

मुनि ने इसका प्रतिवाद करते हुए कहा—'जिनमें क्रोध, मान, हिंसा, असत्य, चोरी और परिग्रह है, वे ब्राह्मण जाति और विद्या से विहीन हैं। वे पुण्य-क्षेत्र नहीं हैं।'[2]

'तुम केवल वाणी का भार ढो रहे हो। वेदों को पढ़कर भी तुम उनका अर्थ नहीं जानते। जो साधक विषम स्थितियों में समता का आचरण करते हैं, वे ही सही अर्थ में ब्राह्मण और पुण्य-क्षेत्र हैं।'[3]

रुद्रदेव को यह बात बहुत अप्रिय लगी। उसने मुनि को ताड़ना देने का प्रयत्न किया। किन्तु मुनि की तपस्या का तेज बहुत प्रबल था। उससे रुद्रदेव के छात्र प्रताड़ित हो गए। उस समय सबको यह अनुभव हुआ—

तप का महत्त्व प्रत्यक्ष है,
जाति का कोई महत्त्व नहीं है।
जिसके तेज से रुद्रदेव के छात्र हतप्रभ हो गए,
वह हरिकेश मुनि चांडाल का पुत्र है।[4]

भगवान् महावीर का युग निश्चय ही जातिवाद या मदवाद के प्रभुत्व का युग था। उसका सामना करना कोई सरल बात नहीं थी। उसका प्रतिरोध करने वाले

---

१. उत्तरज्झयणाणि, १२।१३:
जे माहणा जाइविज्जोववेया,
ताइं तु खेत्ताइं सुपेसलाइं ॥

२. उत्तरज्झयणाणि, १२।१४:
कोहो य माणो य वहो य जेसिं, मोसं अदत्तं च परिग्गहं च।
ते माहणा जाइविज्जाविहूणा, ताइं तु खेत्ताइं सुपावयाइं ॥

३. उत्तरज्झयणाणि, १२।१५:
तुब्भेत्थ भो! भारधरा गिराणं, अट्ठं न जाणाह अहिज्ज वेए।
उच्चावयाइं मुणिणो चरन्ति, ताइं तु खेत्ताइं सुपेसलाइं ॥

४. उत्तरज्झयणाणि, १२।३७:
सक्खं खु दीसइ तवोविसेसो, न दीसई जाइविसेस कोई।
सोवागपुत्ते हरिएससाहू, जस्सेरिसा इड्ढिमहाणुभागा ॥

को प्राण-समर्पण की तैयारी रखनी ही होती। भगवान् महावीर ने अभय और जीवन-मृत्यु में समत्व की सुदृढ़ अनुभूति वाले अनगिन मुनि तैयार कर दिए। वे जातिवाद के अभेद्य दुर्गों में जाते और उद्देश्य में सफल हो जाते।

२. साधुत्व : वेश और परिवेश

वह युग धर्म की प्रधानता का युग था। साधु बनने का बहुत महत्त्व था। श्रमण साधु बनने पर बहुत बल देते थे। इसका प्रभाव वैदिक परम्परा पर भी पड़ा। उसमें भी संन्यास को सर्वोपरि स्थान मिल गया।

अनेक परम्पराओं में हज़ारों-हजारों साधु थे। समाज में जिसका मूल्य होता है, वह आकर्षण का केन्द्र बन जाता है। साधुत्व जनता के आकर्षण का केन्द्र-बिन्दु बन गया था। किन्तु साधुत्व कोई बाल-लीला नहीं है। वह इन्द्रिय, मन और वृत्तियों के विजय की यात्रा है। इस यात्रा में वही सफल हो सकता है जो दृढ़-संकल्प और आत्मलक्षी दृष्टि का धनी होता है।

भगवान् महावीर ने देखा बहुत सारे श्रमण और संन्यासी साधु के वेश में गृहस्थ का जीवन जी रहे हैं। न उनमें ज्ञान की प्यास है, न सत्य-शोध की मनोवृत्ति, न आत्मोपलब्धि का प्रयत्न और न आन्तरिक अनुभूति की तड़प। ये साधु कैसे हो सकते हैं ? भगवान् साधु-संस्था की दुर्बलताओं पर टीका करने लगे। भगवान् ने कहा—

'सिर मुंडा लेने से कोई श्रमण नहीं होता।
ओम् का जप करने से कोई ब्राह्मण नहीं होता।
अरण्यवास करने से कोई मुनि नहीं होता।
वल्कल चीवर पहनने से कोई तापस नहीं होता।
श्रमण होता है समता से।
ब्राह्मण होता है ब्रह्मचर्य से।
मुनि होता है ज्ञान से।
तापस होता है तपस्या से।'[1]

'जैसे पोली मुट्ठी और मुद्रा-शून्य खोटा सिक्का मूल्यहीन होता है, वैसे ही व्रतहीन साधु मूल्यहीन होता है। वैडूर्य मणि की भांति चमकने वाला कांच जानकार

---

१. उत्तरज्झयणाणि, २५।२९,३० :
न वि मुण्डिएण समणो, न ओंकारेण बम्भणो।
न मुणी रण्णवासेणं, कुसचीरेण न तावसो॥
समयाए समणो होइ, बम्भचेरेण बम्भणो।
नाणेण य मुणी होइ, तवेणं होइ तावसो॥

के सामने मूल्य कैसे पा सकता है ?'[1]

एक व्यक्ति ने भगवान् से पूछा—'भंते ! साधुत्व और वेश में क्या कोई सम्वन्ध है ?'

भगवान् ने कहा—'कोई भी सम्वन्ध नहीं है, यह मैं कैसे कहूं ? वेश व्यक्ति की आन्तरिक भावना का प्रतिविम्व है। जिसके मन में निस्पृहता के साथ-साथ कष्ट-सहिष्णुता वढ़ती है, वह अचेल हो जाता है। यह अचेलता का वेश उसके अंतरंग का प्रतिविम्व है।'

'भंते ! कुछ लोग निस्पृहता और कष्ट-सहिष्णुता के विना भी अनुकरण वुद्धि से अचेल हो जाते हैं। इसे मान्यता क्यों दी जाए ?'

भगवान्—'इसे मान्यता नहीं मिलनी चाहिए। पर अनुकरण किसी मौलिक वस्तु का होता है। मूलतः वेश आंतरिक भावना की अभिव्यक्ति है। उसका अनुकरण भी होता है, इसलिए साधुत्व और वेश में सम्वन्ध है, यह भी मैं कैसे कहूं।'

मैं चार प्रकार के पुरुषों का प्रतिपादन करता हूं।

१. कुछ पुरुष वेश को नहीं छोड़ते, साधुत्व को छोड़ देते हैं।

२. कुछ पुरुष साधुत्व को नहीं छोड़ते, वेश को छोड़ देते हैं।

३. कुछ पुरुष साधुत्व और वेश—दोनों को नहीं छोड़ते।

४. कुछ पुरुष साधुत्व और वेश—दोनों को छोड़ देते हैं।[2]

गोष्ठी के दूसरे सदस्य ने पूछा—'भंते ! आज हमारे देश में वहुत लोग साधु के वेश में घूम रहे हैं। हमारे सामने वहुत वड़ी समस्या है, हम किसे साधु मानें और किसे असाधु ?'

भगवान् ने कहा—'तुम्हारी वात सच है। आज वहुत सारे असाधु साधु का वेश पहने घूम रहे हैं। वे भोली-भाली जनता में साधु कहलाते हैं। किन्तु जानकार मनुष्य उन्हें साधु नहीं कहते।'

'भंते ! वे साधु किसे कहते हैं ?'

भगवान् ने कहा—

'ज्ञान और दर्शन से संपन्न,
संयम और तप में रत।
जो इन गुणों से समायुक्त है,

---

१. उत्तरज्झयणाणि, २०।४२ :

पोल्ले व मुट्ठी जह से असारे, अयन्तिए कूडकहावणे वा।
राढामणी वेरलियप्पगासे, अमहग्घए होइ य जाणएसु॥

२. ठाणं ४।४१६।

जानकार मनुष्य उसे साधु कहते हैं।"[1]

वैदिक परम्परा ने गृहस्थाश्रम को महत्त्व दिया और श्रमण परम्परा ने संन्यास को। साधना का मूल्य गृहस्थ और साधु के वेश से प्रतिवद्ध नहीं है। वह संयम से प्रतिबद्ध है।

अभयकुमार ने भगवान् से पूछा—'भंते ! भगवान् भिक्षु को श्रेष्ठ मानते हैं या गृहस्थ को ?'

भगवान् ने कहा—'मैं संयम को श्रेष्ठ मानता हूं। संयमरत गृहस्थ और भिक्षु—दोनों श्रेष्ठ हैं। असंयमरत गृहस्थ और भिक्षु—दोनों श्रेष्ठ नहीं हैं।'

'भंते ! क्या श्रमण भी संयम से शून्य होते हैं ?'

भगवान्—'यह अन्तर् का आलोक न सब भिक्षुओं में होता है,
और न सब गृहस्थों में।
गृहस्थ हैं नाना शीलवाले।
सब भिक्षुओं का शील
समान नहीं होता।
'कुछ भिक्षुओं से
गृहस्थ का संयम अनुत्तर होता है।
सब गृहस्थों से
भिक्षु का संयम अनुत्तर होता है।'[2]

भगवान् ने संयम को इतनी प्रधानता दी कि उसके सामने वेश और परिवेश के प्रश्न गौण हो गए। साधुत्व की प्रतिमा बाहरी आकार-प्रकार से हटकर अन्तर के आलोक की वेदी पर प्रतिष्ठित हो गई।

३. धर्म और सम्प्रदाय

यदि पात्र के बिना प्रकाश, छिलके के बिना फल और भाषा के बिना ज्ञान

---

१. दसवेआलियं, ७।४८, ४९ :
वहवे इमे असाहू, लोए वुच्चंति साहुणो।
न लवे असाहुं साहु त्ति, साहुं साहु त्ति आलवे॥
नाण-दंसण-संपन्नं, संजमे य तवे रयं।
एवं गुणसमाउत्तं, संजयं साहुमालवे॥

२. उत्तरज्झयणाणि, ५।१९, २० :
न इमं सव्वेसु भिक्खूसु, न इमं सव्वेसुऽगारिसु।
नाणासीला अगारत्था, विसमसीला य भिक्खुणो॥
संति एगेहिं भिक्खूहिं, गारत्था संजमुत्तरा।
गारत्थेहि य सव्वेहिं, साहवो संजमुत्तरा॥

होता तो धर्म सम्प्रदाय से मुक्त हो जाता। पर इस दुनिया में ऐसा नहीं होता। धर्म दीप की लौ है तो सम्प्रदाय उसका पात्र। धर्म फल का सार है तो सम्प्रदाय उसका छिलका। धर्म चैतन्य है तो सम्प्रदाय उसको व्यक्त करने वाली भाषा।

सम्प्रदाय जब आवरण बनकर धर्म पर छा जाता है, तब पात्र, छिलके और भाषा का मूल्य लौ, सार और ज्ञान से अधिक हो जाता है। भगवान् के युग में कुछ ऐसा ही चल रहा था। सम्प्रदाय धर्म की आत्मा को कचोट रहे थे। धर्म की ज्योति सम्प्रदाय की राख से ढकी जा रही थी। उस समय भगवान् ने धर्म को सम्प्रदाय की प्रतिबद्धता से मुक्त कर उसके व्यापक रूप को मान्यता दी।

गौतम ने पूछा—'भंते ! शाश्वत धर्म क्या है ?'

भगवान् ने कहा—'अहिंसा शाश्वत धर्म है।'[1]

अतीत में जो ज्ञानी हुए हैं,
भविष्य में जो होंगे।
अहिंसा उन सबका आधार है,
प्राणियों के लिए जैसे पृथ्वी।'[2]

'भंते ! कुछ दार्शनिक कहते हैं—हमारे सम्प्रदाय में ही धर्म है, उससे बाहर नहीं है। क्या यह सही है ?'

'गौतम ! मेरे सम्प्रदाय में आओ, तुम्हारी मुक्ति होगी अन्यथा नहीं होगी—यह सम्प्रदाय और मुक्ति का अनुबन्ध साम्प्रदायिक उन्माद है। इस उन्माद से उन्मत्त व्यक्ति दूसरों को उन्माद ही दे सकता है, धर्म नहीं दे सकता।'[3]

'भंते ! कोई व्यक्ति श्रमण-धर्म का अनुयायी होकर ही धार्मिक हो सकता है, क्या यह मानना सही नहीं है ?'

'गौतम ! नाम और रूप के साथ धर्म की व्याप्ति नहीं है। उसकी व्याप्ति अध्यात्म के साथ है। इसलिए यह मानना सत्य की सीमा में होगा कि कोई व्यक्ति अध्यात्म का अनुयायी होकर ही धार्मिक हो सकता है।'

---

१. आयारो, ४।१,२ :
सव्वे पाणा, सव्वे भूता, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता ण हंतव्वा⋯एस धम्मे सुद्धे, णिइए, सासए⋯।

२. सूयगडो, १।११।३६ :
जे य बुद्धा अइक्कंता, जे य बुद्धा अणागया।
संती तेसिं पइट्ठाणं, भूयाणं जगई जहा॥

३. सूयगडो, १।१।७३ :
सए सए उवट्ठाणे, सिद्धिमेव ण अण्णहा।
अधो वि होति वसवत्ती, सव्वकामसमप्पिए॥

'भंते ! तो क्या धर्म का सम्प्रदाय के साथ अनुवन्ध नहीं है ?'

'गौतम ! यदि धर्म का सम्प्रदाय के साथ अनुवन्ध हो तो अश्रुत्वा केवली कैसे हो सकता है ?'

'यह कौन होता है, भंते ?'

'गौतम ! जो व्यक्ति सम्प्रदाय से अतीत है और जिसने धर्म का पहला पाठ भी नहीं सुना, वह आध्यात्मिक पवित्रता को वढ़ाते-बढ़ाते केवली (सर्वज्ञ और सर्वदर्शी) हो जाता है।'

'भंते ! ऐसा हो सकता है ?'

'गौतम ! होता है, तभी मैं कहता हूं कि धर्म और सम्प्रदाय में कोई अनुवन्ध नहीं है। मैं अपने प्रत्यक्ष ज्ञान से देखता हूं—

१. कुछ व्यक्ति गृहस्थ के वेश में मुक्त हो जाते हैं। मैं उन्हें गृहलिंगसिद्ध कहता हूं।
२. कुछ व्यक्ति हमारे वेश में मुक्त होते हैं। मैं उन्हें स्वलिंगसिद्ध कहता हूं।
३. कुछ व्यक्ति अन्य-तीर्थिकों के वेश में मुक्त हो जाते हैं। मैं उन्हें अन्य-लिंगसिद्ध कहता हूं।

विभिन्न वेशों और विभिन्न चर्याओं के वीच रहे हुए व्यक्ति मुक्त हो जाते हैं, तब धर्म और सम्प्रदाय का अनुवंध कैसे हो सकता है ?'

गौतम ने प्रश्न को मोड़ देते हुए कहा—'भंते ! यदि सम्प्रदाय और धर्म का अनुबंध नहीं है तो फिर सम्प्रदाय की परिधि में कौन जाना चाहेगा ?'

भगवान् ने कहा—'यह जगत् विचित्रताओं से भरा है। इसमें विभिन्न रुचि के लोग हैं—

- कुछ लोग सम्प्रदाय को पसन्द करते हैं, धर्म को पसन्द नहीं करते।
- कुछ लोग धर्म को पसन्द करते हैं, सम्प्रदाय को पसन्द नहीं करते।
- कुछ लोग सम्प्रदाय और धर्म—दोनों को पसन्द करते हैं।
- कुछ लोग सम्प्रदाय और धर्म—दोनों को पसन्द नहीं करते।'[1]

हम जगत् की रुचि में एकरूपता नहीं ला सकते। जनता का झुकाव सब दिशाओं में होता है। धर्म-विहीन सम्प्रदाय की दिशा निश्चित ही भयाक्रांत होती है।

भगवान् महावीर अहिंसा की गहराई में पहुंच चूके थे। इसलिए साम्प्रदायिक उन्माद उन पर आक्रमण नहीं कर सका। आत्मौपम्य की दृष्टि को हृदयंगम किए विना धर्म के मंच पर आने वाले व्यक्ति के सामने धर्म गौण और सम्प्रदाय मुख्य होता है। आत्मौपम्य दृष्टि को प्राप्त कर धर्म के मंच पर आने वाले व्यक्ति के

---

१. ठाणं ४।४२०।

सामने सम्प्रदाय गौण और धर्म मुख्य होता है। भगवान् महावीर ने सम्प्रदाय को मान्यता दी, पर मुख्यता नहीं दी। जो धर्मनेता अपने सम्प्रदाय में आने वाले व्यक्ति के लिए ही मुक्ति का द्वार खोलते हैं और दूसरों के लिए उसे वन्द रखते हैं, वे महावीर की दृष्टि में अहिंसक नहीं हैं, अपनी ही कल्पना के ताने-बाने में उलझे हुए हैं।

० भगवान् 'अश्रुत्वा केवली' के सिद्धान्त का प्रतिपादन कर असाम्प्रदायिक दृष्टि को चरम विन्दु तक ले गये।

० किसी भी सम्प्रदाय में प्रव्रजित व्यक्ति मुक्त हो सकता है—यह स्थापना इस तथ्य की घोषणा थी—कोई भी सम्प्रदाय किसी व्यक्ति को मुक्ति का आश्वासन दे सकता है, यदि वह व्यक्ति धर्म से अनुप्राणित हो। कोई भी सम्प्रदाय किसी व्यक्ति को मुक्ति का आश्वासन नहीं दे सकता, यदि वह व्यक्ति धर्म से अनुप्राणित न हो।

० मोक्ष को सम्प्रदाय की सीमा से मुक्त कर भगवान् महावीर ने धर्म की असाम्प्रदायिक सत्ता के सिद्धान्त पर दोहरी मोहर लगा दी।

भगवान् महावीर मुनित्व के महान् प्रवर्तक थे। वे मोक्ष की साधना के लिए मुनि-जीवन विताने को वहुत आवश्यक मानते थे। फिर भी उनकी प्रतिवद्धता का अन्तिम स्पर्श सचाई के साथ था, किसी नियम के साथ नहीं।

भगवान् ने 'गृहलिंगसिद्ध' को स्वीकृति दे क्या मोक्ष-सिद्धि के लिए मुनि-जीवन की एकछत्रता को चुनौती नहीं दी? 'घरवासी गृहस्थ भी मुक्त हो सकता है'—इसका अर्थ है कि धर्म की आराधना अमुक प्रकार के वेश या अमुक प्रकार की जीवन-प्रणाली को स्वीकार किए विना भी हो सकती है। 'जीवन-व्यापी सत्य जीवन को कभी और कहीं भी आलोकित कर सकता है'—इस सत्य को अनावृत कर भगवान् ने धर्म को आकाश की भांति व्यापक वना दिया।

'प्रत्येक वुद्ध' का सिद्धान्त भी साम्प्रदायिक दृष्टि के प्रति मुक्त विद्रोह था। वे किसी सम्प्रदाय या परम्परा से प्रतिवद्ध होकर प्रव्रजित नहीं होते। वे अपने ज्ञान से ही प्रवुद्ध होते हैं। भगवान् ने उनको उतनी ही मान्यता दी, जितनी अपने तीर्थ में प्रव्रजित होने वालों को प्राप्त थी।

महावीर की ये चार स्थापनाएं—(१) अश्रुत्वा केवली (२) अन्यलिंगसिद्ध (३) गृहलिंगसिद्ध (४) और प्रत्येक वुद्ध—'मेरे सम्प्रदाय में आओ, तुम्हारी मुक्ति होगी अन्यथा नहीं होगी'—इस मिथ्या आश्वासन के सम्मुख खुली चुनौती के रूप में प्रस्तुत हुई।

भगवान् महावीर के युग में पचासों धर्म-सम्प्रदाय थे। उनमें कुछ शाश्वतवादी थे और कुछ अशाश्वतवादी। वे दोनों परस्पर प्रहार करते थे। इस साम्प्रदायिक अभिनिवेश के दो फलित सामने आ रहे थे—

१. अपने सम्प्रदाय की प्रशंसा और दूसरे सम्प्रदायों की निन्दा।

२. ऐकान्तिक आग्रह—दूसरों के दृष्टिकोण को समझने का प्रयत्न न करना।

भगवान् ने इन दोनों के सामने स्याद्वाद का सिद्धान्त प्रस्तुत किया। उसका अर्थ है—अनन्त-धर्मात्मक वस्तु को अनन्त दृष्टिकोणों से देखना।

गौतम ने पूछा—'भंते ! ये धार्मिक व्यक्ति अपने सम्प्रदाय की प्रशंसा और दूसरे सम्प्रदाय की निन्दा क्यों करते हैं ?'

भगवान् ने कहा—'गौतम। जिनका दृष्टिकोण एकान्तवादी होता है, वे अपने ज्ञात वस्तु-धर्म को पूर्ण मान लेते हैं। दूसरों द्वारा ज्ञात वस्तु-धर्म उन्हें असत्य दिखाई देता है। इसलिए वे अपने सम्प्रदाय की पशंसा और दूसरे सम्प्रदाय की निन्दा करते हैं।'

'भंते ! क्या यह उचित है ?'

गौतम के इस प्रश्न पर भगवान् ने कहा—

'अपने अभ्युपगम की प्रशंसा करने वाले,
दूसरों के अभ्युपगम की निन्दा करने वाले,
विद्वान् होने का दिखावा करते हैं,
वे बंध जाते है, असत्य के नागपाश से।'[1]
'एकान्तग्राही तर्कों का प्रतिपादन करने वाले,
धर्म और अधर्म के कोविद नहीं होते।
वे दुःख से मुक्त नहीं हो पाते,
जैसे पंजर में बंधा शकुनि
अपने को मुक्त नहीं कर पाता पंजर से।'[2]

४. धर्म और वाममार्ग

धार्मिक जगत् में वाममार्ग का इतिहास बहुत पुराना है। वाममागा आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते थे। उनके सामने धर्म का भी कोई मूल्य नहीं था। पर समाज में धर्म का मूल्य बहुत बढ़ चुका था। इसलिए उसे स्वीकारना सबके लिए अनिवार्य हो गया।

---

१. सूयगडो, १।१।५० :
सयं सयं पसंसंता, गरहंता परं वयं।
जे उ तत्थ विउस्संति, संसारं ते विउस्सिया ॥

२. सूयगडो, १।१।४६ :
एवं तक्काए साहेंता, धम्माधम्मे अकोविया।
दुक्खं ते णातिवट्टंति, सउणी पंजरं जहा ॥

वाममार्गी धर्म के पवित्र पीठ पर विषयों को प्रस्थापित कर रहे थे। जनता का झुकाव उस ओर बढ़ रहा था। मनुष्य सहज ही विषयों से आकृष्ट होता है। उसे जब धर्म के आसन पर विषय मिल जाते हैं तब उसका आकर्षण और अधिक बढ़ जाता है। इन्द्रिय-संयम में मनुष्य का नैसर्गिक आकर्षण नहीं है। वर्तमान की प्रियता भविष्य के लाभ को सदा से अभिभूत करती रही है।

कामरूप के सुदूर अंचलों में विहार करने वाले मुनियों ने भगवान् से प्रार्थना की—'भंते! वाममार्ग के सामने हमारा संयम का स्वर प्रखर नहीं हो रहा है। हम क्या करें, भगवान् से मार्ग-दर्शन चाहते हैं।'

भगवान् ने कहा—'विषयों को धर्म के आसन से च्युत करके ही इस रोग की चिकित्सा की जा सकती है। जाओ, तुम जनता के सामने इस स्वर को प्रखर करो—

पिया हुआ कालकूट विष
अविधि से पकड़ा हुआ अस्त्र,
नियंत्रण में नहीं लाया हुआ वेताल
जैसे विनाशकारी होता है,
वैसे ही विनाशकारी होता है
विषय से जुड़ा हुआ धर्म।'[1]

५. साधना-पथ का समन्वय

सुख के प्रति सबका आकर्षण है। कष्ट कोई नहीं चाहता। पर सुख की उपलब्धि का मार्ग कष्टों से खाली नहीं है। कृषि की निष्पत्ति का सुख उसकी उत्पत्ति के कष्टों का परिणाम है। इस संसार का निसर्ग ही ऐसा है कि श्रम के बिना कुछ भी निष्पन्न नहीं होता।

क्या आत्मा की उपलब्धि श्रम के बिना सम्भव है? यदि होती तो वह पहले ही हो जाती। फिर इस प्रश्न और उत्तर की अपेक्षा ही नहीं रहती।

कुछ लोगों का मत है कि भगवान् महावीर ने साधना के कष्टपूर्ण मार्ग का प्रतिपादन किया। इसे मान लेने पर भी इतना शेष रह जाता है कि भगवान् की साधना में कष्ट साध्य भी नहीं है और साधन भी नहीं है। उनकी साधना अथ से इति तक अहिंसा का अभियान है। हिंसा पर विजय पाना कोई सरल काम नहीं है। अनादिकाल से मनुष्य पर उसका प्रभुत्व है। उसे निरस्त करने में क्या कष्टों

---

१. उत्तरज्झयणाणि, २०।४४ :
विसं तु पीयं जह कालकूडं, हणाइ सत्थं जह कुग्गहीयं।
एसे व धम्मो विसओववन्नो, हणाइ वेयाल इवाविवन्नो॥

का आना सम्भव नहीं है ?

महावीर ने कब कहा कि तुम कष्टों को निमंत्रण दो। उन्होंने कहा—'तुम्हारे अभियान में जो कष्ट आएं, उनका दृढ़तापूर्वक सामना करो।'[1]

भगवान् ने स्वयं तप तपा, शरीर को कष्ट देने के लिए नहीं किन्तु संचित संस्कारों को क्षीण करने के लिए। भगवान् अनेकान्त के प्रवक्ता थे। वे कैसे कहते कि संस्कार-विलय का तप ही एकमात्र विकल्प है। उन्होंने ध्यान को तप से अधिक महत्त्व दिया। उनकी परम्परा का प्रसिद्ध सूत्र है—दो दिन का उपवास दो मिनट के ध्यान की तुलना नहीं कर सकता।

उनकी साधना में तप बहिरंग साधन है, ध्यान अंतरंग साधन। उनका साधनापथ न केवल तपस्या से निर्मित होता है और न केवल ध्यान से। वह दोनों के सामंजस्य से निर्मित होता है। तपस्या के स्थान पर तपस्या और ध्यान के स्थान पर ध्यान। दोनों का अपना-अपना उपयोग।

उस समय कुछ तपस्वी अज्ञानपूर्ण तप करते थे। वे लोहे के कांटों पर सो जाते। उनका शरीर रक्त-रंजित हो जाता।[2] कुछ तपस्वी जेठ की गर्मी में पंचाग्नि-तप तपते और कुछ सर्दी के दिनों में नदी के गहरे पानी में खड़े रहते। भगवान् ने इनको बाल-तपस्वी और वर्तमान जीवन का शत्रु घोषित किया।

यदि कष्ट सहना ही धर्म होता तो लोहे के कांटों पर सोने वाला तपस्वी वर्तमान जीवन का शत्रु कैसे होता ?

एक बार गौतम ने पूछा—'भंते ! क्या शरीर को कष्ट देना धर्म है ?'

'नहीं कह सकता कि वह धर्म है।'

'भंते ! तो क्या वह अधर्म है ?'

'नहीं कह सकता कि वह अधर्म है।'

'तो क्या है, भंते ?'

'रोगी कड़वी दवा पी रहा है। क्या मैं कहूं कि वह अनिष्ट कर रहा है ? ज्वर से पीड़ित मनुष्य स्निग्ध-मधुर भोजन खा रहा है। क्या मैं कहूं कि वह इष्ट कर रहा है ?'

'दवा रोग की चिकित्सा है। मीठी दवा लेने से रोग मिटे तो कड़वी दवा लेना आवश्यक नहीं है। उससे न मिटे तो कड़वी दवा भी लेनी होती है।'

'स्निग्ध भोजन शरीर को पुष्ट करता है, पर ज्वर में वह शरीर को क्षीण करता है।'

'मैं शरीर को कष्ट देने को धर्म नहीं कहता हूं। मैं संस्कारों की शुद्धि को धर्म

---

१. दसवेआलियं, ८।२७ : देहे दुक्खं महाफलं।
२. दसवेआलियं, ६।३।६।

कहता हूं।'

गौतम ने फिर पूछा—'भंते ! क्या ऐसा हो सकता है?—

१. कष्ट महान् और शुद्धि भी महान्,

२. कष्ट महान् और शुद्धि अल्प,

३. कष्ट अल्प और शुद्धि महान्,

४. कष्ट अल्प और शुद्धि भी अल्प ।

भगवान् ने कहा—'हो सकता है।'

गौतम ने पूछा—'कैसे हो सकता है, भंते ?'

भगवान् ने कहा—

१. उच्च भूमिका का तपस्वी महान् कष्ट को सहता है और उसकी शुद्धि भी महान् होती है।

२. नारकीय जीव महान् कष्ट को सहता है, पर उसके शुद्धि अल्प होती है।

३. उच्च भूमिका का ध्यानी अल्प कष्ट को सहता है, पर उसके शुद्धि महान् होती है।

४. सर्वोच्च देव अल्प कष्ट को सहता है और उसके शुद्धि भी अल्प होती है।"[1]

भगवान् ने कष्ट-सहन और शुद्धि के अनुबंध का प्रतिपादन नहीं किया। भगवान् ने गौतम के एक प्रश्न के उत्तर में कहा था—कष्ट के अधिक या अल्प होने का मेरी दृष्टि में कोई मूल्य नहीं है। मेरी दृष्टि में मूल्य है प्रशस्त शुद्धि का।[2]

गौतम ने इस विषय को और अधिक स्पष्ट करने का अनुरोध किया। तब भगवान् ने कहा—

'गौतम ! दो वस्त्र हैं—एक कर्दमराग से रक्त और दूसरा खंजनराग से रक्त। इनमें से कौन-सा वस्त्र कठिनाई से साफ किया जा सकता है और कौन-सा सरलता से ?'

'भंते ! कर्दमराग से रक्त वस्त्र कठिनाई से साफ होता है।'

'गौतम ! नारकीय जीव के बन्धन बहुत प्रगाढ़ होते है, इसलिए महान् कष्ट सहने पर भी उनके शुद्धि अल्प होती है।'

'भंते ! खंजनराग से रक्त वस्त्र सरलता से साफ होता हूं।'

'गौतम ! तपस्वी मुनि के बंधन शिथिल होते हैं, इसलिए उनके यत्किंचित् कष्ट सहने से ही महान् शुद्धि हो जाती है।'

'यह कैसे होती है, भंते ?'

---

१. भगवई, ६।१५, १६।

२. भगवई, ६।१ : से सेए जे पसत्थनिज्जराए।

'गौतम ! सूखी घास का पूला अग्नि में डालने पर क्या होता है ?'

'भंते ! वह शीघ्र ही भस्म हो जाता है।'

'गौतम ! गर्म तवे पर जल-विन्दु गिरने से क्या होता है ?'

'भंते ! वह शीघ्र ही विध्वस्त हो जाता है।'

'गौतम ! इसी प्रकार तपस्वी मुनि के वंधन-तंतु शीघ्र ही दग्ध और ध्वस्त हो जाते हैं।"[1]

भगवान् ने श्रमणों की साधना पद्धति को विकसित किया और साथ-साथ अन्य तपस्वियों के साधना-पथ को परिष्कृत रूप में अपनाया। उनके परिष्कार का सूत्र था—अहिंसा। हिंसापूर्ण कष्ट सहने की परम्परा चल रही थी। भगवान् ने कष्ट सहने को सर्वथा अस्वीकार नहीं किया, किन्तु उसमें हिंसा के जो अंश थे, उन सबको अस्वीकार कर दिया।

भगवान् ने कायाक्लेश को तप के रूप में स्वीकार किया। पर उसका अर्थ शरीर को सताना नहीं है, अनशन करना नहीं है। उसका अर्थ है—आसन-प्रयोग से शरीर और मन की शक्तियों का विकास करना।

शरीर को सताना और सुख देना—इन दोनों से परे था भगवान् महावीर का मार्ग। उस समय कुछ दार्शनिक कहते थे—जैसा कारण होता है वैसा ही कार्य होता है। दु:ख का बीज सुख का और सुख का बीज दु:ख का पौधा उत्पन्न नहीं कर सकता। शरीर को दु:ख देने से सुख कैसे उत्पन्न होगा ?

कुछ दार्शनिकों का मत इसके विपरीत था। वे कहते थे—वर्तमान में शरीर को दु:ख देंगे तो अगले जन्म में सुख मिलेगा। सुख के लिए पहले कष्ट सहना होता है। जवानी में कष्ट सहकर पैसा कमाने वाला बुढ़ापे में सुख से खाता है।

महावीर ने इन दोनों मतों को स्वीकार नहीं किया और अस्वीकार भी नहीं किया। वे किसी मत को एकांगी दृष्टि से स्वीकार या अस्वीकार नहीं करते थे। उन्होंने सुख और दु:ख का समन्वय साध लिया।

भगवान् ने बताया—'मैं कार्य-कारण के सिद्धान्त को स्वीकार करता हूं। सुख का कारण सुख होना चाहिए। प्रश्न है—सुख क्या है ? उत्तर होगा— जो अच्छा लगे, वह सुख और जो बुरा लगे, वह दु:ख।'

महावीर ने कहा—

१. जो लोग इसलिए भूखे रहते हैं कि अगले जीवन में भरपेट भोजन मिलेगा,

२. जो लोग इसलिए घर को छोड़ते हैं कि अगले जीवन में भरा-पूरा परिवार मिलेगा;

३. जो लोग इसलिए धन को छोड़ते हैं कि अगले जीवन में राजसी वैभव

---

१. भगवई, ६।४।

मिलेगा,

४. जो लोग इसलिए ब्रह्मचारी बनते हैं कि अगले जीवन में अप्सराएं मिलेंगी,

५. जो लोग इसलिए सब कुछ छोड़ते हैं कि अगले जीवन में यह सब कुछ हज़ार गुना बढ़िया और लाख गुना अधिक मिलेगा,

—वे सब लोग शरीर, इन्द्रिय और मन को सताने की दोहरी मूर्खता कर रहे हैं। यह संताप है, साधना नहीं है।[1]

जो लोग इन सबको इसलिए छोड़ते हैं कि जो अपना नहीं है, उसे छोड़ना ही सुख है। यह साधना है, संताप नहीं है। वस्तुओं को छोड़ना उसे अच्छा लगता है, इसलिए वह सुख है। उन्हें छोड़ने पर कष्ट झेलना अच्छा लगता है, इसलिए वह भी सुख है। इसे आप मान सकते हैं कि सुख से सुख उत्पन्न होता है या दुःख से सुख उत्पन्न होता है।

६. जनता की भाषा जनता के लिए

लता का प्राण पुष्प और पुष्प का प्राण परिमल है। परिमल की अभिव्यंजना से पुष्प और लता—दोनों जगत् के साथ तदात्म हो जाते हैं।

मनुष्य की तदात्मता भी ऐसी ही है। उसके चिन्तन-पुष्प में भाषा की अभिव्यंजना नहीं होती तो जगत् तदात्म से शून्य होकर सम्पर्क से शून्य हो जाता।

भाषा सम्पर्क का सर्वाधिक सशक्त माध्यम है। मन को मन से पकड़ने वाले लोग बहुत कम होते हैं। संकेत की शक्ति सीमित है। मनुष्य बोलकर अपनी बात दूसरों तक पहुंचाता है। भाषा का प्रयोजन ही है अपने भीतर के जगत् को दूसरे के भीतरी जगत् से मिला देना। भाषा एक उपयोगिता है। अपने शैशव में उपयोगिता केवल उपयोगिता होती है। यौवन की देहलीज पर पैर रखते ही वह अलंकार बन जाती है। प्राण-शक्ति प्रखर होती है, सौन्दर्य सहज होता है, तब अलंकार की अपेक्षा नहीं होती। प्राण की ज्योति मन्द होने लगती है तब अलंकार की आकांक्षा प्रबल होना चाहती है। युग ऐसा आया कि भाषा भी अलंकार बन गई। जो सम्पर्क-सूत्र थी, वह बड़प्पन का मानदंड बन गई। पंडित लोग उस संस्कृत में बोलते और लिखते थे जो जनता की भाषा नहीं थी, जनता के लिए अगम्य थी। परिणाम यह हुआ कि दो वर्ग बन गए—एक पंडित की भाषा बोलने वालों का और दूसरा जनता की भाषा बोलने वालों का। पंडितों की भाषा असाधारण हो गई और जनता की भाषा साधारण मानी जाने लगी।

महावीर का लक्ष्य था—सबको जगाना। सबको जगाने के लिए जरूरी था

---

१. भगवई, ८।२६६।

सबके साथ संपर्क साधना। पंडिताई की भाषा में ऐसा होना सम्भव नहीं था। इसलिए भगवान् ने जन-भाषा को सम्पर्क का माध्यम बनाया।

प्राकृत का अर्थ है—प्रकृति की भाषा, जनता की भाषा। भगवान् जनता की भाषा में बोले और जनता के लिए बोले इसलिए वे जनता के हो गए। उनका संदेश बालकों, स्त्रियों, मंदमतियों और मूर्खों तक पहुंचा। उन सबको उससे आलोक मिला।

महावीर ईश्वरीय संदेश लेकर नहीं आए थे। उनका संदेश अपनी साधना से प्राप्त अनुभवों का संदेश था। इसलिए उसे जनता की भाषा में रखने में उन्हें कोई कठिनाई नहीं थी। उस समय कुछ पंडित जनता को ईश्वरीय संदेश देने की घोषणा कर रहे थे। ईश्वरीय संदेश भला जनता की भाषा में कैसे हो सकता है? वह उस भाषा में होना चाहिए जिसे जनता न समझ सके। यदि उसे जनता समझ ले तो वह एक वर्ग की धरोहर कैसे बन जाए? महावीर ने उस एकाधिकार को भंग कर दिया। दर्शन के महान् सत्य जनता की भाषा में प्रस्तुत हुए। धर्म सर्व-सुलभ हो गया। स्त्री और शूद्र नहीं पढ़ सकते—इस आदेश द्वारा स्त्री और शूद्रों को धर्म-ग्रन्थ पढ़ने से वंचित किया जा रहा था। महावीर के उदार दृष्टिकोण से उन्हें धर्मग्रन्थ पढ़ने का पुनः अधिकार मिल गया।

'भाषा का आग्रह हमें कठिनाई से नहीं उबार सकता'[1]—महावीर का यह स्वर आज भी भाषावाद के लिए महान् चुनौती है।

७. करुणा और शाकाहार

श्रमण आर्द्रकुमार एकदण्डी परिव्राजक के प्रश्नों का उत्तर दे महावीर की दिशा में आगे बढ़ा। इतने में हस्ती-तापस ने उसे रोककर कहा—'आर्द्रकुमार! तुमने इन परिव्राजकों को निरुत्तर कर बहुत अच्छा काम किया। ये लोग कंद, मूल और फल का भोजन करते हैं। जीवन-निर्वाह के लिए असंख्य जीवों की हत्या करते हैं। हम ऐसा नहीं करते।'

'फिर आप जीवन-निर्वाह कैसे करते हैं?'

'हम बाण से एक हाथी को मार लेते हैं। उससे लम्बे समय तक जीवन-निर्वाह हो जाता है।'

'कन्द-मूल के भोजन से इसे अच्छा मानने का आधार क्या है?'

'इसकी अच्छाई का आधार अल्प-बहुत्व की मीमांसा है। एकदण्डी परिव्राजक असंख्य जीवों को मारकर एक दिन का भोजन करते हैं, जब कि हम एक जीव को मारकर बहुत दिनों तक भोजन कर लेते हैं। वे बहुत हिंसा करते हैं। हम कम

---

१. उत्तरज्झयणाणि, ६।१० : न चित्ता तायए भासा।

हिंसा करते हैं।'

मांसाहार के समर्थन में दिए जाने वाले इस तर्क की आयु ढाई हजार वर्ष पुरानी तो अवश्य ही है। इस तर्क की शरण गृहस्थ ही नहीं, मांसाहारी संन्यासी भी लेते थे। महावीर ने इस तर्क को अस्वीकार कर मांसाहार का प्रबल विरोध किया।[1]

उस विरोध के पीछे कोई वाद नहीं, किन्तु करुणा का अजस्र प्रवाह था। उनके अन्तःकरण में प्राणि-मात्र के प्रति करुणा प्रवाहित हो रही थी। पशु, पक्षी और वनस्पति आदि सूक्ष्म जीवों के साथ उनका उतना ही प्रेम था, जितना कि मनुष्य के साथ। उनके प्रेम में किसी भी प्राणी के वध का समर्थन करने का कोई अवकाश नहीं था। उन्हें प्रिय थी अहिंसा और केवल अहिंसा। किन्तु मानव का जगत् उनकी भावना को कैसे स्वीकार कर लेता? आखिर यह जीवन का प्रश्न था। जीना है तो खाना है। खाए बिना जीवन चल नहीं सकता। 'अन्नं वै प्राणाः'—अन्न ही प्राण है, यह धारणा समाजमान्य हो चुकी थी। भगवान् ने भोजन की समस्या पर दो दृष्टिकोणों से विचार किया। एक दृष्टिकोण अनिवार्यता का था और दूसरा संकल्प का। भगवान् ने असम्भव तत्त्व का प्रतिपादन नहीं किया।

वनस्पति जीवन की न्यूनतम अनिवार्यता है। मांसाहारी लोग वनस्पति खाते हैं पर शाकाहारी मांस नहीं खाते। मांसाहार वनस्पति की भांति न्यूनतम अनिवार्यता नहीं है। उसके पीछे संकल्प की प्रेरणा है। भगवान् की अहिंसा का पहला सूत्र है—अनिवार्य हिंसा को नहीं छोड़ सको तो संकल्पी हिंसा को अवश्य छोड़ो। इसी सूत्र के आधार पर मांसाहार के प्रतिषेध का स्वर अर्थवान् हो गया।

आज विश्व भर में जो शाकाहार का आंदोलन चल रहा है, उसका मूल जैन परम्परा में ढूंढ़ा जा सकता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—सभी जातियों में मांसाहार प्रचलित था। वैदिक धर्म में मांसाहार निषिद्ध नहीं था। बौद्ध धर्म के अनुयायी श्रमण-परम्परा में होकर भी मांसाहार करते थे। मांस न खाने का आन्दोलन केवल जैन परम्परा ने चला रखा था। उसका नेतृत्व महावीर कर रहे थे।

महावीर ने निर्ग्रन्थों के लिए मांसाहार का निषेध किया। व्रती श्रावक भी मांस नहीं खाते थे। भगवान् ने नरक में जाने के चार कारण बताए। उनमें एक कारण है मांसाहार। मांसाहार के प्रति महावीर की भावना का यह मूर्त प्रतिबिम्ब है।

महावीर का मांसाहार-विरोधी आन्दोलन धीरे-धीरे बल पकड़ता गया। उससे अनेक धर्म-सम्प्रदाय और अनेक जातियां प्रभावित हुईं और उन्होंने मांसाहार छोड़ दिया।

---

१. सूयगडो, २।६।३८-४२

मांसाहार के निषेध का सबसे प्राचीन प्रमाण जैन साहित्य के अतिरिक्त किसी अन्य साहित्य में है, ऐसा अभी मुझे ज्ञात नहीं है।

आहार जीवन का साध्य नहीं है, किन्तु उसकी उपेक्षा की जा सके वैसा साधन भी नहीं है। यह मान्यता की जरूरत नहीं, किन्तु जरूरत की मांग है।

शरीर-शास्त्र की दृष्टि से इस पर सोचा गया है पर इसके दूसरे पहलू बहुत कम छुए गए हैं। यह केवल शरीर पर ही प्रभाव नहीं डालता, उसका प्रभाव मन पर भी होता है। मन अपवित्र रहे तो शरीर की स्थूलता कुछ नहीं करती, केवल पाशविक शक्ति का प्रयोग कर सकती है। उससे सब घबराते हैं।

मन शान्त और पवित्र रहे, उत्तेजनाएं कम हों—यह अनिवार्य अपेक्षा है। इसके लिए आहार का विवेक होना बहुत जरूरी है। अपने स्वार्थ के लिए विलखते मूक प्राणियों की निर्मम हत्या करना क्रूर कर्म है। मांसाहार इसका बहुत बड़ा निमित्त है।

महावीर ने आहार के समय, मात्रा और योग्य वस्तुओं के विषय में बहुत गहरा विचार किया। रात्रि-भोजन का निषेध उनकी महान् देन है।

भगवान् ने मिताशन पर बहुत बल दिया। मद्य, मांस, मादक पदार्थ और विकृति का वर्जन उनकी साधना के अनिवार्य अंग हैं।

८. यज्ञ : समर्थन या रूपान्तरण

हमारे इतिहासकार कहते हैं—महावीर ने यज्ञ का प्रतिवाद किया। मैं इससे सहमत नहीं हूं। मेरा मत है—महावीर ने यज्ञ का समर्थन या रूपान्तरण किया था। अहिंसक यज्ञ का विधान वैदिक साहित्य में भी मिलता है। यदि आप उसे महावीर से पहले का मान लें तो मैं कहूंगा कि महावीर ने उस यज्ञ का समर्थन किया। और यदि आप उसे महावीर के बाद का मानें तो मैं कहूंगा कि महावीर ने यज्ञ का रूपान्तरण किया—हिंसक यज्ञ के स्थान पर अहिंसक यज्ञ की प्रतिष्ठा की।

महावीर का दृष्टिकोण सर्वग्राही था। उन्होंने सत्य को अनन्त दृष्टियों से देखा। उनके अनेकान्त-कोप में दूसरों की धर्म-पद्धति का आक्षेप करने वाला एक भी शब्द नहीं है। फिर वे यज्ञ का प्रतिवाद कैसे करते ?

उनके सामने प्रतिवाद करने योग्य एक ही वस्तु थी। वह थी हिंसा। हिंसा का उन्होंने सर्वत्र प्रतिवाद किया, भले फिर वह श्रमणों में प्रचलित थी या वैदिकों में। उनकी दृष्टि में श्रमण या वैदिक होने का विशेष अर्थ नहीं था। विशेष अर्थ था अहिंसक या हिंसक होने का। उनके क्षात्र हृदय पर अहिंसा का एकछत्र साम्राज्य था।

उस समय भगवान् के शिष्य अहिंसक यज्ञ का संदेश जनता तक पहुंचा रहे

वे हरिकेश मुनि ने यज्ञवाट में कहा—'ब्राह्मणो ! आपका यह श्रेष्ठ यज्ञ नहीं है ।'

'मुने ! आपने यह कैसे कहा, कि हमारा यज्ञ श्रेष्ठ नहीं है ?'

'जिसमें हिंसा होती है, वह श्रेष्ठ यज्ञ नहीं होता ।'

'श्रेष्ठ यज्ञ कैसे हो सकता है, आप बताएं, हम जानना चाहते हैं ।'

'जिसमें इन्द्रिय और मन का संयम, अहिंसा का आचरण और देह का विसर्जन होता है, वह श्रेष्ठ यज्ञ है ।'

'क्या आप भी यज्ञ करते हैं ?'

'प्रतिदिन करता हूं ।'

मुनि की बात सुन रुद्रदेव विस्मय में पड़ गया । उसे इसकी कल्पना नहीं थी । उसने आश्चर्य के साथ पूछा—'मुने ! तुम्हारी ज्योति कौन-सी है ? ज्योतिस्थान कौन-सा है ? घी डालने की करछियां कौन-सी हैं ? अग्नि को जलाने के कंडे कौन-से हैं ? ईंधन और शान्ति-पाठ कौन-से हैं और किस होम से तुम ज्योति को हुत करते हो ?'

इसके उत्तर में मुनि हरिकेश ने अहिंसक यज्ञ की व्याख्या की । वह व्याख्या महावीर से उन्हें प्राप्त थी ।

मुनि ने कहा—'रुद्रदेव ! मेरे यज्ञ में तप ज्योति है, चैतन्य ज्योतिस्थान है । मन, वाणी और काया की सत्प्रवृत्ति घी डालने की करछियां हैं । शरीर अग्नि जलाने के कंडे हैं । कर्म ईंधन है । संयम शान्तिपाठ है । इस प्रकार मैं अहिंसक यज्ञ करता हूं ।'[1]

इस संवाद में यज्ञ का प्रतिवाद नहीं किन्तु रूपान्तरण है । इस रूपान्तरण से पशु-बलि का आधार हिल गया । महावीर के शिष्य बड़े मार्मिक ढंग से उसका प्रतिवाद करने में लग गए ।

एक बकरा बलि के लिए ले जाया जा रहा था । मुनि ने उसे देखा । वे उसके सामने जाकर खड़े हो गए । बकरा जैसे ही निकट आया, वैसे ही मुनि नीचे झुके और अपने कान बकरे के मुंह के पास कर दिए । देखते-देखते लोग एकत्र हो गए । कुछ देर बाद मुनि अपनी मूल मुद्रा में खड़े हुए । लोगों ने पूछा—'महाराज ! आप क्या कर रहे थे ?'

मुनि बोले—'बकरे से कुछ बातें कर रहा था ।'

'हम आपका वार्तालाप सुनना चाहते हैं'—लोगों ने कहा ।

---

१. उत्तरज्झयणाणि, १२।४३, ४४ ।

के ते जोई के व ते जोइठाणे, का ते सुया किं व ते कारिसंगं ?।।
एहा य ते कयरा संति भिक्खू ! कयरेण होमेण हुणासि जोइं ?।।
तवो जोई जीवो जोइठाणं, जोगा सुया सरीरं कारिसंगं ।
कम्म एहा संजमजोगसंती, होमं हुणामी इसिणं पसत्थं ।।

मुनि बोले—'मैंने बकरे से पूछा—मौत के मुंह में जाने से पहले तुम कुछ कहना चाहते हो ?' उसने कहा—'यदि मेरी बात जनता के कानों तक पहुंचे तो मैं अवश्य कहना चाहूंगा।' मैंने उसकी भावना को पूरा करने का आश्वासन दिया। तब उसने कहा—'मेरी बलि इसलिए हो रही है कि मैं स्वर्ग चला जाऊं। तुम इस 'होता' से कहो कि मुझे स्वर्ग में जाने की आकांक्षा नहीं है। मैं घास-फूस खाकर इस धरती पर संतुष्ट हूं, फिर यह मुझे क्यों असंतोष की ओर ढकेलना चाहता है ? यदि यह मुझे स्वर्ग में भेजना चाहता है तो अपने प्रियजनों को क्यों नहीं भेजता ? उनकी बलि क्यों नहीं चढ़ाता ?' यह कहकर बकरा मौन हो गया। उपस्थितजनो! उसका आत्म-निवेदन मैंने आप लोगों तक पहुंचा दिया।'

मुनि स्वयं मौन हो गए। उनका स्वर महावीर की दिशा से आने वाले हज़ारों-हज़ारों स्वरों के साथ मिलकर इतना मुखर हो गया कि युग-युग तक उसकी गूंज कानों से टकराती रही। बलि की वेदी अहिंसा की छत्रछाया में अपने अस्तित्व की लिपि पढ़ने लगी।

९. युद्ध और अनाक्रमण

यह आकाश एक ओर अखण्ड है, फिर भी अनादिकाल से मनुष्य घर बनाता आ रहा है और उसकी अखण्डता को खंडित कर सुविधा का अनुभव करता चला आ रहा है। इस विखंडन का प्रयोजन सुविधा है। अखण्ड आकाश में मनुष्य उस सुविधा का अनुभव नहीं करता जिसका विखंडित आकाश में करता है। मनुष्य जाति की एकता में मनुष्य को अहंतृप्ति का वह अनुभव नहीं होता जो उसकी अनेकता में होता है। अहंवादी मनुष्य अपने अहं की तृप्ति के लिए मनुष्य जगत् को अनेक टुकड़ों में बांटता रहा है।

इस विभाजन का एक रूप राष्ट्र है। एक संविधान और एक शासन के अधीन रहने वाला भूखण्ड एक राष्ट्र बन जाता है। दूसरे राष्ट्र से उसकी सीमा अलग हो जाती है। वह सीमा-रेखा भूखण्ड को विभक्त करने के साथ मनुष्य जाति को भी विभक्त कर देती है। वह विभाजन विरोधी हितों की कल्पना को उभारकर युद्ध को जन्म देता है, मनुष्य को मनुष्य से लड़ने के लिए प्रेरित करता है।

भगवान् महावीर ने युद्ध का इस आधार पर विरोध किया कि मानवीय हित परस्पर-विरोधी नहीं हैं। उनमें सामंजस्य है और पूर्ण सामंजस्य। अहं और आकांक्षा ने विरोधी हितों की सृष्टि की है। पर वह वास्तविक नहीं है। उस समय की राजनीति में युद्ध को बहुत प्रोत्साहन मिल रहा था। उसकी प्रशस्तियां गाई जाती थीं। एक संस्कृत श्लोक उनका प्रबल प्रतिनिधित्व करता है—

जिते च लभ्यते लक्ष्मीः, मृते चापि सुरांगना।
क्षणभंगुरको देहः, का चिन्ता मरणे रणे॥

वरुण कुशल धनुर्धर था। उसका निशाना अचूक था। उसने धनुष को कानों तक खींचकर बाण चलाया। चम्पा का सैनिक एक ही प्रहार से मौत के मुंह में चला गया।[1]

महाराज चेटक भी प्रहार न करने वाले पर प्रहार और एक दिन में एक बार से अधिक प्रहार नहीं करते थे।[2] यह था प्रत्याक्रमण में अहिंसा का विवेक। यह थी हिंसा की अनिवार्यता और अहिंसा की स्मृति।

महाराज चेटक अहिंसा के व्रती थे। अनाक्रमण का सिद्धान्त उन्हें मान्य था। उनकी साम्राज्य-विस्तार की भावना मानवीय कल्याण की धारा में समाप्त हो चुकी थी। फिर भी वे अपने सामाजिक दायित्व के प्रति सजग थे। एक बार महारानी पद्मावती ने कोणिक से कहा—'राज्य का आनन्द तो वेहल्लकुमार लूट रहा है। आप तो नाम भर के राजा हैं।' कोणिक ने इसका हेतु जानना चाहा। महारानी ने कहा—'वेहल्लकुमार के पास सचेतक गंधहस्ती और अठारहसरा हार है। राज्य के दोनों उत्कृष्ट रत्न हमारे अधिकार में नहीं हैं, फिर राजा होने का क्या अर्थ ?'

महारानी का तर्कबाण अमोघ था। कोणिक का हृदय विंध गया। उसने वेहल्लकुमार से हार और हाथी की मांग की। वेहल्लकुमार ने कहा—'स्वामिन् ! सम्राट् श्रेणिक ने अपने जीवनकाल में हार और हाथी मुझे दिए थे, इसलिए ये मेरी निजी सम्पदा के अभिन्न अंग हैं। आप मुझे आधा राज्य दें तो मैं आपको हार और हाथी दे सकता हूं।' कोणिक ने इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया।

कोणिक मेरे हार और हाथी पर बलात् अधिकार कर लेगा, इस आशंका से अभिभूत वेहल्लकुमार ने महाराज चेटक के पास चले जाने की गुप्त योजना बनाई। अवसर पाकर अपनी सारी सम्पदा के साथ वह वैशाली चला गया।

कोणिक को इस बात का पता चला। उसने महाराज चेटक के पास दूत भेजकर हार, हाथी और वेहल्लकुमार को लौटाने की मांग की। चेटक ने वह ठुकरा दी। उसने दूत के साथ कोणिक को सन्देश भेजा—'तुम और वेहल्लकुमार दोनों श्रेणिक के पुत्र और चेल्लणा के आत्मज हो, मेरे धेवते हो। व्यक्तिगत रूप में तुम दोनों मेरे लिए समान हो। किन्तु वर्तमान परिस्थिति में वेहल्लकुमार मेरे शरणागत है। मैंने वैशाली-गणतंत्र के प्रमुख के नाते उसे शरण दी है, इसलिए मैं हार, हाथी और वेहल्लकुमार को नहीं लौटा सकता। यदि तुम उसे आधा राज्य दो तो मैं उन तीनों को तुम्हें सौंप सकता हूं।'

कोणिक ने दूसरी बार फिर दूत भेजकर वही मांग की। चेटक ने फिर उसे

---

१. भगवई, ७।१६४-२०२।
२. आवश्यकचूर्णि, उत्तरभाग, पृ० १७३ : चेडएण एक्कस्स सरस्स आगारो कतो।

ठुकरा दिया। कोणिक ने तीसरी बार दूत भेजकर युद्ध की चुनौती दी। चेटक ने उसे स्वीकार कर लिया।

चेटक ने मल्ल और लिच्छवि—अठारह गणराजों को आमंत्रित कर सारी स्थिति बताई। उन्होंने भी चेटक के निर्णय का समर्थन किया। उन्होंने कहा—'शरणागत वेहल्लकुमार को कोणिक के हाथों में नहीं सौंपा जा सकता। हम युद्ध नहीं चाहते। किन्तु कोणिक ने यदि हम पर आक्रमण किया तो हम अपनी पूरी शक्ति से गणतंत्र की रक्षा करेंगे।'

कोणिक की सेना वैशाली गणतंत्र की सीमा पर पहुंच गई। घमासान युद्ध चालू हो गया। चेटक ने दस दिनों में कोणिक के दस भाई मार डाले। कोणिक भयभीत हो उठा।[1]

इस घटना ने निम्न तथ्य स्पष्ट कर दिए—

१. अहिंसा कायरता के आवरण में पलने वाला क्लैव्य नहीं है। वह प्राण-विसर्जन की तैयारी में सतत जागरूक पौरुष है।

२. भगवान् महावीर से अनाक्रमण का संकल्प लेने वाले अहिंसाव्रती आक्रमण की क्षमता से शून्य नहीं थे, किन्तु वे अपनी शक्ति का मानवीय हितों के विरुद्ध प्रयोग नहीं करते थे।

३. मानवीय हितों के विरुद्ध अभियान करने वाले जब युद्ध की अनिवार्यता ला देते हैं तब वे अपने दायित्व का पालन करने में पीछे नहीं रहते।

यह आश्चर्य की बात है कि इस महायुद्ध में भगवान् महावीर ने कोई हस्तक्षेप नहीं किया। दोनों भगवान् के उपासक और अनुगामी थे। वे भगवान् की वाणी पर श्रद्धा करते थे। पर प्रश्न इतना उलझ गया था कि उन्होंने उसे आवेश की भूमिका पर ही सुलझाना चाहा, भगवान् का सहयोग नहीं चाहा। और एक भयंकर घटना घटित हो गई।

ऐसी ही एक घटना कौशांबी के आस-पास घटित हो रही थी। महारानी मृगावती ने उसमें भगवान् का सहयोग चाहा। भगवान् वहां पहुंचे। समस्या सुलझ गई।

उज्जयिनी का राजा चण्डप्रद्योत बहुत शक्तिशाली था। वह उस युग का प्रसिद्ध कामुक था। महारानी मृगावती का चित्र-फलक देख वह मुग्ध हो गया। उसने दूत भेजकर शतानीक से मृगावती की मांग की। शतानीक ने कड़ी भर्त्सना के साथ उसे ठुकरा दिया। चण्डप्रद्योत क्रुद्ध होकर चतुरंग सेना ले और चल पड़ा। शतानीक घबरा गया। उसके हृदय पर आघात लगा। उसे अतिसार की बीमारी हो गई और वह इस संसार से चल बसा।

---

१. निरयावलियाओ, १।

महारानी ने कौशांबी की सुरक्षा-व्यवस्था सुदृढ़ कर ली। वत्स की जनता अपने देश और महारानी की सुरक्षा के लिए कटिबद्ध हो गई। चण्डप्रद्योत की विशाल सेना ने नगरी को घेर लिया। चारों ओर युद्ध का आतंक छा गया।

मृगावती को भगवान् महावीर की स्मृति हुई। उसे अन्धकार में प्रकाश की रेखा का अनुभव हुआ। समस्या का समाधान दीखने लगा। भगवान् महावीर कौशांबी के उद्यान में आ गए। भगवान् के आगमन का सम्वाद पाकर मृगावती ने कौशांबी के द्वार खुलवा दिए। भय का वातावरण अभय में बदल गया। रणभूमि जनभूमि हो गई। जन-जन पुलकित हो उठा।

मृगावती महावीर के समवसरण में आई। चण्डप्रद्योत भी आया। भगवान् ने न किसी की प्रशंसा की और न किसी के प्रति आक्रोश प्रकट किया। वे मानवीय दुर्बलताओं से भली भांति परिचित थे। उन्होंने मध्यस्थभाव से अहिंसा की चर्चा की। उससे सबके मन में निर्मलता की धार बहने लगी। चण्डप्रद्योत का आक्रोश शान्त हो गया।

उचित अवसर देख मृगावती बोली—'भंते ! मैं आपकी वाणी से बहुत प्रभावित हुई हूं। महाराज चण्डप्रद्योत मुझे स्वीकृति दें और वत्स के राजकुमार उदयन की सुरक्षा का दायित्व अपने कंधों पर लें तो मैं साध्वी होना चाहती हूं।'

चण्डप्रद्योत का सिर नत और मन प्रणत हो गया। अहिंसा के आलोक में वासना का अंधतमस् विलीन हो गया। उसने उदयन का भाग्यसूत्र अपने हाथ में लेना स्वीकार कर लिया, आक्रामक संरक्षक बन गया। मृगावती को साध्वी बनने की स्वीकृति मिल गई। कौशांबी की जनता हर्ष से झूम उठी। युद्ध के बादल फट गए। मृगावती का शील सुरक्षित रह गया। उज्जयिनी और वत्स—दोनों मैत्री के सघन सूत्र में बंध गए।[१]

भगवान् मैत्री के महान् प्रवर्तक थे। उन्होंने जन-जन को मैत्री का पवित्र पाठ पढ़ाया। उनका मैत्री-सूत्र है—

'मैं सबकी भूलों को सह लेता हूं,
वे सब मेरी भूलों को सह लें।
सबके साथ मेरी मैत्री है,
किसी के साथ मेरा वैर नहीं है।'

इस सूत्र ने हज़ारों-हज़ारों मनुष्यों की आक्रामक वृत्ति को प्रेम में बदला और शक्ति के दीवट पर क्षमा के दीप जलाए।

सामाजिक जीवन में भिन्न-भिन्न रुचि, विचार और संस्कार के लोग होते हैं। भिन्नता के प्रति कटुता उत्पन्न हो जाती है। द्वेष की ग्रन्थि घुलने लगती है।

---

१. आवश्यकचूर्णि पूर्वभाग, पृ० ९१।

वही समय पर आक्रामक बन जाती है।

भगवान् ने इस ग्रन्थिमोक्ष के तीन पर्व निश्चित किए—

१. पाक्षिक आत्मालोचन।

२. चातुर्मासिक आत्मालोचन।

३. सांवत्सरिक आत्मालोचन।

किसी व्यक्ति के प्रति मन में वैर का भाव निर्मित हो तो उसे तत्काल धो डाले, जिससे वह ग्रन्थि का रूप न ले। भगवान् ने साधुओं को निर्देश दिया—'परस्पर कोई कटुता उत्पन्न हो तो भोजन करने से पहले-पहले उसे समाप्त कर दो।' एक बार एक मुनि भगवान् के पास आकर बोला—'भंते ! आज एक मुनि से मेरा कलह हो गया। मुझे उसका अनुताप है। अब मैं क्या करूं ?'

भगवान्—'परस्पर क्षमा-याचना कर लो।'

मुनि—'भंते ! मेरा अनुमान है कि वह मुझे क्षमा नहीं करेगा।'

भगवान्—'वह तुम्हें क्षमा करे या न करे, आदर दे या न दे, तुम्हारे जाने पर उठे या न उठे, वंदना करे या न करे, साथ में खाए या न खाए, साथ में रहे या न रहे, कलह को शान्त करे या न करे, फिर भी तुम उसे क्षमा करो।'

मुनि—'भंते ! मुझे अकेले को ही ऐसा क्यों करना चाहिए ?'

भगवान्—'श्रमण होने का अर्थ है शान्ति। श्रमण होने का अर्थ है मैत्री। तुम श्रमण होने का अनुभव कर रहे हो, इसलिए मैं कहता हूं कि तुम अपनी मैत्री को जगाओ। जो मैत्री को जागृत करता है, वह श्रमण होता है। जो मैत्री को जागृत नहीं करता, वह श्रमण नहीं होता।'

इस जगत् में सब लोग श्रमण नहीं होते। श्रमण भी सब समान वृत्ति के नहीं होते। इस वस्तु-स्थिति को ध्यान में रखकर भगवान् ने कहा—'यदि तत्काल मैत्री की अनुभूति न कर सको तो पक्ष के अंतिम दिन में अवश्य उसका अनुभव करो। पाक्षिक दिन में भी उसकी अनुभूति न हो सके तो चातुर्मासिक दिन तक अवश्य उसे विकसित करो। यदि उस दिन भी उसका अनुभव न हो तो सांवत्सरिक दिन तक अवश्य ही उसका विकास करो। यदि उस दिन भी द्वेष की ग्रन्थि नहीं खुलती है, सबके प्रति मैत्री-भावना जागृत नहीं होती है तो समझो कि तुम सम्यग्दृष्टि नहीं हो, धार्मिक नहीं हो।'

धर्म की पहली सीढ़ी है—सम्यग्दृष्टि का निर्माण और सम्यग्दृष्टि की पहली पहचान है— शान्ति और मैत्री के मानस का निर्माण। जिसके मन में प्राणीमात्र के प्रति मैत्री की अनुभूति नहीं है, वह महावीर की दृष्टि में धार्मिक नहीं है। चण्डप्रद्योत ने महावीर के इस सूत्र का उपयोग कर अपने को बंदीगृह से मुक्त करवाया था।

चण्डप्रद्योत सिन्धु-सौवीर के अधिपति उद्रायण की स्वर्णगुलिका दासी का अपहरण कर उसे उज्जयिनी ले आया। पता चलने पर उद्रायण ने उज्जयिनी पर आक्रमण

कर दिया। चण्डप्रद्योत पराजित हो गया। उद्रायण ने उसे वंदी वना सिन्धु-सौवीर की ओर प्रस्थान कर दिया। मार्ग में भारी वर्षा हुई। उद्रायण ने दसपुर में पड़ाव किया। वहां सांवत्सरिक पर्व आया। उद्रायण ने वार्षिक सिंहावलोकन कर चण्डप्रद्योत से कहा—'इस महान् पर्व के अवसर पर मैं आपको क्षमा करता हूं। आप मुझे क्षमा करें।' चण्डप्रद्योत ने कहा—'क्षमा करना और वंदी वनाए रखना—ये दोनों एक साथ कैसे हो सकते हैं ? आप बंदी से क्षमा करने की आशा कैसे करते हैं ? भगवान् महावीर ने मैत्री के मुक्त क्षेत्र का निरूपण किया है। उसमें न बंदी बनने का अवकाश है और न बंदी बनाने का। फिर महाराज ! आप किस भाव से मुझे क्षमा करते हैं और मुझसे क्षमा चाहते हैं ?'

उद्रायण को अपने प्रमाद का अनुभव हुआ। उसने चण्डप्रद्योत को मुक्त कर मैत्री के बंधन से बांध लिया। दोनों परम मित्र वन गए।[1]

भगवान् ने अनाक्रमण के दो आयाम प्रस्तुत किए—आन्तरिक और वाहर। उसका आन्तरिक आयाम था—मैत्री का विकास और बाहरी आयाम था—निःशस्त्रीकरण।

निःशस्त्रीकरण की आधार-भित्तियां तीन थीं—

१. शस्त्रों का अव्यापार।
२. शस्त्रों का अवितरण।
३. शस्त्रों का अल्पीकरण।

आक्रमण के पीछे आकांक्षा या आवेश के भाव होते हैं। वे मनुष्य को मनुष्य का शत्रु बनाते हैं। शत्रुता का भाव जैसे ही हृदय पर अपना प्रभुत्व स्थापित करता है, वैसे ही भीतर बह रहा प्रेम का स्रोत सूख जाता है। मन सिकुड़ जाता है। बुद्धि रूखी-रूखी-सी हो जाती है। मनुष्य क्रूर और दमनकारी बन जाता है। यह हमारी दुनिया की बहुत पुरानी बीमारी है। इसकी चिकित्सा का एकमात्र विकल्प है—समत्व की अनुभूति का विकास, मैत्री की भावना का विकास। इस चिकित्सा के महान् प्रयोक्ता थे भगवान् महावीर। उनका अनाक्रमण का सिद्धान्त आज भी मानव की मृदु और संयत भावनाओं का प्रतिनिधित्व कर रहा है।

१०. असंग्रह का आन्दोलन

शरीर और भूख—दोनों एक साथ चलते हैं। इसलिए प्रत्येक शरीरधारी जीव भूख को शान्त करने के लिए कुछ न कुछ ग्रहण करता है। बहुत सारे अल्प-विकसित जीव भूख लगने पर भोजन की खोज में निकलते हैं और कुछ मिल जाने पर खा-पी संतुष्ट हो जाते हैं। वे संग्रह नहीं करते। कुछ जीव थोड़ा-बहुत संग्रह

---

१. उत्तराध्ययन, सुखवोधा, पत्र २५४।

करते हैं। मनुष्य सर्वाधिक विकसित जीव है। उसमें अतीत की स्मृति और भविष्य की स्पष्ट कल्पना है। इसलिए वह सबसे अधिक संग्रह करता है।

मनुष्य जब अरण्यवासी था तब केवल खाने के लिए सीमित संग्रह करता था। जब वह समाजवासी हो गया तब संग्रह के दो आयाम खुल गए—एक आवश्यकता और दूसरा बड़प्पन।

आवश्यकता को पूरा करना सबके लिए जरूरी है। उसमें किसी को कैसे आपत्ति हो सकती है? बड़प्पन में बहुतों को आपत्ति होती है और वह विभिन्न युगों में विभिन्न रूपों में होती रही है।

महावीर के युग में लोग भूखे नहीं थे और आर्थिक समानता का दृष्टिकोण भी निर्मित नहीं हुआ था। लोग भूखे नहीं थे और भाग्यवाद की पकड़ बहुत मजबूत थी, इसलिए अर्थ-संग्रह करने वालों के प्रति आक्रोशपूर्ण मानस का निर्माण नहीं हुआ था।

राज्य-व्यवस्था द्वारा भी संग्रह प्रतिबंधित नहीं था। हर व्यक्ति को संग्रह करने की मुक्त छूट थी। इसे समझने में मम्मण की घटना बहुत सहायक होगी।

आषाढ़ की पहली रात। बादलों से घिरा हुआ आकाश। घोर अंधकार। तूफानी हवा। उफनती नदी का कलकल नाद। इस वातावरण में हर आदमी मकान की शरण ले रहा था।

सम्राट् श्रेणिक महारानी चेल्लणा के साथ प्रासाद के वातायन में बैठे थे। बिजली कौंधी। महारानी ने उसके प्रकाश में देखा, एक मनुष्य नदी के तट पर खड़ा है और उसमें बहकर आए हुए काष्ठ-खण्डों को खींच-खींचकर संजो रहा है। महारानी का मन करुणा से भर गया। उसने श्रेणिक से कहा—'आपके राज्य में लोग बहुत गरीब हैं। आपका प्रशासन उनकी गरीबी को मिटाने का प्रयत्न क्यों नहीं करता? मुझे लगता है कि आप भी नदी की भांति भरे हुए समुद्र को भरते हैं। खाली को कोई नहीं भरता।'

'मेरे राज्य में कोई भी आदमी गरीब नहीं है। रोटी, कपड़ा और मकान सबको सुलभ हैं। फिर तुमने यह आरोप कैसे लगाया?'

'मैं आरोप नहीं लगा रही हूं, आंखों-देखी घटना बता रही हूं।'

'उसका प्रमाण है तुम्हारे पास?'

'प्रत्यक्ष को प्रमाण की क्या आवश्यकता है? मैं आपसे एक प्रश्न पूछती हूं कि इस कालरात्रि में यदि कोई आदमी जंगल में काम करे तो क्या आप नहीं मानेंगे कि वह गरीब नहीं है, भूखा नहीं है?'

'अवश्य मानूंगा। पर इस समय किसी मनुष्य के जंगल में होने की संभावना नहीं है।'

'महाराज! बिजली कौंधने पर आप इस दिशा में देखिए कि नदी के तट पर

क्या हो रहा है ?'

सम्राट् ने कुछ ही क्षणों में उस मनुष्य को देखा और वे स्तब्ध रह गए। उनका सिर लज्जा से झुक गया। उन्हें अपने शासन की विफलता पर महान् वेदना का अनुभव हुआ। महारानी का आक्रोश उनकी आंखों के सामने घूमने लगा। सम्राट् ने राजपुरुष को भेजकर उस आदमी को बुला लिया। वह सम्राट् को प्रणाम कर खड़ा हो गया। सम्राट् ने पूछा—'भद्र ! तुम कौन हो ?'

'मेरा नाम मम्मण है।'

'तुम कहां रहते हो ?'

'मैं यहीं राजगृह में रहता हूं।'

'भद्र ! इस तूफानी रात्रि में कोपीन पहने तुम नदी के तट पर खड़े थे। क्या तुम्हें रोटी सुलभ नहीं है ?'

'रोटी बहुत सुलभ है, महाराज।'

'फिर यह असामयिक प्रयत्न क्यों ?'

'मुझे एक बैल की जरूरत है, इसलिए मैं नदी में प्रवाहित काष्ठ-खण्डों को संजो रहा था।'

'एक बैल के लिए इतना कष्ट क्यों ? तुम मेरी गोशाला में जाओ और तुम्हें जो अच्छा लगे, वह बैल ले लो।'

'महाराज ! मेरे बैल की जोड़ी का बैल आपकी गोशाला में नहीं है, फिर मैं वहां जाकर क्या करूंगा ?'

'तुम्हारा बैल क्या किसी स्वर्ग से आया है ?'

'कल प्रातःकाल आप मेरे घर चलने की कृपा करें, फिर जो आपका निर्देश होगा, वही करूंगा।'

सूर्योदय होते ही सम्राट् मम्मण के घर जाने को तैयार हो गए। मम्मण राज-प्रासाद में आया और सम्राट् को अपने घर ले गया। उसका घर देख सम्राट् आश्चर्य में डूब गये। वह सम्राट् को बैल-कक्ष में ले गया। वहां पहुंच सम्राट् ने देखा—एक स्वर्णमय रत्नजटित बैल पूर्ण आकार में खड़ा है, और दूसरा अभी अधूरा है। 'इसे पूर्ण करना है, महाराज !' मम्मण ने अंगुली-निर्देश करते हुए कहा। सम्राट् दो क्षण मौन रहकर बोले—'तुम सच कह रहे थे, मम्मण ! तुम्हारी जोड़ी का बैल मेरी गोशाला में नहीं है और तुम्हारे बैल की पूर्ति करने की मेरे राज्यकोष की क्षमता भी नहीं है। मेरी शुभ कामना है—तुम अपने लक्ष्य में सफल होओ। मैं तुम्हारी धुन पर आश्चर्य-चकित हूं।'[1]

सम्राट् ने राजप्रासाद में आ उस धनी-गरीब की सारी रामकहानी महारानी

---

१. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० ३७१, ३७२।

को सुना दी। दोनों की आंखों में बारी-बारी से दो चित्र घूमने लगे—एक उस कालरात्रि में नदी-तट पर काम कर रहे मम्मण का और दूसरा स्वर्णमय रत्नजटित वृषभयुगल के निर्माता मम्मण का।

इस घटना के आलोक में हम महावीर के असंग्रह व्रत का मूल्यांकन कर सकते हैं। हम इस तथ्य को न भुलाएं कि महावीर ने असंग्रह का विधान आर्थिक समीकरण के लिए नहीं किया था। उनके सामने गरीबी और अमीरी की समस्या नहीं थी। उनके सामने समस्या थी मानसिक शान्ति की, संयम की लौ को प्रज्वलित रखने की और आत्मा को पाने की। अर्थ का संग्रह इन तीनों में बाधक था। इसीलिए महावीर ने असंग्रह को महाव्रत के रूप में प्रस्तुत किया। भगवान् का निश्चित अभिमत था कि जो व्यक्ति अपरिग्रह को नहीं समझता वह धर्म को नहीं समझ सकता, जो व्यक्ति अपरिग्रह का आचरण नहीं करता, वह धर्म का आचरण नहीं कर सकता।

परिग्रह की लौकिक भाषा है—अर्थ और वस्तुओं का संग्रह। भगवान् की भाषा इससे भिन्न है। वह शरीर परिग्रह है। संचित कर्म परिग्रह है। अर्थ और वस्तु परिग्रह है। चैतन्य से भिन्न जो कुछ है, वह सब परिग्रह है, यदि उसके प्रति मूर्च्छा है। यदि उसके प्रति मूर्च्छा नहीं है तो कोई भी वस्तु परिग्रह नहीं है। मूर्च्छा अपने आप परिग्रह है। वस्तु अपने आप परिग्रह नहीं है। वह मूर्च्छा से जुड़कर परिग्रह बनती है। फलित की भाषा में मूर्च्छा और वस्तु उसका निमित्त हो सकती है। जिसका मन मूर्च्छा से शून्य है, उसके लिए वस्तु केवल वस्तु है, उपयोगिता का साधन है, किन्तु परिग्रह नहीं है। जिसका मन मूर्च्छा से पूर्ण है, उसके लिए वस्तु परिग्रह का निमित्त है। इस भाषा में परिग्रह के दो रूप बन जाते हैं—

१. अंतरंग परिग्रह—मूर्च्छा।

२. बाह्य परिग्रह—वस्तु।

एक बार भगवान् के ज्येष्ठ शिष्य गौतम एक रंक की ओर संकेत कर बोले—'भंते! यह कितना अपरिग्रही है? इसके पास कुछ भी नहीं है।'

'क्या इसके मन में भी कुछ नहीं है?'

'मन में तो है।'

'फिर अपरिग्रही कैसे?'

१. जिसके मन में मूर्च्छा है और पास में कुछ नहीं है, वह परिग्रह-प्रिय दरिद्र है।

२. जिसके पास में जीवन-निर्वाह के साधन-मात्र हैं और मन में मूर्च्छा नहीं है, वह संयमी है।

३. जिसके मन में मूर्च्छा भी नहीं है और पास में भी कुछ नहीं है, वह

अपरिग्रही है।

४. जिसके मन में मूर्च्छा भी है और पास में संग्रह भी है, वह परिग्रही है।

भगवान् ने सामाजिक मनुष्य को अपरिग्रह की दिशा में ले जाने के लिए परिग्रह-संयम का सूत्र दिया। उसका भीतरी आकार था इच्छा-परिमाण और बाहरी आकार था वस्तु-परिमाण। इच्छा-परिमाण मानसिक स्वामित्व की मर्यादा है। इसे भाषा में बांधा नहीं जा सकता। वस्तु-परिमाण व्यक्तिगत स्वामित्व की मर्यादा है। यह भाषा की पकड़ में आ सकती है। इसीलिए भगवान् ने इच्छा-परिमाण को वस्तु-परिमाण के साथ निरूपित किया।

वस्तु-परिमाण इच्छा-परिमाण का फलित है। वस्तु का अपरिमित संग्रह वही व्यक्ति करता है जिसकी इच्छा अपरिमित है। वस्तु के आधार पर परिग्रह की दो दिशाएं बनती हैं—

१. महा परिग्रह—असीम व्यक्तिगत स्वामित्व।

२. अल्प परिग्रह—सीमित व्यक्तिगत स्वामित्व।

भगवान् महावीर ने अल्प-परिग्रही समाज-रचना की नींव डाली। इसमें लाखों स्त्री-पुरुष सम्मिलित हुए। उन्होंने अपनी आवश्यक सम्पत्ति से अधिक संग्रह नहीं करने का संकल्प किया। भगवान् ने संग्रह की गाणितिक सीमा का प्रतिपादन नहीं किया। उन्होंने संग्रह-नियंत्रण की दो दिशाएं प्रस्तुत कीं। पहली—अर्थार्जन में साधन-शुद्धि का विवेक और दूसरी—व्यक्तिगत जीवन में संयम का अभ्यास। अल्प-परिग्रही व्यक्तियों के लिए निम्न आचरण वर्जित थे—

१. मिलावट।

२. झूठा तोल-माप।

३. असली वस्तु दिखाकर नकली वस्तु देना।

४. पशुओं पर अधिक भार लादना।

५. दूसरों की आजीविका का विच्छेद करना।

भगवान् ने अनुभव किया कि बहुत सारे लोग सुदूर प्रदेशों में जाते हैं और वे उस प्रदेश की जनता के हितों का अपहरण करते हैं। इस प्रवृत्ति से आक्रमण और संग्रह—दोनों को प्रोत्साहन मिलता है। भगवान् ने इस प्रवृत्ति को रोकने के लिए 'दिग्व्रत' का प्रतिपादन किया। उनके अल्प-परिग्रही अनुयायियों ने अपने प्रदेश से बाहर जाकर अर्थार्जन करना त्याग दिया। अप्राप्त भोग और सुख को प्राप्त करने के लिए दूसरे प्रदेशों में जाना उनके लिए निषिद्ध आचरण हो गया।

भगवान् ने जन-जन में अपरिग्रह की निष्ठा का निर्माण किया। 'पूनिया' उस निष्ठा का ज्वलन्त प्रतीक था। सम्राट् श्रेणिक ने उससे कहा—'तुम एक सामायिक (समता की साधना का व्रत) मुझे दे दो। उसके बदले में मैं तुम्हें आधा राज्य दे दूंगा।'

पूनिया ने विनम्रता के साथ सम्राट् का प्रस्ताव लौटा दिया। अपनी आत्मिक साधना का सौदा उसे मान्य नहीं हुआ।

'पूनिया' कोई धनपति नहीं था। वह रुई की पूनिया बनाकर अपनी जीविका चलाता था। पर वह समत्व का धनी था। परिग्रह के केन्द्रीकरण में उनका विश्वास नहीं था। वह भगवान् महावीर के अल्प-संग्रह के आन्दोलन का प्रमुख अनुयायी था।

भगवान् महावीर का असंग्रह-आन्दोलन उनके अहिंसा-आन्दोलन का ही एक अंग था। उनका अनुभव था कि अहिंसा की प्रतिष्ठा हुए बिना असंग्रह की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती। संग्रह में आसक्त मनुष्य वैर की अभिवृद्धि करता है। अहिंसा का स्वरूप अवैर है। वैर की वृद्धि करने वाला अहिंसा को विकसित नहीं कर सकता। जिसे मानवीय एकता की अनुभूति नहीं है, दूसरों के हितों के अपहरण में अपने हितों के अपहरण की अनुभूति नहीं है। वह असंग्रह का आचरण नहीं कर सकता। व्यवस्था की बाध्यता से व्यक्ति व्यक्तिगत स्वामित्व को छोड़ देता है। यह अद्भुत सामाजिक परिवर्तन विगत कुछ शताब्दियों में घटित हुआ सामाजिक परिवर्तन है। किन्तु सुदूर अतीत में व्यक्तिगत स्वामित्व के समीकरण की दिशा का उद्घाटन महावीर के असंग्रह आन्दोलन की महत्त्वपूर्ण घटना है।

अपरिग्रही है।

४. जिसके मन में मूर्च्छा भी है और पास में संग्रह भी है, वह परिग्रही है।

भगवान् ने सामाजिक मनुष्य को अपरिग्रह की दिशा में ले जाने के लिए परिग्रह-संयम का सूत्र दिया। उसका भीतरी आकार था इच्छा-परिमाण और बाहरी आकार था वस्तु-परिमाण। इच्छा-परिमाण मानसिक स्वामित्व की मर्यादा है। इसे भाषा में बांधा नहीं जा सकता। वस्तु-परिमाण व्यक्तिगत स्वामित्व की मर्यादा है। यह भाषा की पकड़ में आ सकती है। इसीलिए भगवान् ने इच्छा-परिमाण को वस्तु-परिमाण के साथ निरूपित किया।

वस्तु-परिमाण इच्छा-परिमाण का फलित है। वस्तु का अपरिमित संग्रह वही व्यक्ति करता है जिसकी इच्छा अपरिमित है। वस्तु के आधार पर परिग्रह की दो दिशाएं बनती हैं—

१. महा परिग्रह—असीम व्यक्तिगत स्वामित्व।
२. अल्प परिग्रह—सीमित व्यक्तिगत स्वामित्व।

भगवान् महावीर ने अल्प-परिग्रही समाज-रचना की नींव डाली। इसमें लाखों स्त्री-पुरुष सम्मिलित हुए। उन्होंने अपनी आवश्यक सम्पत्ति से अधिक संग्रह नहीं करने का संकल्प किया। भगवान् ने संग्रह की गाणितिक सीमा का प्रतिपादन नहीं किया। उन्होंने संग्रह-नियंत्रण की दो दिशाएं प्रस्तुत कीं। पहली—अर्थार्जन में साधन-शुद्धि का विवेक और दूसरी—व्यक्तिगत जीवन में संयम का अभ्यास। अल्प-परिग्रही व्यक्तियों के लिए निम्न आचरण वर्जित थे—

१. मिलावट।
२. झूठा तोल-माप।
३. असली वस्तु दिखाकर नकली वस्तु देना।
४. पशुओं पर अधिक भार लादना।
५. दूसरों की आजीविका का विच्छेद करना।

भगवान् ने अनुभव किया कि बहुत सारे लोग सुदूर प्रदेशों में जाते हैं और वे उस प्रदेश की जनता के हितों का अपहरण करते हैं। इस प्रवृत्ति से आक्रमण और संग्रह—दोनों को प्रोत्साहन मिलता है। भगवान् ने इस प्रवृत्ति को रोकने के लिए 'दिग्व्रत' का प्रतिपादन किया। उनके अल्प-परिग्रही अनुयायियों ने अपने प्रदेश से बाहर जाकर अर्थार्जन करना त्याग दिया। अप्राप्त भोग और सुख को प्राप्त करने के लिए दूसरे प्रदेशों में जाना उनके लिए निषिद्ध आचरण हो गया।

भगवान् ने जन-जन में अपरिग्रह की निष्ठा का निर्माण किया। 'पूनिया' उस निष्ठा का ज्वलन्त प्रतीक था। सम्राट् श्रेणिक ने उससे कहा—'तुम एक सामायिक (समता की साधना का व्रत) मुझे दे दो। उसके बदले में मैं तुम्हें आधा राज्य दे दूंगा।'

पूनिया ने विनम्रता के साथ सम्राट् का प्रस्ताव लौटा दिया। अपनी आत्मिक साधना का सौदा उसे मान्य नहीं हुआ।

'पूनिया' कोई धनपति नहीं था। वह रूई की पूनिया बनाकर अपनी जीविका चलाता था। पर वह समत्व का धनी था। परिग्रह के केन्द्रीकरण में उसका विश्वास नहीं था। वह भगवान् महावीर के अल्प-संग्रह के आन्दोलन का प्रमुख अनुयायी था।

भगवान् महावीर का असंग्रह-आन्दोलन उनके अहिंसा-आन्दोलन का ही एक अंग था। उनका अनुभव था कि अहिंसा की प्रतिष्ठा हुए बिना असंग्रह की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती। संग्रह में आसक्त मनुष्य वैर की अभिवृद्धि करता है। अहिंसा का स्वरूप अवैर है। वैर की वृद्धि करने वाला अहिंसा को विकसित नहीं कर सकता। जिसे मानवीय एकता की अनुभूति नहीं है, दूसरों के हितों के अपहरण में अपने हितों के अपहरण की अनुभूति नहीं है। वह असंग्रह का आचरण नहीं कर सकता। व्यवस्था की बाध्यता से व्यक्ति व्यक्तिगत स्वामित्व को छोड़ देता है। यह अद्भुत सामाजिक परिवर्तन विगत कुछ शताब्दियों में घटित हुआ सामाजिक परिवर्तन है। किन्तु सुदूर अतीत में व्यक्तिगत स्वामित्व के समीकरण की दिशा का उद्घाटन महावीर के असंग्रह आन्दोलन की महत्त्वपूर्ण घटना है।

२८

विरोधाभास का वातायन

जीवन में विरोधों की अनगिन चयनिकाएं हैं। कोई भी मनुष्य जीवन के प्रभात से जीवन की सन्ध्या तक एकरूप नहीं रहता। एकरूपता का आग्रह रखने वाले इस अनेकरूपता को विरोधाभास मानते हैं। भगवान् महावीर का जीवन इन विरोधाभासों से शून्य नहीं था।

भगवान् परिषद् के बीच में बैठे थे। एक आजीवक उपासक आकर बोला—'भंते ! आप पहले अकेले रहते थे और अब परिषद् के बीच में रहते हैं। क्या यह विरोधाभास नहीं है ?'

'एकांगी दृष्टि से देखते हो तो है, अनेकान्त दृष्टि से देखो तो नहीं है।'

'यह कैसे ?'

'मैं साधना-काल में बाहर में अकेला था और भीतर में भरा हुआ। संस्कारों की पूरी परिषद् मेरे साथ थी। अब बाहर से मैं परिषद् के बीच हूं और भीतर में अकेला, संस्कारों से पूर्ण शून्य।'

आजीवक संघ के आचार्य गोशालक ने भी भगवान् के जीवन को विरोधाभासों से परिपूर्ण निरूपित किया। मुनि आर्द्रकुमार वसंतपुर से प्रस्थान कर भगवान् के पास जा रहे थे। उन दिनों भगवान् राजगृह के गुणशीलक चैत्य में निवास कर रहे थे। बीच में आर्द्रकुमार की गोशालक से भेंट हो गई। गोशालक ने परिचय प्राप्त कर कहा—

'आर्द्रकुमार ! तुम महावीर के पास जा रहे हो, यह आश्चर्य है। तुम्हारे जैसा समझदार राजकुमार कैसे बहक गया ?'

'मैं बहका नहीं हूं। मैंने महावीर को जाना है, समझा है।'

'मैं उन्हें तुमसे पहले जानता हूं, वर्षों तक उनके साथ रहा हूं।'

'महावीर के बारे में आपका क्या विचार है ?'

'मेरा विचार तुम इस बात से समझ लो कि अब मैं उनके साथ नहीं हूं।'

'साथ नहीं रहने के अनेक कारण हो सकते हैं। मैं जानना चाहता हूं कि आपने किस कारण से उनका साथ छोड़ा ?'

'महावीर अस्थिर विचार वाले हैं। वे कभी कुछ कहते हैं और कभी कुछ। एक बिन्दु पर स्थिर नहीं रहते—

- पहले वे अकेले रहते थे, अब परिषद् से घिरे हुए रहते हैं।
- पहले वे मौन रहते थे, अब उपदेश देने की धुन में लगे हुए हैं।
- पहले वे शिष्य नहीं बनाते थे, अब शिष्यों की भरमार है।
- पहले वे तपस्या करते थे, अब प्रतिदिन भोजन करते हैं।
- पहले वे रूखा-सूखा भोजन करते थे, अब सरस भोजन करते हैं।

तुम्हारे महावीर का जीवन विरोधाभासों से भरा पड़ा है। इसीलिए मैंने उनका साथ छोड़ दिया।'

गोशालक ने फिर अपने वक्तव्य की पुष्टि करने का प्रयत्न किया। वे बोले—'आर्द्रकुमार ! तुम्हीं बताओ, उनके अतीत और वर्तमान के आचरण में संगति कहां है ? संधान कहां है ? उनका अतीत का आचरण यदि सत्य था तो वर्तमान का आचरण असत्य है और यदि वर्तमान का आचरण सत्य है तो अतीत का आचरण असत्य था। दोनों में से एक अवश्य ही त्रुटिपूर्ण है। दोनों सही नहीं हो सकते।'

'मेरी दृष्टि में दोनों सही हैं।'

'यह कैसे ?'

'मैं सही कह रहा हूं, आजीवक प्रवर ! भगवान् पहले भी अकेले थे, आज भी अकेले हैं और अनागत में भी अकेले होंगे। भगवान् जब भीतर की यात्रा कर रहे थे, तब बाहर में अकेले थे। उनकी वह यात्रा पूर्ण हो चुकी है। अब वे बाहर की यात्रा कर रहे हैं इसलिए भीतर में अकेले हैं। आचार्य ! आप जानते ही हैं कि खाली मनुष्य एकान्त में जाता है और भरा मनुष्य भीड़ में बांटने आता है। ये दोनों भिन्न परिस्थितियों के भिन्न परिणाम हैं। इनमें कोई विसंगति नहीं है।

'भगवान् सत्य के साक्षात्कार की साधना कर रहे थे, तब उनकी वाणी मौन थी। उन्हें सत्य का साक्षात् हो चुका है। अब सत्य उनकी वाणी में आकार ले रहा है।

'भगवान् साधना-काल में अपूर्णता से पूर्णता की ओर प्रस्थान कर रहे थे। उस समय कोई उनका शिष्य कैसे बनता ? अब वे पूर्णता में प्रतिष्ठित हैं। अपूर्ण पूर्ण का अनुगमन करता है, इसमें अनुचित क्या है ?

'भगवान् संस्कारों का प्रक्षालन कर रहे थे, तब तपस्या की अपेक्षा थी। अब उनके संस्कार धुल चुके हैं। तपस्या की [illegible] हो चुकी [illegible] के लिए नहीं है। आप ही कहिए—नदी के पार पहुंचने पर नौ

उपयोगिता है ?

'आजीवक प्रवर ! मैं फिर आपसे कहना चाहता हूं कि भगवान् के आचरण प्रयोजन के अनुरूप होते हैं। उनमें कोई विसंगति नहीं है।'

गोशालक ने आर्द्रकुमार के समाधान पर आवरण डालते हुए कहा—'आर्द्रकुमार ! क्या तुम नहीं मानोगे कि महावीर बहुत भीरु हैं ?'

'यह मानने का मेरे सामने कोई हेतु नहीं है।'

'नहीं मानने का क्या हेतु है ?'

'मैं पूछ सकता हूं, मानने का क्या हेतु है ?'

'जिन अतिथि-गृहों और आराम-गृहों में बड़े-बड़े विद्वान् परिव्राजक ठहरते हैं, वहां महावीर नहीं ठहरते। विद्वान् परिव्राजक कोई प्रश्न न पूछ लें, इस डर से वे सार्वजनिक आवास-गृहों से दूर रहते हैं। क्या उन्हें भीरु मानने के लिए यह हेतु पर्याप्त नहीं है ?'

'भगवान् अर्थशून्य और वचकाना प्रवृत्ति नहीं करते। वे प्रयोजन की निष्पत्ति देखते हैं, वहां ठहरते हैं, अन्यत्र नहीं ठहरते। प्रयोजन की निष्पत्ति देखते हैं, तब प्रश्न का उत्तर देते हैं, अन्यथा नहीं देते। इसका हेतु भय नही, प्रवृत्ति की सार्थकता है।'[1]

आजीवक आचार्य महावीर को निरपेक्षदृष्टि से देख रहे थे। फलतः उनकी दृष्टि में महावीर का चित्र विरोधाभास की रेखाओं से बना हुआ था। आर्द्रकुमार महावीर को महावीर की दृष्टि (सापेक्षदृष्टि) से देख रहा था। फलतः उसकी दृष्टि में प्रतिविम्बित हो रहा था महावीर का वह चित्र जो निर्मित हो रहा था सामंजस्य की रेखाओं से।

देश, काल और परिस्थिति के वातायन की खिड़की को वन्द कर देखनेवाला जीवन में विरोधाभास देखता है। यथार्थ वही देख पाता है, जिसके सामने सापेक्षता की खिड़की खुली होती है।

---

१. देखें—सूयगडो, २।६।

२९

सह-अस्तित्व और सापेक्षता

भगवान् महावीर अहिंसा के मंत्रदाता थे। भगवान् ने सत्य का पहला स्पर्श किया तब उनके हाथ लगी अहिंसा और सत्य का अंतिम स्पर्श किया तब भी उनके हाथ लगी अहिंसा। चेतना-विकास के आदि-बिन्दु से चरम-बिन्दु तक अहिंसा का ही विस्तार है। वह सत्य की अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम है।

जीव-जगत् के सम्पर्क में अहिंसा की रेखाएं मैत्री का और तत्त्व-जगत् के सम्पर्क में वे अनेकान्त का चित्र निर्मित करती हैं। भगवान् के मानस से मैत्री की सघन रश्मियां निकलती थीं। वे सिंह को प्रेममय और बकरी को अभय बना देतीं। भगवान् की सन्निधि में दोनों आस-पास बैठ जाते।

सह-अस्तित्व में एक छंद, एक लय और एक स्वर है। उसमें पूर्ण संतुलन और संगति है, कहीं भी विसंगति नहीं है।

विसंगति का निर्माण बुद्धि ने किया है। भिन्नता के विरोध का आकार बुद्धि ने दिया है। तत्त्व-युगलों का धारावाही वर्तुल है। उसमें सत्-असत्, नित्य-अनित्य, सदृश-विसदृश, वाच्य-अवाच्य जैसे अनन्त युगल हैं। इन युगलों का सह-अस्तित्व ही तत्त्व है।

भगवान् ने प्रतिपादित किया—कोई भी वस्तु केवल सत् या केवल असत् नहीं है। वह सत् और असत्—इन दोनों धर्मों का सह-अस्तित्व है। कोई भी तत्त्व केवल नित्य या केवल अनित्य नहीं है। वह नित्य और अनित्य—इन दोनों धर्मों का सह-अस्तित्व है।

गौतम भगवान् से बहुत प्रश्न पूछा करते थे। कभी-कभी वे भगवान् के जीवन के बारे में भी पूछ लेते थे। एक बार उन्होंने पूछा—

'भंते! आप अस्ति हैं या नास्ति?'

'मैं अस्ति भी हूं और नास्ति भी हूं।'

'भंते ! या कहें मैं अस्ति हूं या कहें मैं नास्ति हूं। दोनों एक साथ कैसे हो सकते हैं ?'

'यदि दोनों एक साथ न हों तो मैं अस्ति भी नहीं हो सकता और नास्ति भी नहीं हो सकता।'

'भंते ! यह कैसे ?'

'यदि मेरा अस्तित्व मेरे चैतन्य से ही नहीं है, दूसरों के चैतन्य से भी है तो मैं अस्ति नहीं हो सकता। अस्ति हो सकता है समुदाय। और जब मैं अस्ति नहीं हो सकता तब नास्ति भी नहीं हो सकता।'

'तो क्या यह निश्चित है कि आप अपने ही चैतन्य से अस्ति हैं ?'

'हां, यह निश्चित है और एकान्ततः निश्चित है कि मैं अपने चैतन्य से ही अस्ति हूं।'

'भंते ! यह भी निश्चित है कि आप दूसरों के चैतन्य से अस्ति नहीं हैं ?'

'हां, यह भी एकान्ततः निश्चित है कि मैं दूसरों के चैतन्य से अस्ति नहीं हूं। मैं दूसरों के चैतन्य से अस्ति नहीं हूं इसीलिए अपने चैतन्य से अस्ति हूं। इसीलिए मैं कहता हूं कि मैं अस्ति भी हूं और नास्ति भी हूं। अस्तित्व और नास्तित्व दोनों एक साथ रहते हैं। अस्तित्व-विहीन नास्तित्व और नास्तित्व-विहीन अस्तित्व कहीं भी प्राप्त नहीं होता।'

'भंते ! आपका अस्तित्व जैसे अस्तित्व में परिणत होता है, वैसे ही क्या नास्तित्व नास्तित्व में परिणत होता है ?'

'तुम ठीक कहते हो। मेरे अस्तित्व की धारा अस्तित्व की दिशा में और नास्तित्व की धारा नास्तित्व की दिशा में प्रवाहित होती रहती है।'

'भंते ! क्या अस्तित्व और नास्तित्व परस्पर-विरोधी नहीं हैं ?'

'नहीं हैं। दोनों सहभावी हैं। दोनों साथ में रहकर ही वस्तु को वास्तविकता प्रदान करते हैं।'[१]

वस्तु के अनन्त पर्याय हैं, अनन्त कोण हैं। वस्तु के धरातल पर अनन्त कोणों का होना ही परम सत्य है। अनन्त कोणों का होना विरोध नहीं है। उनका हमारी बुद्धि की पकड़ में न आना विरोध प्रतीत होता है। तरंगित समुद्र का दर्शन निस्तरंग समुद्र के दर्शन से भिन्न होता है। निस्तरंग होना और तरंगित होना पर्याय है। इन दोनों पर्यायों के नीचे जो अस्तित्व है, वह पहले और पीछे—दोनों क्षणों में होता है—निस्तरंग पर्याय में भी होता है और तरंगित पर्याय में भी होता है।

दूध दही हो गया। दही का पर्याय उत्पन्न हुआ। दूध का पर्याय नष्ट हो

---

१. भगवती, १।१३३-१३८।

गया। इन दोनों पर्यायों के नीचे जो अस्तित्व है, वह पहले और पीछे—दोनों क्षणों में होता है—दूध-पर्याय में भी होता है और दही-पर्याय में भी होता है।

नैयायिक मानते हैं कि आकाश नित्य है और दीपशिखा अनित्य है। बौद्ध मानते हैं कि दीपशिखा भी अनित्य है और आकाश भी अनित्य है।

दीपशिखा का नित्य होना और आकाश का अनित्य होना नैयायिक की दृष्टि में विरोध है। दीपशिखा का अनित्य और नित्य—दोनों होना बौद्ध की दृष्टि में विरोध है।

महावीर ने सत्य को इन दोनों से भिन्न दृष्टि से देखा है। उन्होंने कहा—दीपशिखा को अनित्य कहा जाता है, वह नित्य भी है और आकाश को नित्य कहा जाता है, वह अनित्य भी है। नित्य और अनित्य परस्पर-विरोधी नहीं हैं। एक ही तने की दो अनिवार्य शाखाएं हैं। दीपशिखा प्रतिक्षण क्षीण होती जाती है, इसलिए नैयायिक और बौद्ध का उसे अनित्य मानना अनुचित नहीं है। आकाश कभी भी समाप्त नहीं होता, इसलिए नैयायिक का उसे नित्य मानना भी अनुचित नहीं है। महावीर ने यह नहीं कहा कि दीपशिखा को अनित्य मानना अनुचित है। उसका अनित्य होना प्रत्यक्ष है, इसलिए उसे अनुचित कैसे कहा जा सकता है? उन्होंने कहा—दीपशिखा को अनित्य ही मानना या नित्य न मानना अनुचित है। दीपशिखा एक पर्याय है। परमाणुओं का तैजस रूप में होना दीपशिखा है। उसके समाप्त होने का अर्थ है—परमाणुओं के तैजस पर्याय की समाप्ति। तैजस पर्याय का समाप्त होना परमाणुओं का समाप्त होना नहीं है। परमाणु शाश्वत हैं। वे तैजस पर्याय के होने पर भी होते हैं और उसके न होने पर भी होते हैं।

गौतम ने पूछा—'भंते! जीव शाश्वत है या अशाश्वत?'

भगवान् ने कहा—'गौतम! जीव शाश्वत भी है और अशाश्वत भी है।'

'भंते! दोनों कैसे?'

'पर्याय की ऊर्मियों के तल में जो चेतना का स्थिर शान्त सागर है, वह शाश्वत है। उस सागर में ऊर्मियां उन्मज्जित और निमज्जित होती रहती हैं, वे अशाश्वत हैं। ऊर्मियों का अस्तित्व सागर से भिन्न नहीं है और सागर का अस्तित्व ऊर्मियों से भिन्न नहीं है। ऊर्मि-रहित सागर और सागर-रहित ऊर्मि का अस्तित्व उपलब्ध नहीं होता। इसीलिए मैं कहता हूं कि जीव शाश्वत भी है और अशाश्वत भी है। पर्यायों के तल में तिरोहित चेतना के अस्तित्व को देखें तब हम कह सकते हैं कि जीव शाश्वत है। चेतना के अस्तित्व पर उभरने वाले पर्यायों को देखें तब हम कह सकते हैं कि जीव अशाश्वत है।'

'मूल तत्त्व जितने थे, उतने ही हैं और उतने ही रहेंगे। उनमें जो है, वह कभी नष्ट नहीं होता और जो नहीं है, वह कभी उत्पन्न नहीं होता। वे अपरिवर्तित हैं, उत्पाद और विनाश के चक्र से मुक्त हैं। वे दो हैं—चेतन और अचेतन। वे दोनों

'भंते ! या कहें मैं अस्ति हूं या कहें मैं नास्ति हूं। दोनों एक साथ कैसे हो सकते हैं ?'

'यदि दोनों एक साथ न हों तो मैं अस्ति भी नहीं हो सकता और नास्ति भी नहीं हो सकता।'

'भंते ! यह कैसे ?'

'यदि मेरा अस्तित्व मेरे चैतन्य से ही नहीं है, दूसरों के चैतन्य से भी है तो मैं अस्ति नहीं हो सकता। अस्ति हो सकता है समुदाय। और जब मैं अस्ति नहीं हो सकता तब नास्ति भी नहीं हो सकता।'

'तो क्या यह निश्चित है कि आप अपने ही चैतन्य से अस्ति हैं ?'

'हां, यह निश्चित है और एकान्ततः निश्चित है कि मैं अपने चैतन्य से ही अस्ति हूं।'

'भंते ! यह भी निश्चित है कि आप दूसरों के चैतन्य से अस्ति नहीं हैं ?'

'हां, यह भी एकान्ततः निश्चित है कि मैं दूसरों के चैतन्य से अस्ति नहीं हूं। मैं दूसरों के चैतन्य से अस्ति नहीं हूं इसीलिए अपने चैतन्य से अस्ति हूं। इसीलिए मैं कहता हूं कि मैं अस्ति भी हूं और नास्ति भी हूं। अस्तित्व और नास्तित्व दोनों एक साथ रहते हैं। अस्तित्व-विहीन नास्तित्व और नास्तित्व-विहीन अस्तित्व कहीं भी प्राप्त नहीं होता।'

'भंते ! आपका अस्तित्व जैसे अस्तित्व में परिणत होता है, वैसे ही क्या नास्तित्व नास्तित्व में परिणत होता है ?'

'तुम ठीक कहते हो। मेरे अस्तित्व की धारा अस्तित्व की दिशा में और नास्तित्व की धारा नास्तित्व की दिशा में प्रवाहित होती रहती है।'

'भंते ! क्या अस्तित्व और नास्तित्व परस्पर-विरोधी नहीं हैं ?'

'नहीं हैं। दोनों सहभावी हैं। दोनों साथ में रहकर ही वस्तु को वास्तविकता प्रदान करते हैं।'[1]

वस्तु के अनन्त पर्याय हैं, अनन्त कोण हैं। वस्तु के धरातल पर अनन्त कोणों का होना ही परम सत्य है। अनन्त कोणों का होना विरोध नहीं है। उनका हमारी बुद्धि की पकड़ में न आना विरोध प्रतीत होता है। तरंगित समुद्र का दर्शन निस्तरंग समुद्र के दर्शन से भिन्न होता है। निस्तरंग होना और तरंगित होना पर्याय है। इन दोनों पर्यायों के नीचे जो अस्तित्व है, वह पहले और पीछे—दोनों क्षणों में होता है—निस्तरंग पर्याय में भी होता है और तरंगित पर्याय में भी होता है।

दूध दही हो गया। दही का पर्याय उत्पन्न हुआ। दूध का पर्याय नष्ट हो

१. भगवती, १।१३३-१३८।

गया। इन दोनों पर्यायों के नीचे जो अस्तित्व है, वह पहले और पीछे—दोनों क्षणों में होता है—दूध-पर्याय में भी होता है और दही-पर्याय में भी होता है।

नैयायिक मानते हैं कि आकाश नित्य है और दीपशिखा अनित्य है। बौद्ध मानते हैं कि दीपशिखा भी अनित्य है और आकाश भी अनित्य है।

दीपशिखा का नित्य होना और आकाश का अनित्य होना नैयायिक की दृष्टि में विरोध है। दीपशिखा का अनित्य और नित्य—दोनों होना बौद्ध की दृष्टि में विरोध है।

महावीर ने सत्य को इन दोनों से भिन्न दृष्टि से देखा है। उन्होंने कहा—दीपशिखा को अनित्य कहा जाता है, वह नित्य भी है और आकाश को नित्य कहा जाता है, वह अनित्य भी है। नित्य और अनित्य परस्पर-विरोधी नहीं हैं। एक ही तने की दो अनिवार्य शाखाएं हैं। दीपशिखा प्रतिक्षण क्षीण होती जाती है, इसलिए नैयायिक और बौद्ध का उसे अनित्य मानना अनुचित नहीं है। आकाश कभी भी समाप्त नहीं होता, इसलिए नैयायिक का उसे नित्य मानना भी अनुचित नहीं है। महावीर ने यह नहीं कहा कि दीपशिखा को अनित्य मानना अनुचित है। उसका अनित्य होना प्रत्यक्ष है, इसलिए उसे अनुचित कैसे कहा जा सकता है? उन्होंने कहा—दीपशिखा को अनित्य ही मानना या नित्य न मानना अनुचित है। दीपशिखा एक पर्याय है। परमाणुओं का तैजस रूप में होना दीपशिखा है। उसके समाप्त होने का अर्थ है—परमाणुओं के तैजस पर्याय की समाप्ति। तैजस पर्याय का समाप्त होना परमाणुओं का समाप्त होना नहीं है। परमाणु शाश्वत हैं। वे तैजस पर्याय के होने पर भी होते हैं और उनके न होने पर भी होते हैं।

गौतम ने पूछा—'भंते ! जीव शाश्वत है या अशाश्वत ?'

भगवान् ने कहा—'गौतम ! जीव शाश्वत भी है और अशाश्वत भी है।'

'भंते ! दोनों कैसे ?'

'पर्याय की ऊर्मियों के तल में जो चेतना का स्थिर शान्त सागर है, वह शाश्वत है। उस सागर में ऊर्मियां उन्मज्जित और निमज्जित होती रहती हैं, वे अशाश्वत हैं। ऊर्मियों का अस्तित्व सागर से भिन्न नहीं है और सागर का अस्तित्व ऊर्मियों से भिन्न नहीं है। ऊर्मि-रहित सागर और सागर-रहित ऊर्मि का अस्तित्व उपलब्ध नहीं होता। इसीलिए मैं कहता हूं कि जीव शाश्वत भी है और अशाश्वत भी है। पर्यायों के तल में तिरोहित चेतना के अस्तित्व को देखें तब हम कह सकते हैं कि जीव शाश्वत है। चेतना के अस्तित्व पर उफनते पर्यायों को देखें तब हम कह सकते हैं कि जीव अशाश्वत है।

'मूल तत्त्व जितने थे, उतने ही हैं और उतने ही होंगे। उनमें जो है, वह कभी नष्ट नहीं होता और जो नहीं है, वह कभी उत्पन्न नहीं होता। वे अवस्थित हैं, उत्पाद और विनाश के चक्र से मुक्त हैं। वे दो हैं—चेतन और अचेतन। ये दोनों

स्वतन्त्र अस्तित्व हैं। इनमें अत्यन्ताभाव है। यहां अरस्तू का तर्क महावीर के नय से अभिन्न हो जाता है। अरस्तू का तर्क है कि 'अ' 'अ' है और 'अ' कभी 'क' नहीं हो सकता। 'क' 'क' है और 'क' कभी 'अ' नहीं हो सकता। महावीर का नय है कि चेतन चेतन है, चेतन कभी अचेतन नहीं हो सकता। अचेतन अचेतन है, अचेतन कभी चेतन नहीं हो सकता।

हम मूल तत्त्वों को पर्यायों के माध्यम से ही जान पाते हैं। पर्यायों का जगत् बहुत बड़ा है। यह उत्पन्न होता है और विलीन होता है। पल-पल बदलता रहता है। यहां अरस्तू का तर्क महावीर के नय से भिन्न हो जाता है। पर्याय-जगत् के बारे में महावीर का नय है कि 'अ' 'अ' भी है और 'अ' 'क' भी है। 'क' 'क' भी है और 'क' 'अ' भी है। 'अ' 'क' हो सकता है और 'क' 'अ' हो सकता है।

भ्रमर काला है, पर वह काला ही नहीं है। वह पीला भी है, नीला भी है, लाल भी है और सफेद भी है।

चीनी मीठी है, पर वह मीठी ही नहीं है। वह कड़वी भी है, खट्टी भी है, कषैली भी है और तीखी भी है।

गुलाब का फूल सुगंधित है पर वह सुगन्धित ही नहीं है। वह दुर्गन्धित भी है।

अग्नि उष्ण है, पर वह उष्ण ही नहीं है, वह शीत भी है।
हिम शीत है, पर वह शीत ही नहीं है, वह उष्ण भी है।
तेल चिकना है, पर वह चिकना ही नहीं है, वह रूखा भी है।
राख रूखी है, पर वह रूखी ही नहीं है, वह चिकनी भी है।
मक्खन मृदु है, पर वह मृदु ही नहीं है, वह कठोर भी है।
लोह कठोर है, पर वह कठोर ही नहीं है, वह मृदु भी है।
रुई हल्की है, पर वह हल्की ही नहीं है, वह भारी भी है।
पत्थर भारी है, पर वह भारी ही नहीं है, वह हल्का भी है।

व्यक्त पर्यायों को देखकर हम कहते हैं कि भ्रमर काला है, चीनी मीठी है, गुलाब का फूल सुगन्धित है, अग्नि उष्ण है, हिम शीत है, तेल चिकना है, राख रूखी है, मक्खन मृदु है, लोह कठोर है, रुई हल्की है और पत्थर भारी है। यदि व्यक्त पर्याय अव्यक्त और अव्यक्त पर्याय व्यक्त हो जाए या किया जाए तो भ्रमर सफेद, चीनी कड़वी, गुलाब का फूल दुर्गन्धित, अग्नि शीत, हिम उष्ण, तेल रूखा, राख चिकनी, मक्खन कठोर, लोह मृदु, रुई भारी और पत्थर हल्का हो सकता है।

काला या सफेद होना, मीठा या कड़वा होना, सुगंध या दुर्गन्ध होना, उष्ण या शीत होना, चिकना या रूखा होना, मृदु या कठोर होना, हल्का या भारी होना

पर्याय हैं। इसलिए वे अनित्य हैं, परिवर्तनशील हैं। इनके तल में परमाणु हैं। वे नित्य हैं, शाश्वत हैं। ये सब पर्याय उन्हीं में घटित होते हैं। इनके होने पर भी परमाणु का परमाणुत्व विघटित नहीं होता।

ये विरोधी प्रतीत होने वाले पर्याय एक ही आधार में घटित होते हैं, इसलिए वस्तु जगत् में सबका सह-अस्तित्व होता है, विरोध नहीं होता। विश्व व्यवस्था के नियमों में कहीं भी विरोध नहीं है। उसकी प्रतीति हमारी बुद्धि में होती है। इस समस्या को भगवान् ने सापेक्ष-दृष्टिकोण और वचन-भंगी द्वारा सुलझाया।

वस्तु में अनन्त युगल-धर्म हैं। उनका समग्र दर्शन अनन्त दृष्टिकोणों से ही हो सकता है। उनका प्रतिपादन भी अनन्त वचन-भंगियों से हो सकता है। वस्तु के समग्र धर्मों को जाना जा सकता है पर कहा नहीं जा सकता। एक क्षण में एक शब्द द्वारा एक ही धर्म कहा जा सकता है। एक धर्म का प्रतिपादन समग्र का प्रतिपादन नहीं हो सकता और समग्र को एक साथ कह सकें, वैसा कोई शब्द नहीं है। इस समस्या को निरस्त करने के लिए भगवान् ने सापेक्ष-दृष्टिकोण के प्रतीक शब्द 'स्यात्' का चुनाव किया।

'जीवन है'—इस वचनभंगी में जीवन के अस्तित्व का प्रतिपादन है। जीवन केवल अस्तित्व ही नहीं है, वह और भी बहुत है। 'जीवन नहीं है'—इसमें जीवन के नास्तित्व का प्रतिपादन है। जीवन केवल नास्तित्व ही नहीं है, वह और भी बहुत है। इसलिए 'जीवन है' और 'जीवन नहीं है'—यह कहना सत्य नहीं है। सत्य यह है कि 'स्यात् जीवन है', 'स्यात् जीवन नहीं है।'

अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता, इस कोण से वह है। नास्तित्व को स्वीकार किए बिना उसका अस्तित्व सिद्ध नहीं होता, इस कोण से वह नहीं है। उसके होने और नहीं होने के क्षण दो नहीं हैं। वह जिस क्षण में है, उसी क्षण में नहीं है और जिस क्षण में नहीं है, उसी क्षण में है। ये दोनों बातें एक साथ कही नहीं जा सकती। इस कोण से जीवन अवक्तव्य है।

वेदान्त का मानना है कि ब्रह्म अनिर्वचनीय है। भगवान् बुद्ध की दृष्टि में कुछ तत्त्व अव्याकृत हैं। भगवान् महावीर की दृष्टि में अणु और आत्मा, सूक्ष्म और स्थूल—सभी वस्तुएं अवक्तव्य हैं। किन्तु अवक्तव्य ही नहीं हैं, वे अखण्डरूप में अवक्तव्य हैं। खण्ड के कोण से वक्तव्य हैं। हम कहते हैं आम मीठा है। इसमें आम के मिठास गुण का निर्वचन है। केवल मिठास ही आम नहीं है। उसमें मिठास जैसे अनन्त गुण और पर्याय हैं। कुछ गुण बहुत स्पष्ट हैं। वह पीला है, सुगन्धित है, मृदु है। 'आम मीठा है'—इसमें आम के रस का निर्वचन है किन्तु वर्ण, गन्ध और स्पर्श का निर्वचन नहीं है। हम अखण्ड को खण्ड के कोण से जानते हैं और कहते हैं। उसमें एक गुण मुख्य और शेष सब तिरोहित हो जाते हैं। इस आविर्भाव और तिरोभाव के क्रम में वस्तु के अनन्त खण्ड हो जाते हैं और उनके तल में वह

अखण्ड रहती है। अखण्ड का बोध और वचन सत्य होता ही है। खण्ड का बोध और वचन भी सत्य होता है, यदि उसके साथ 'स्यात्' (अपेक्षा) शब्द का भाव जुड़ा हुआ हो।

एक स्त्री बिलौना कर रही है। एक हाथ आगे आता है, दूसरा पीछे चला जाता है। फिर पीछे वाला आगे आता है और आगे वाला पीछे चला जाता है। इस आगे-पीछे के क्रम में नवनीत निकल जाता है। सत्य के नवनीत को पाने का भी यही क्रम है। वस्तु का वर्तमान पर्याय तल पर आता है और शेष पर्याय अतल में चले जाते हैं। फिर दूसरा पर्याय सामने आता है और पहला पर्याय विलीन हो जाता है। इस प्रकार वस्तु का समुद्र पर्याय की ऊर्मियों में स्पंदित होता रहता है। अनेकान्त का आशय है, वस्तु की अखण्ड सत्ता का आकलन—ऊर्मियों और उनके नीचे स्थित समुद्र का बोध। स्याद्वाद का आशय है—एक खण्ड के माध्यम से अखण्ड वस्तु का निर्वचन।

सापेक्षता के सिद्धान्त की स्थापना कर भगवान् ने बौद्धिक अहिंसा का नया आयाम प्रस्तुत किया। उस समय अनेक दार्शनिक तत्त्व के निर्वाचन में बौद्धिक व्यायाम कर रहे थे। अपने सिद्धान्त की स्थापना और दूसरों के सिद्धान्त की उत्थापना का प्रबल उपक्रम चल रहा था। उस वातावरण में महावीर ने दार्शनिकों से कहा—'तुम्हारा सिद्धान्त मिथ्या नहीं है। पर तुम अपेक्षा के धागे को तोड़कर उसका प्रतिपादन कर रहे हो, खण्ड को अखण्ड बता रहे हो, इस कोण से तुम्हारा सिद्धान्त मिथ्या है। अपेक्षा के धागे को जोड़कर उसका प्रतिपादन करो, मिथ्या सत्य हो जाएगा और खंण्ड अखण्ड का प्रतीक।' इस भावधारा में निमज्जन कर एक जैन मनीषी ने महावीर के दर्शन को मिथ्यादृष्टियों के समूह की संज्ञा दी। जितनी एकांगी दृष्टियां हैं, वे सब निरपेक्ष होने के कारण मिथ्या हैं। वे सब मिल जाती हैं, सापेक्षता के सूत्र में श्रृंखलित होकर एक हो जाती हैं तब महावीर का दर्शन बन जाता है।

सिद्धसेन दिवाकर ने यही बात काव्य की भाषा में कही है—'भगवन् ! सिन्धु में जैसे सरिताएं मिलती हैं, वैसे ही आपकी अनेकान्त दृष्टि में सारी दृष्टियां आकर मिल जाती हैं। उन दृष्टियों में आप नहीं मिलते, जैसे सरिताओं में सिन्धु नहीं होता।'

सत्य के विषय में चल रहा विवाद एकांगी दृष्टि का विवाद है। पांच अन्धे यात्रा पर जा रहे थे। एक गांव में पहुंचे। हाथी का नाम सुना। उसे देखने गए। उनका देखना आंखों का देखना नहीं था। उन्होंने छूकर हाथी को देखा। पांचों ने हाथी को देख लिया और चित्र कल्पना में उतार लिया। अब परस्पर चर्चा करने लगे। पहले ने कहा—'हाथी खंभे जैसा है।' दूसरा बोला—'तुम गलत कहते हो, हाथी खंभे जैसा नहीं है, वह केले के तने जैसा है।' तीसरा दोनों को झुठलाते हुए

बोला—'हाथी मूसल जैसा है।' चौथा बोला—'तुम भी सही नहीं हो, हाथी सूप जैसा है।' पांचवां बोला—'तुम सब झूठे हो, हाथी मोटी रस्सी जैसा है।' उन सबने अपने-अपने अनुभव के चित्र कल्पना के ढांचे में मढ़ लिए। अब एक रेखा भर भी इधर-उधर सरकने को अवकाश नहीं रहा। वे अपने-अपने चित्र को परम सत्य और दूसरों के चित्र को मिथ्या बतलाने लगे। विवाद का कहीं अन्त नहीं हुआ।

एक आदमी आया। उसके आंखें थीं। उसने पूरा हाथी देखा था। वह कुछ क्षण अंधों के विवाद को सुनता रहा। फिर बोला—'भाई! तुम लड़ते क्यों हो?' उन्होंने अपनी सारी कहानी सुनाई और उससे अपने-अपने पक्ष का समर्थन चाहा। आगंतुक आदमी बोला—'तुम सब झूठे हो।' पांचों चिल्लाए—'यह कैसे हो सकता है? हमने हाथी को छूकर देखा है।' आगंतुक बोला—'तुमने हाथी को नहीं छुआ, उसके एक-एक अंग को छुआ। चलो, तुम्हारा विवाद हाथी के पास चलकर समाप्त करता हूं।' वह उन पांचों को हाथी के पास ले आया। एक-एक अंग को छुआकर बोला—

'तुम सच हो कि हाथी खंभे जैसा है, पर तुमने हाथी का पैर पकड़ा, पूरा हाथी नहीं पकड़ा।

'तुम भी सच हो कि हाथी केले के तने जैसा है, पर तुमने हाथी की सूंड़ पकड़ी, पूरा हाथी नहीं पकड़ा।

'तुम भी सच हो कि हाथी मूसल जैसा है, पर तुमने हाथी का दांत पकड़ा, पूरा हाथी नहीं पकड़ा।

'तुम भी सच हो कि हाथी सूप जैसा है, पर तुमने हाथी का कान पकड़ा, पूरा हाथी नहीं पकड़ा।

'तुम भी सच हो कि हाथी मोटी रस्सी जैसा है, पर तुमने हाथी की पूंछ पकड़ी, पूरा हाथी नहीं पकड़ा।'

'तुम अपनी-अपनी पकड़ को सत्य और दूसरों की पकड़ को मिथ्या बतलाते हो, इसलिए तुम सब झूठे हो। तुम अवयव को अवयवी में मिला दो, खण्ड को अखण्ड की धारा में बहा दो, फिर तुम सब सत्य हो।'

विश्व का प्रत्येक मूल तत्त्व अखण्ड है। परमाणु भी अखण्ड है और आत्मा भी अखण्ड है। किन्तु कोई भी अखण्ड तत्त्व खण्ड से वियुक्त नहीं है। महावीर ने सापेक्षता के सूत्र से अखण्ड और खण्ड की एकता को साधा। उन्होंने रहस्य का अनावरण इन शब्दों में किया—'जो एक को जान लेता है, वह सबको जान लेता है। सबको जानने वाला ही एक को जान सकता है।'[1]

आग्रही मनुष्य अपनी मान्यता के अंचल में युक्ति खोजता है और अनाग्रही

---

१. आयारो, ३।७४।

मनुष्य युक्ति के अंचल में मनन का प्रयोग करता है।

आग्रही मनुष्य आंख पर आग्रह का उपनेत्र चढ़ाकर सत्य को देखता है और अनाग्रही मनुष्य अनन्त चक्षु होकर सत्य को देखता है।

भगवान् महावीर का युग तत्त्व-जिज्ञासा का युग था। असंख्य जिज्ञासु व्यक्ति अपनी जिज्ञासा का शमन करने के लिए बड़े-बड़े आचार्यों के पास जाते थे। अपने-अपने आचार्यों के पास जाते ही थे पर यदा-कदा दूसरे आचार्यों के पास भी जाते थे। इन जिज्ञासुओं में स्त्रियां भी होती थीं। भगवान् महावीर ने अपने जीवन-काल में हज़ारों-हज़ारों जिज्ञासाओं का समाधान किया। उनके सामने सबसे बड़े जिज्ञासाकार थे, उनके ज्येष्ठ शिष्य इन्द्रभूति गौतम। महावीर की वाणी का बहुत बड़ा भाग उनकी जिज्ञासाओं का समाधान है।

१. एक बार गौतम ने पूछा—'भंते ! कुछ साधक कहते हैं कि साधना अरण्य में ही हो सकती है। इस विषय में आपका क्या मत है ?'

'गौतम ! मैं यह प्रतिपादन करता हूं कि साधना गांव में भी हो सकती है और अरण्य में भी हो सकती है, गांव में भी नहीं होती और अरण्य में भी नहीं होती।'

'भंते ! यह कैसे ?'

'गौतम ! जो आत्मा और शरीर के भेद को जानता है, वह गांव में भी साधना कर सकता है और अरण्य में भी कर सकता है। जो आत्मा और शरीर के भेद को नहीं जानता वह गांव में भी साधना नहीं कर सकता और अरण्य में भी नहीं कर सकता।'

जो साधक आत्मा को नहीं देखता, उसकी दृष्टि में ग्राम और अरण्य का प्रश्न मुख्य होता है। जो आत्मा को देखता है, उसका निवास आत्मा में ही होता है। इसलिए उसके सामने ग्राम और अरण्य का प्रश्न उपस्थित नहीं होता। यह तर्क उचित है कि यदि तुम आत्मा को देखते हो तो अरण्य में जाकर क्या करोगे ? यदि तुम आत्मा को नहीं देखते हो तो अरण्य में जाकर क्या करोगे ?[1]

२. सोमिल जाति से ब्राह्मण था, वैदिक धर्म का अनुयायी और वेदों का पारगामी विद्वान्। वह वाणिज्यग्राम में रहता था। भगवान् वाणिज्यग्राम में आए। द्विपलाश चैत्य में ठहरे। सोमिल भगवान् के पास आया। उसने अभिवादन कर पूछा—'भंते ! आप एक हैं या दो ?'

'मैं एक भी हूं और दो भी हूं।'

'भंते ! यह कैसे हो सकता है ?'

'मैं चेतन द्रव्य की अपेक्षा से एक हूं तथा ज्ञान और दर्शन की अपेक्षा से दो हूं।'

---

१. आयारो ८।१४।

'भंते ! आप शाश्वत हैं या गतिशील ?'

'कालातीत चेतना की अपेक्षा मैं शाश्वत हूं और त्रिकाल-चेतना की अपेक्षा मैं गतिशील हूं—जो भूत में था, वह वर्तमान में नही हूं और जो वर्तमान में हूं, वह भविष्य में नहीं होऊंगा।'[1]

३. भगवान् कौशाम्बी के चन्द्रावतरण चैत्य में विहार कर रहे थे।[2] महाराज शतानीक की बहन जयन्ती वहां आई। उसने वंदना कर पूछा—

'भंते ! सोना अच्छा है या जागना अच्छा है ?'

'कुछ जीवों का सोना अच्छा है और कुछ जीवों का जागना अच्छा है।'

'भंते ! ये दोनों कैसे ?'

'अधार्मिक मनुष्य का सोना अच्छा है। वह जागकर दूसरों को सुला देता है, इसलिए उसका सोना अच्छा है।

'धार्मिक मनुष्य का जागना अच्छा है। वह जागकर दूसरों को जगा देता है, इसलिए उसका जागना अच्छा है।'

'भंते ! जीवों का दुर्बल होना अच्छा है या सबल होना ?'

'कुछ जीवों का दुर्बल होना अच्छा है और कुछ जीवों का सबल होना अच्छा है।'

'भंते ! ये दोनों कैसे ?'

'अधार्मिक मनुष्य का दुर्बल होना अच्छा है। वह अधर्म से आजीविका कर दूसरों के दुःख का हेतु होता है, इसलिए उसका दुर्बल होना अच्छा है।

'धार्मिक मनुष्य का सबल होना अच्छा है। वह धर्म से आजीविका कर दूसरों के दुःख का हेतु नहीं होता, इसलिए उसका सबल होना अच्छा है।'

'भंते ! जीवों का आलसी होना अच्छा है या क्रियाशील ?'

'कुछ जीवों का आलसी होना अच्छा है और कुछ जीवों का क्रियाशील होना अच्छा है।'

'भंते ! ये दोनों कैसे ?'

'असंयमी का आलसी होना अच्छा है, जिससे वह दूसरों का अहित न कर सके।

'संयमी का क्रियाशील होना अच्छा है, जिससे वह दूसरों का हित साध सके।'[3]

४. स्कंदक परिव्राजक श्रावस्ती में रहता था। भगवान् कयंजला में पधारे।[4] वह भगवान् के पास आया। भगवान् ने कहा—'स्कंदक ! तुम्हारे मन

---

१. भगवई, १८।२१६, २२०।

२. तीर्थंकर काल का तीसरा वर्ष।

३. भगवई, १२।५३-५८।

४. तीर्थंकर काल का ग्यारहवां वर्ष।

में जिज्ञासा है कि लोक सान्त है या अनन्त ?'

'भंते ! है। मैं इसका व्याकरण चाहता हूं।'

'मैं इसका सापेक्ष दृष्टि से व्याकरण करता हूं। उसके अनुसार लोक सान्त भी है और अनन्त भी है।'

'भंते ! यह कैसे ?'

'लोक एक है, इसलिए संख्या की दृष्टि से वह सान्त है। लोक असंख्य आकाश में फैला हुआ है, इसलिए क्षेत्र की दृष्टि से वह सान्त है। लोक था, है और होगा, इसलिए काल की दृष्टि से वह अनन्त है। लोक अनन्त वर्ण, गंध, रस और स्पर्श के पर्यायों से युक्त है, इसलिए पर्याय की दृष्टि से वह अनन्त है।'[1]

अविरोध में विरोध देखने वाला एक चक्षु होता है और विरोध में अविरोध देखने वाला अनन्त चक्षु। भगवान् महावीर ने अनन्त चक्षु होकर सत्य को देखा और उसे रूपायित किया।

---

१. भगवई, २।४५।

३०

सतत जागरण

अनुरक्ति की आंख से गुण दिखता है। विरक्ति की आंख से दोष दिखता है। मध्यस्थता की आंख से गुण और दोष—दोनों दिखते हैं भगवान् महावीर की साधना अनुराग और विराग के अंचलों से अतीत थी। वे जागृति के उस बिन्दु पर पहुंच गए थे कि जहां पहुंचने पर कोई व्यक्ति प्रिय या अप्रिय नहीं रहता। वहां वांछनीय होता है व्यक्ति का जागृत होना और अवांछनीय होता है व्यक्ति का मूर्च्छित होना। भगवान् का संयम है जागरण। भगवान् की साधना है जागरण। भगवान् का ध्यान है जागरण।

भगवान् ईश्वर नहीं थे। वे वैसे ही शरीरधारी मनुष्य थे जैसे उस युग के दूसरे मनुष्य थे। वे किसी के भाग्य-निर्माता नहीं थे। न उनमें सृष्टि के सर्जन और प्रलय की शक्ति थी। वे करने, नहीं करने और अन्यथा करने में समर्थ ईश्वर नहीं थे। वे किसी ईश्वरीय सत्ता के प्रति नत-मस्तक नहीं थे, जो मनुष्य के भाग्य की डोर अपने हाथ में थामे हुए हो। उनका ईश्वर मनुष्य से भिन्न नहीं था। उनका ईश्वर आत्मा से भिन्न नहीं था। हर आत्मा उनका परमात्मा है। हर आत्मा उनका ईश्वर है।

आत्मा की विस्मृति होना प्रमाद है, निद्रा है। आत्मा की स्मृति होना अप्रमाद है, जागरण है। आत्मा की सतत स्मृति होना परमात्मा होना है, ईश्वर होना है।

भगवान् महावीर ने आत्मा को परमात्मा होने की दिशा दी, ईश्वर होने के रहस्य का उद्घाटन किया। यह उनकी बहुत बड़ी देन है। भगवान् स्वयं सतत जागरूक रहे, दूसरों की जागृति का समर्थन और मूर्च्छा का विखंडन करते रहे। उनकी यह प्रक्रिया सब पर समान रूप से चलती रही।

गौतम भगवान् के प्रथम शिष्य थे। भगवान् की अनेकान्त-दृष्टि के महान् प्रवक्ता और महान् भाष्यकार। एक दिन उन्हें पता चला कि उपासक आनन्द

समाधि-मरण की आराधना कर रहा है। वे आनन्द के उपासना-गृह में गए। आनन्द ने उनका अभिवादन किया। धर्मचर्चा के प्रसंग में आनन्द ने कहा—'भंते! भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित अप्रमाद की साधना से मुझे विशाल अवधिज्ञान (प्रत्यक्ष ज्ञान) प्राप्त हुआ है।'

गौतम बोले—'आनन्द! गृहस्थ को प्रत्यक्ष ज्ञान हो सकता है पर इतना विशाल नहीं हो सकता। तुम कहते हो कि इतना विशाल प्रत्यक्ष ज्ञान हुआ है, इसके लिए तुम प्रायश्चित्त करो।'

'भंते! क्या भगवान् ने सत्य बात कहने वाले के लिए प्रायश्चित्त का विधान किया है?'

'नहीं, सर्वथा नहीं।'

'भंते! यदि भगवान् ने सत्य बात कहने वाले के लिए प्रायश्चित्त का विधान नहीं किया है तो आप ही प्रायश्चित्त करें।'

आनन्द की यह बात सुन गौतम के मन में सन्देह उत्पन्न हो गया। वे वहां से प्रस्थान कर भगवान् महावीर के पास गए। सारी घटना भगवान् के सामने रखकर पूछा—'भंते! प्रायश्चित्त आनन्द को करना होगा या मुझे?'

भगवान् ने कहा—'आनन्द ने जो कहा है, वह जागरण के क्षण में कहा है। वह सही है। उसे प्रायश्चित्त करने की कोई आवश्यकता नहीं है। प्रमाद तुमने किया है। तुमने जो कहा, वह सही नहीं है, इसलिए तुम ही प्रायश्चित्त करो। आनन्द के पास जाओ, उसकी सत्यता को समर्थन दो और क्षमायाचना करो।'

गौतम तत्काल आनन्द के उपासना-गृह में पहुंचे। भगवान् के प्रधान शिष्य का आनन्द के पास जाना, उसके ज्ञान का समर्थन करना, अपने प्रमाद का प्रायश्चित्त करना और क्षमा मांगना—व्यक्ति-निर्माण की दिशा में कितना अद्भुत प्रयोग है।"[1]

भगवान् जानते थे कि असत्य के समर्थन से गौतम की प्रतिष्ठा सुरक्षित नहीं रह सकती। सत्यवादी आनन्द को झुठलाकर यदि गौतम की प्रतिष्ठा को बचाने का यत्न किया जाता तो गौतम का अहं अमर हो जाता, उनकी आत्मा मर जाती। आत्मा का हनन भगवान् को क्षण भर के लिए भी इष्ट नहीं था। फिर वे क्या करते—गौतम की आत्मा को बचाते या उनके अहं को?

महावीर के धर्म का पहला पाठ है—जागरण और अंतिम पाठ है—जागरण। बीच का कोई भी पाठ जागरण की भाषा से शून्य नहीं है। जहां मूर्च्छा आई वहां महावीर का धर्म विदा हो गया। मूर्च्छा और उनका धर्म—दोनों एक साथ नहीं चल सकते।

---

१. उवासगदसाओ, १।७६-८२।

महाशतक उपासना-गृह में धर्म की अराधना कर रहा था। उसकी पत्नी रेवती बहुत निर्मम और निर्दय थी। उसने महाशतक को विचलित करने का प्रयत्न किया। उसकी ध्यान-धारा विच्छिन्न नहीं हुई। उसका साधना-क्रम अविचल रहा। कुछ दिन बाद रेवती ने फिर वैसा प्रयत्न किया। इस बार महाशतक क्रुद्ध हो गया। उसने रेवती की भर्त्सना की। क्रोध के आवेश में कहा—'रेवती ! तुम इसी सप्ताह विशूचिका से पीड़ित होकर मर जाओगी। मृत्यु के पश्चात् तुम नरक में जन्म लोगी।'

रेवती भयभीत हो गई। वह रोग, मृत्यु और नरक का नाम सुन घबरा गई। शब्द-संसार में ये तीनों शब्द सर्वाधिक अप्रिय हैं। महाशतक ने एक साथ इन तीनों का प्रयोग कर दिया। वह सप्ताह पूरा होते-होते मर गई।

भगवान् महावीर राजगृह आए।[1] भगवान् ने गौतम से कहा—'उपासक महाशतक ने अपनी पत्नी के लिए अप्रिय शब्दों का प्रयोग किया है। तुम जाओ और उससे कहो—समत्व की साधना में तन्मय उपासक के लिए अप्रिय शब्दों का प्रयोग करना उचित नहीं है। इसलिए तुम उसका प्रायश्चित्त करो।'

गौतम महाशतक के पास गए। भगवान् का संदेश उसे बताया। उसे अपने प्रमाद का अनुभव हुआ। उसने प्रायश्चित्त किया। अप्रमाद की ज्योति फिर प्रज्वलित हो गई।[2]

आत्मा की विस्मृति के क्षण दुर्घटना के क्षण होते हैं। मानवीय जीवन में जितनी दुर्घटनाएं घटित होती हैं, वे सब इन्हीं क्षणों में होती हैं।

एक बार सम्राट् श्रेणिक का अन्तःपुर अविश्वास की आग से धधक उठा। सम्राट् को महारानी चेलना के चरित्र पर सन्देह हो गया। उसने क्रोध में अभिभूत होकर अभयकुमार को अन्तःपुर जलाने का आदेश दे दिया। सम्राट् निर्मम आदेश देकर भगवान् महावीर के समवसरण में चला गया।

भगवान् ने उसके प्रमाद को देखा। भगवान् ने परिषद् के बीच कहा—'संदेह बहुत बड़ा आवर्त्त है। उसमें फंसने वाली कोई भी नौका सुरक्षित नहीं रह पाती। आज श्रेणिक की नौका सन्देह के आवर्त्त में फंस गई है। उसे चेलना के सतीत्व पर संदेह हो गया है। मैं देखता हूं कि कितना निर्मल, कितना अवदात और कितना उज्ज्वल चरित्र है चेलना का ! फिर भी सन्देह का राहु उसे ग्रसने का प्रयास कर रहा है।'

सम्राट् का निद्रा-भंग हो गया। आंखें खुल गई। उसे अपने प्रमाद पर अनुताप हुआ। वह तत्काल राज-प्रासाद पहुंचा। अन्तःपुर का वैश्वानर अप्रमाद के जल से

---

१. तीर्थंकर काल का दसवां वर्ष।

२. उवासगदसाओ, ८।४१-५०।

शान्त हो गया। सम्राट् धन्य हो गया।

आत्मा की स्मृति के क्षण जीवन की सार्थकता के क्षण होते हैं। मानवीय जीवन में जितनी सार्थकताएं निष्पन्न होती हैं, वे सब इन्हीं क्षणों में होती हैं।

भगवान् ने ध्यान के क्षणों में अनुभव किया कि आत्मा सूर्य की भांति प्रकाशमय है, चैतन्यमय है। उसमें न जीवन है और न मृत्यु। न जीवन की आकांक्षा है और न मृत्यु का भय। देह और प्राण का योग मिलता है, आत्मा देही के रूप में प्रकट हो जाती है, जीवित हो जाती है। देह और प्राण का सम्बन्ध टूटता है, आत्मा देह से छूट जाती है, मर जाती है।

आत्मा देह के होने पर भी रहती है और उसके छूट जाने पर भी रहती है। फिर जीवन की आकांक्षा और मृत्यु का भय क्यों होता है? भगवान् ने इस रहस्य को देखा और बताया कि आत्मा में आकांक्षा नहीं है। उसकी विस्मृति ही आकांक्षा है। आत्मा में भय नहीं है। उसकी विस्मृति ही भय है। भगवान् की वह ध्वनि आज भी प्रतिध्वनित हो रही है—'सव्वओ पमत्तस्स भयं'—'प्रमत्त को सब ओर से भय है।' 'सव्वओ अपमत्तस्स णत्थि भयं'—'अप्रमत्त को कहीं से भी भय नहीं है।'[1]

एक बार भगवान् ने 'आर्यो! आओ, कहकर गौतम और श्रमणों को आमंत्रित किया। सभी श्रमण भगवान् के पास आए। भगवान् ने उनसे पूछा—'आयुष्यमान् श्रमणो! जीव किससे डरते हैं?' गौतम बोले—'भगवन्! हम नहीं समझ पाए इस प्रश्न का आशय। भगवान् को कष्ट न हो तो आप ही इसका आशय हमें समझाएं। हम सब जानने को उत्सुक हैं।'

'आर्यो! जीव दुःख से डरते हैं।'

'भंते! दुःख का कर्ता कौन है?'

'जीव।'

'भंते! दुःख का हेतु क्या है?'

'प्रमाद।

'भंते! दुःख का अन्त कौन करता है?'

'जीव।'

'भंते! दुःख के अन्त का हेतु क्या है?'

'अप्रमाद।'[2]

इस प्रसंग में भगवान् ने एक गम्भीर सत्य का उद्घाटन किया। भगवान् कह रहे हैं कि भय और दुःख शाश्वत नहीं हैं। वे मनुष्य द्वारा कृत हैं। प्रमाद का क्षण ही भय की अनुभूति का क्षण है और प्रमाद का क्षण ही दुःख की अनुभूति का क्षण

---

१. आयारो, ३।७५।

२. ठाणं. ३।३३६।

है। अप्रमत्त मनुष्य को न भय की अनुभूति होती है और न दु.ख की।

कामदेव अपने उपासना-गृह में शील और ध्यान की आराधना कर रहा था। पूर्वरात्रि का समय था। उसके सामने अकस्मात् पिशाच की डरावनी आकृति उपस्थित हो गई। वह कर्कश ध्वनि में बोली—'कामदेव ! इस शील और ध्यान के पाखण्ड को छोड़ दो। यदि नहीं छोड़ोगे तो तलवार से तुम्हारे सिर के टुकड़े-टुकड़े कर डालूंगा।' कामदेव अप्रमाद के क्षण का अनुभव कर रहा था। उसके मन में न भय आया, न कम्पन और न दुःख।

पिशाच को अपने प्रयत्न की व्यर्थता का अनुभव हुआ। वह खिसिया गया। उसने विशाल हाथी का रूप बना कामदेव को फिर विचलित करने की चेष्टा की। उसे गेंद की भांति आकाश में उछाला। नीचे गिरने पर पैरों से रौंदा। पर उसका ध्यान भंग नहीं कर सका।

पिशाच अब पूरा सठिया गया। उसने भयंकर सर्प का रूप धारण किया। कामदेव के शरीर को डंक मार-मारकर बींध डाला। पर उसे भयभीत नहीं कर सका। आखिर वह अपने मौलिक देवरूप में उपस्थित हो वहां से चला गया। प्रमाद अप्रमाद से पराजित हो गया।[१]

भगवान् महावीर चंपा में आए।[२] कामदेव भगवान् के पास आया। भगवान् ने कहा—'कामदेव ! विगत रात्रि में तुमने धर्म-जागरिका की ?'

'भंते ! की।'

'तुम्हें विचलित करने का प्रयत्न हुआ ?'

'भंते ! हुआ।'

'बहुत अच्छा हुआ, तुम कसौटी पर खरे उतरे।'

'भंते ! यह आपकी धर्म-जागरिका का ही प्रभाव है।'

भगवान् ने श्रमण-श्रमणियों को आमंत्रित कर कहा—'आर्यो ! कामदेव गृहवासी है, फिर भी इसने अपूर्व जागरूकता का परिचय दिया है, दैविक उपसर्गों को अपूर्व समता से सहा है। इसका जीवन धन्य हो गया है। तुम मुनि हो। इसलिए तुम्हारी धर्म-जागरिका, समता, सहिष्णुता और ध्यान की अप्रकम्पता इससे अनुत्तर होनी चाहिए।'[३]

अप्रमाद शाश्वत-प्रकाशी दीप है। उससे हजार-हजारों दीप जल उठते हैं। हर व्यक्ति अपने भीतर में दीप है। उस पर प्रमाद का ढक्कन पड़ा है। जिसने उसे हटाने का उपाय जान लिया, वह जगमगा उठा। वह आलोक से भर गया। आलोक

---

१. उवासगदसाओ, २।१८-४०।

२. तीर्थंकर काल का अठारहवां वर्ष।

३. उवासगदसाओ २।४५,४६।

बाहर से नहीं आता। वह भीतर में है। बाहर से कुछ भी नहीं लेना है। हम भीतर से पूर्ण हैं। हमारी अपूर्णता बाहर में ही प्रकट हो रही है। प्रमाद का ढक्कन हट जाए, फिर भीतर और बाहर—दोनों आलोकित हो उठते हैं।

गौतम पृष्ठचंपा से विहार कर भगवान् के पास आ रहे थे। पृष्ठचंपा के राजर्षि शाल और गागलि उनके साथ थे। भगवान् के समवसरण में बैठने की व्यवस्था होती है। सब श्रोता अपनी-अपनी परिषद् में बैठते हैं। शाल और गागलि केवली-परिषद् की ओर जाने लगे। गौतम ने उन्हें उधर जाने से रोका। भगवान् ने कहा—'गौतम ! इन्हें मत रोको। ये केवली हो चुके हैं।'[1]

गौतम आश्चर्यचकित रह गए—'मेरे नव-दीक्षित शिष्य केवली और मैं अकेवली। यह क्या ?' गौतम उदास हो गए। प्रमोद की तमिस्रा सघन हो गई।

कुछ दिनों बाद गौतम अष्टापद की यात्रा पर गए। कोडिन्न, दिन्न और शैवाल—तीनों तापस अपने शिष्यों के साथ उस पर चढ़ रहे थे। वे गौतम से प्रभावित होकर उनके शिष्य हो गए। गौतम उन्हें साथ लेकर भगवान् के पास आए। वे केवली-परिषद् में जाने लगे। गौतम ने उन्हें उधर जाने से रोका। भगवान् ने कहा—'गौतम ! इन्हें मत रोको। ये केवली हो चुके हैं।'[2]

गौतम का धैर्य विचलित हो गया। वे इस घटना का रहस्य समझ नहीं सके। बोधिदाता अकेवली और बोधि प्राप्त करने वाले केवली। चिरदीक्षित अकेवली और नवदीक्षित केवली। यह कैसी व्यवस्था ? यह कैसा क्रम ? गौतम का मानस-सिन्धु विकल्प की ऊर्मियों से आलोड़ित हो गया। उनका विकल्प बोल उठा—'मैं किसे दोष दूं ? मेरे भगवान् ने ईश्वर को नियंता माना नहीं, फिर मैं उस पर पक्षपात का आरोप कैसे लगाऊं ? मेरे भगवान् भी मेरे आंतरिक परिवर्तन के नियंता नहीं हैं। इस प्रकार वे भी पक्षपात के आरोप से बच जाते हैं। अपने भाग्य का नियंता स्वयं मैं हूं। अपने प्रतिपक्ष या प्रति पक्ष का प्रश्न ही नहीं उठता। मेरे भगवान् ने व्यक्ति को असीम स्वतंत्रता क्या दी है, एक अबूझ पहेली उसके सामने रख दी है। उसे सुलझाने में वह इतना उलझ जाता है कि न किसी दूसरे पर पक्षपात का आरोप लगा पाता है और न किसी से कोई याचना कर पाता है। यह मेरा अयाचक व्यक्तित्व आज मेरे लिए समस्या बन रहा है।'

'मेरे देव ! हम सब एक ही साधना-पथ पर चल रहे हैं। फिर मेरे शिष्यों का मार्ग इतना छोटा और मेरा मार्ग न जाने कितना लम्बा है ?'

महावीर ने गौतम के मर्माहत अन्तस्तल को देखा और देखा कि उसकी मनोव्यथा पिघल-पिघलकर बाहर आ रही है। भगवान् ने गौतम को सम्बोधित

---

१. उत्तराध्ययन, सुखबोधा वृत्ति, पत्र १५४।
२. उत्तराध्ययन, सुखबोधा वृत्ति, पत्र १५५।

कर कहा—'क्या कर रहे हो ?'

'भंते ! आत्म-विश्लेषण कर रहा हूं।'

'मेरे दर्शन में दोष देख रहे हो या अपनी गति में ?'

'भंते ! दूसरे में दोष देखने की आपकी अनुमति नहीं है, इसलिए अपनी गति का ही विश्लेषण कर रहा हूं।'

'तुम जानते हो हर व्यक्ति अज्ञान और मोह के महासागर के इस तट पर खड़ा है ?'

'भंते ! जानता हूं।'

'तुमने उस तट पर जाने का संकल्प किया है, यह स्मृति में है न ?'

'भंते ! है।'

'फिर उलझन क्या है ?

'भंते ! उलझन यही है कि उस तट पर पहुंच नहीं पा रहा हूं।'

भगवान् ने गौतम के पराक्रम को प्रदीप्त करते हुए कहा—

'तुम उस महासागर को बहुत पार कर चुके हो। अब तट पर आकर तुम्हारे पैर क्यों अलसा रहे हैं ? त्वरा करो पार पहुंचने के लिए गौतम ! पल भर भी प्रमाद मत करो।'[1]

भगवान् आश्वासन की भाषा में बोले—'गौतम ! तुम अधीर क्यों हो रहे हो ? तुम चिरकाल से मेरे साथ स्नेह-सूत्र से बंधे हुए हो। चिरकाल से मेरे प्रशंसक हो। चिरकाल से परिचित हो। चिरकाल से प्रेम करते रहे हो। चिरकाल से अनुगमन करते रहे हो। चिरकाल से अनुकूल बर्तते रहे हो।'

'इससे पहले जन्म में मैं देव था, उस समय तुम मेरे साथ थे। मनुष्य जन्म में भी तुम मेरे साथ हो। मेरा और तुम्हारा सम्बन्ध चिरपुराण है। भविष्य में इस देह-मुक्ति के बाद हम दोनों तुल्य होंगे। मेरा और तुम्हारा अर्थ भिन्न नहीं होगा, प्रयोजन भिन्न नहीं होगा, क्षेत्र भिन्न नहीं होगा। हम दोनों में पूर्ण साम्य होगा, कोई भी नानात्व नहीं होगा। यह सब स्वल्प काल में ही घटित होने वाला है। फिर तुम खिन्न क्यों होते हो ? तुम जागरूक रहो, पल भर भी प्रमाद मत करो।'[2]

भगवान् के आश्वासन से गौतम में नव-चेतना का संचार हो गया। वे चिन्ता से मुक्त हो पुनः अप्रमाद के क्षण में आ गए। फिर भी उनके अतल में उभरती जिज्ञासा समाहित नहीं हुई। चेतना के विकास का पथ छोटा और लम्बा क्यों

---

१. उत्तरज्झयणाणि १०।३४ :
तिण्णो हु सि अण्णवं महं, किं पुण चिट्ठसि तीरमागओ।
अभितुर पारं गमित्तए, समयं गोयम ! मा पमायए॥

२. भगवई १४।७७।

होता है—इस प्रश्न में उनका मन अब भी उलझ रहा था। उन्होंने अपनी उलझन भगवान् के सामने रखी। भगवान् ने उसका समाधान दिया। वह समाधान महान् आत्मा द्वारा दिया हुआ आत्मा के उदय का महान् संदेश है। उसका छोटा-सा चित्र इन रेखाओं में आलेखित होता है—

अचेतन जगत् को नियम की शृंखला में बांधा जा सकता है, एक सांचे में ढाला जा सकता है। चेतन जगत् नियमन करने वाला है। उसमें चेतना की स्वतंत्रता है। उसके चैतन्य-विकास के अनन्त स्तर हैं। उसके स्वतन्त्र व्यक्तित्व की असंख्य धाराएं हैं। फिर अचेतन की भांति उसे कैसे किया जा सकता है नियमबद्ध और कैसे दिया जा सकता है उसे ढलने के लिए एक सांचा ? जहां आन्तरिक परिवर्तन की स्वतंत्रता है, पूर्ण स्वतन्त्रता है, दिशा और गति की स्वतंत्रता है, किसी का हस्तक्षेप नहीं है, वहां मार्ग छोटा और लम्बा होगा ही। यदि ऐसा न हो तो स्वतन्त्रता का अर्थ ही क्या ? सबके लिए एक ही गति से चलना अनिवार्य हो तो फिर स्वतन्त्रता और परतंत्रता के बीच भेदरेखा कहां खींची जाए ?

भगवान् ने रहस्य को अनावृत करते हुए कहा—'गौतम ! इन नव-दीक्षित श्रमणों का साधना-पथ छोटा नहीं है। ये द्रुतगति से चले। इन्होंने स्नेह-सूत्र को तत्परता से छिन्न कर डाला। इसलिए ये अपने लक्ष्य पर जल्दी पहुंच गए।

'तुम अभी स्नेह-सूत्र को छिन्न नहीं कर पाए हो। तुम्हारी आसक्ति का धागा मेरे शरीर में उलझ रहा है। तुम जानते हो कि स्नेह का बंधन कितना सूक्ष्म और कितना जटिल होता है। काठ को भेद देने वाला मधुकर कमल-कोश में बन्दी बन जाता है। तुम इस बंधन को देखो और देखते रहो। एक क्षण आएगा कि तुम देखोगे अपने में प्रकाश ही प्रकाश। सब कुछ आलोकित हो उठेगा। कितना अद्भुत होगा वह क्षण !'

भगवान् की निर्मल वाणी का सिंचन पा गौतम का मन प्रफुल्ल हो उठा। उनके तपःपूत मुख पर प्रसन्नता की लहर दौड़ गई। आंखों में ज्योति भर गई। वे सर्वात्मना स्वस्थ हो गए। उन्हें स्वप्न के बाद फिर जागृति का अनुभव होने लगा। उन्होंने सोचा—भगवान् ने जो कहा—'गौतम ! पलभर भी प्रमाद मत करो'—इसका रहस्य क्या है ? इसका दर्शन क्या है ? क्या पलभर का प्रमाद इतना भयानक होता है, जिसके लिए भगवान् को मुझे चेतावनी देनी पड़े ? क्या पल-भर का प्रमाद सारे अप्रमाद को लील जाता है ? मुझे इस जिज्ञासा का समाधान पाना ही होगा।

गौतम ने अपनी जिज्ञासा भगवान् के सामने रख दी। भगवान् ने पूछा—'तुमने दीप को देखा है ?'

'भंते ! देखा है।'

'दीप जलता है, तब क्या होता है ?'

'भंते ! अंधकार के परमाणु तैजस में बदल जाते हैं। कमरा प्रकाशमय बन जाता है।'

'वह कब तक प्रकाशमय रहता है ?'

'भंते ! जब तक दीप जलता रहे।'

'एक पल के लिए भी दीप बुझ जाए तब क्या होता है ?'

'भंते ! तैजस के परमाणु अंधकार में बदल जाते हैं। कमरा अंधकारमय हो जाता है।'

'क्या यह एक पल में ही घटित हो जाता है ?'

'भंते ! दीप का बुझना और अंधकार का होना एक ही घटना है। इसमें अंतराल नहीं है।'

'गौतम ! मैं यही कहता हूं कि जागरण का दीप जिस क्षण बुझता है, उसी क्षण चित्तभूमि में अंधकार छा जाता है।'

'भंते। जागरण के क्षण में क्या होता है ?'

'अंधकार प्रकाश में बदल जाता है।'

'भंते ! क्या मनुष्य का कृत बदलता है ?'

'मनुष्य जागरण के क्षण में होता है तब चित्त आलोकित हो उठता है। साथ-साथ पुण्य के संस्कार प्रबल होकर पाप के परमाणुओं को पुण्य में बदल डालते हैं। यह है पाप का पुण्य में संक्रमण। यह है कृत का परिवर्तन।'

'भंते ! प्रमाद के क्षण में क्या होता है ?'

'प्रमाद के क्षण में मनुष्य का चित्त अन्धकार से आच्छन्न हो जाता है। साथ-साथ पाप के संस्कार प्रबल होकर पुण्य के परमाणुओं को पाप में बदल डालते हैं। यह है पुण्य का पाप में संक्रमण। यह है कृत का परिवर्तन।'

'भंते ! यह बहुत ही आश्चर्यकारी घटना है। यह कैसे सम्भव हो सकती है ?'

'यह सम्भव है। इसी में हमारे पराक्रम की सार्थकता है। यह हमारे पुरुषार्थ की नियति है। इसे कोई टाल नहीं सकता। इसीलिए मैं कहता हूं—अप्रमाद की ज्योति को अखण्ड रहने दो। ध्यान रखो, यह पलभर के लिए भी बुझ न पाए।'

३१

चक्षुदान

भगवान् ज्योतिपुंज थे। उनके सम्पर्क में आ नए-नए दीप प्रज्वलित हो रहे थे और बुझते दीप फिर ज्योति प्राप्त कर रहे थे।

दीप का जलना और बुझना सामान्य प्रकृति है। भगवान् इसे पसन्द नहीं करते थे। उनकी भावना थी कि चेतना का दीप जले, फिर बुझे नहीं। वह सतत जलता रहे और जलते-जलते उस बिन्दु पर पहुंच जाए, जहां बुझने की भाषा ही नहीं है।

मेघकुमार सम्राट् श्रेणिक का पुत्र था। वह भगवान् की सन्निधि में गया। उसकी सुप्त चेतना जाग उठी। उसकी चेतना का प्रवाह ऊर्ध्वमुखी हो गया। ढक्कन से ढका हुआ दीप हजारों-हजारों विवरों से ज्योति विकीर्ण करने लगा। वह सतत प्रज्वलित रहने की दिशा में प्रस्तुत हुआ। हमारी भाषा में मुनि बन गया।

दिन जागृति में बीता। रात नींद में। आंखों में नींद नहीं आई। वह चेतना के दीप पर छा गई। चक्षु-दीप पर छाने वाली नींद सूर्योदय के साथ टूट जाती है। पर चेतना के दीप पर छा जाने वाली नींद नहीं टूटती है—हजारों-हजारों दिन आने पर भी और हजारों-हजारों सूर्योदय हो जाने पर भी। नींद के क्षणों में मेघकुमार की चेतना का प्रवाह अधोमुखी हो गया। वह भगवान् के पास आया। भगवान् ने देखा, उसका चेतना-दीप बुझ रहा है। भगवान् बोले—'मेघ! तुम अपनी जागृत चेतना को लौटाने मेरे पास आए हो। क्यों, यह सही है न?'

'भंते! कुछ ऐसा ही है।'

'मेघ! तुम्हारी स्मृति खो रही है। तुम हाथी के जन्म में जागृति की दिशा में बढ़े थे और अब मनुष्य होकर, मगध सम्राट् के पुत्र होकर, सुषुप्ति की दिशा में जाना चाहते हो, क्या यह तुम्हारे लिए उचित होगा?'

भगवान् की बात सुन मेघकुमार का मानस आन्दोलित हो गया। वह चित्त की गहराइयों में खो गया। उसे कुछ विलक्षण-सा अनुभव होने लगा। ऐसा होना जरूरी था। उसके मानस को आश्चर्य में डाले बिना, आन्दोलित किए बिना, उसे मोड़ देना सम्भव नहीं था। चेतना-जागरण के रहस्यों को जानने वाले ऐसा कर व्यक्ति को खोज की यात्रा में प्रस्थित कर देते हैं। मेघकुमार प्रस्तुत को भूल गया। जो बात भगवान् को कहने आया था, वह उसके हाथ से छूट गई। उसके मन में जिज्ञासा के नए अंकुर फूट पड़े। उसकी भीतरी खोज प्रारम्भ हो गई। उसके मानवीय पर्याय पर हाथी का पर्याय आरोहण कर गया।

'भंते ! मैं पिछले जन्म में हाथी था ?' मेघ ने जिज्ञासा की।

भगवान् ने बताया—'मेघ, तुम अतीत की दिशा में प्रयाण करो और देखो। इससे तीसरे जन्म में तुम हाथी थे—विशाल और सुन्दर। तुम वैताढ्य पर्वत की उपत्यका के वन में रहते थे। ग्रीष्म ऋतु का समय था। वृक्षों के संघर्षण से आग उठी। तेज हवा का सहारा पा वह प्रदीप्त हो गयी। देखते-देखते पोले पेड़ गिरने लगे। वनांत प्रज्वलित हो उठा। दिशाएं धूमिल हो गई। चारों ओर अरण्य पशु दौड़ने लगे। उस समय तुम भी अपने यूथ के साथ दौड़े। तुम्हारा यूथ आगे निकल गया। तुम बूढ़े थे, इसलिए पिछड़ गए। दिशामूढ हो दूसरी दिशा में चले गए। तुमने एक सरोवर देखा। तुम पानी पीने के लिए उसमें उतरे। उसमें पानी कम था, पंक अधिक। तुम तीर से आगे चले गए, पानी तक पहुंचे नहीं, बीच में ही पंक में फंस गए। तुमने पानी पीने के लिए सूंड़ को फैलाया। वह पानी तक नहीं पहुंच सकी। तुमने पंक से निकलने का तीव्र प्रयत्न किया। तुम निकले नहीं, और अधिक फंस गए। उस समय एक युवा हाथी वहां आया। वह तुम्हारे ही यूथ का था। तुम ने उसे दंत-प्रहार से व्यथित कर यूथ से निकाला था। तुम्हें देखते ही उसमें क्रोध का उफान आ गया। वह तुम्हें दंत-प्रहार से घायल कर चला गया। तुम एक सप्ताह तक कष्ट से कराहते रहे। वहां से मरकर तुमने गंगा नदी के दक्षिणी कूल पर विन्ध्य पर्वत की तलहटी में फिर हाथी का जन्म लिया। वनचरों ने तुम्हारा नाम रखा मेरुप्रभ।

'एक बार वन में अकस्मात् दावानल भड़क उठा। तुम अपने यूथ के साथ वन से भाग गए। दावानल ने तुम्हारे मन में विचित्र-सा कम्पन पैदा कर दिया। तुम उस गहरे आघात की स्थिति में स्मृति की गहराई में उतर गए। तुम्हें वह दावानल अनुभव किया हुआ-सा लगा। तुम अनुभव की यात्रा पर निकल गए। आखिर पहुंच गए। पूर्वजन्म की स्मृति हो गई। वैताढ्य के वन का दावानल आंखों के सामने साकार हो गया।

'तुमने अतीत की स्मृति का लाभ उठा एक मंडल बनाया। उसे सर्वथा वनस्पति-विहीन कर दिया। एक बार फिर दावाग्नि से वन जल उठा। पशु पलायन कर उस

मंडल में एकत्र होने लगे। तुम भी अपने यूथ के साथ उस मंडल में आ गए। देखते-देखते वह मंडल पशुओं से भर गया। अग्नि के भय से संत्रस्त होकर वे सब वैर-विरोध को भूल गए। समूचा मंडल मैत्री-शिविर जैसा हो गया। उसमें सिंह, हिरन, लोमड़ी और खरगोश—सब एक साथ थे। उसमें पैर रखने को भी स्थान खाली नहीं रहा।

'तुमने खुजलाने को पैर ऊंचा उठाया। उसे नीचे रखते समय पैर के स्थान पर खरगोश को बैठे देखा। तुम्हारे मन में अनुकम्पा की लहर उठी। तुमने अपना पैर बीच में ही रोक लिया। उस अनुकम्पा से तुमने मनुष्य होने की योग्यता अर्जित कर ली।

'दो दिन-रात पूरे बीत गए। तीसरे दिन दावानल शान्त हुआ। पशु उस मंडल से बाहर निकल जंगल में जाने लगे। वह खरगोश भी चला गया। तुम्हारा पैर अभी अंतराल में लटक रहा था। तुमने उसे धरती पर रखना चाहा। तुम तीन दिन से भूखे और प्यासे थे। बूढ़े भी हो चले थे। पैर अकड़ गया था। जैसे ही पैर को नीचे रखने का प्रयत्न किया, तुम लुढ़क कर गिर पड़े, मानो बिजली के आघात से रजत-गिरि का शिखर लुढ़क पड़ा हो। तीन दिन-रात तुम घोर वेदना को झेलते रहे। वहां से मरकर तुम श्रेणिक के पुत्र और धारिणी देवी के आत्मज बने।

'मेघ ! जब तुम तिर्यञ्च योनि में थे, सम्यग्दर्शन तुम्हें प्राप्त नहीं था, तब तुमने खरगोश की अनुकम्पा के लिए ढाई दिन तक पैर को अंतराल में उठाए रखा। उस कष्ट को कष्ट नहीं माना। तुम्हारा कष्ट अहिंसा के प्रवाह में बह गया। अब तुम मनुष्य हो, सम्यग्दर्शन तुम्हें प्राप्त है, ज्योति-शिखा तुम्हारे हाथ में है, फिर भ्रम की अंधियारी ने कैसे तुम्हारी आंखों पर अधिकार कर लिया ? कैसे तुम थोड़े से कष्ट से अधीर हो गए ? श्रमणों का चरण-स्पर्श कैसे तुम्हें असह्य हो गया ? उनकी किंचित् उपेक्षा कैसे तुम्हारे लिए सिरशूल बन गई ?'

मेघकुमार की स्मृति पर भगवान् ने इतना गहरा आघात किया कि उसकी स्मृति का द्वार खुल गया। अतीत के गहरे में उतरकर उसने पंक में खड़े हाथी को देखा और दर्शन की श्रृंखला में यह भी देखा कि श्वेतहस्ती पैर को अधर में लटकाए खड़ा है। वह स्तब्ध रह गया। उसका मानस-तंत्र मौन, वाणी-तंत्र अवाक् और शरीर-तंत्र निश्चेष्ट हो गया। वह प्रस्तर-प्रतिमा की भांति स्थिर-शान्त खड़ा रहा। दो क्षण तक सारा वातावरण नीरवता से भर गया। सब दिशाएं मौन के अतल में डूब गईं। सब कुछ शान्त, प्रशान्त और उपशान्त।

भगवान् ने मौन-भंग करते हुए कहा—'बोलो मेघ ! क्या चाहते हो ?'

'भंते ! आपकी शरण चाहता हूं, और कुछ नहीं चाहता।'

'मूर्च्छा में तो नहीं कह रहे हो ?'

'भंते ! प्रत्यक्ष दर्शन के बाद मूर्च्छा कहां ?'

'तो अटल है तुम्हारा निश्चय ?'

'भंते ! अब टलने को अवकाश ही कहां है ? आपने बाहर जाने का दरवाजा ही बंद कर दिया।'

भगवान् ने मेघ को अर्थभरी दृष्टि से देखा। वह धन्य हो गया। उसकी चेतना अपने अस्तित्व में लौट आई।[1] उसका हृदय-कोश शाश्वत ज्योति से जगमगा उठा। वह मन ही मन गुनगुनाने लगा—

'बहुत लोग नहीं जानते—
मैं पूरब से आया हूं कि पश्चिम से ?
दक्षिण से आया हूं या उत्तर से ?
दिशा से आया हूं या विदिशा से ?
ऊपर से आया हूं या नीचे से ?
भगवान् ने मुझे ढकेला अतीत के गहरे में,
मैं देख आया हूं, मेरा पहला पड़ाव।
भंते ! वह द्वार भी खोल दो,
मैं देख आऊं मेरा अगला पड़ाव।'[2]

---

१. नायाधम्मकहाओ, १।१५२-१५४।
२. आयारो, १।१-३।

३२

समता के तीन आयाम

हमारे जगत् का मूल एक है या अनेक ? एकता मौलिक है या अनेकता ? दृश्य जगत् विम्ब है या प्रतिबिम्ब ? ये प्रश्न हज़ारों-हज़ारों वर्षों से चर्चित होते रहे हैं। इनमें से दो प्रतिप्रत्तियां मुख्य हैं—एक अद्वैत की और दूसरी द्वैत की। वेदान्त की प्रतिपत्ति यह है कि जगत् का मूल एक है। वह चेतन, सर्वज्ञ और सर्वेश्वर है। उसकी संज्ञा ब्रह्म है। एकता मौलिक है, अनेकता उसका विस्तार है। हमारा जगत् प्रतिबिम्ब है। बिम्ब एक ब्रह्म ही है। एक सूर्य हज़ारों जलाशयों में प्रतिविम्बित होकर हजार वन जाता है। प्रातःकाल सूर्य की रश्मियां दूर-दूर फैलती हैं, सांझ के समय वे सूर्य की ओर लौट आती हैं। यह जगत् ब्रह्म की रश्मियों का फैलाव है। यह लौटकर उसी में विलीन हो जाता है।

सांख्य की प्रतिपत्ति यह है कि जगत् के मूल में दो तत्त्व हैं—प्रकृति और पुरुष (आत्मा)। प्रकृति अचेतन है और पुरुष चेतन। पुरुष अनेक हैं, इसीलिए एकता मौलिक नहीं है। चेतन और अचेतन में विम्ब और प्रतिविम्ब का सम्वन्ध नहीं है।

महावीर की प्रतिपत्ति इन दोनों प्रतिपत्तियों से भिन्न है। उनका दर्शन है कि विश्व का कोई भी तत्त्व या विचार दूसरों से सर्वथा भिन्न नहीं है। इस अर्थ में उनकी प्रतिपत्ति दोनों से अभिन्न भी है। महावीर ने वताया कि अस्तित्व एक है। उसमें चेतन और अचेतन का विभाजन नहीं है। उसमें केवल होना ही है। वहां होने के साथ कोई विशेषण नहीं जुड़ता। जहां केवल होना है, कोरा अस्तित्व है, वहां पूर्ण अद्वैत है। अस्तित्व की एकता के विन्दु पर महावीर ने अद्वैत का प्रतिपादन किया। विश्व में केवल अस्तित्व की क्रिया होती तो यह जगत् होने के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। पर उसमें अनेक क्रियाएं और उनकी पृष्ठभूमि में रहे हुए अनेक गुण हैं। एक तत्त्व में चैतन्यगुण और उसकी क्रिया मिलती है। दूसरे तत्त्व में वह

गुण और उसकी क्रिया नहीं मिलती। गुण और क्रिया की विलक्षणता के बिन्दु पर महावीर ने द्वैत का प्रतिपादन किया। महावीर न द्वैतवादी हैं और न अद्वैतवादी। वे द्वैतवादी भी हैं और अद्वैतवादी भी हैं। उनके दर्शन में विश्व का मूल एक भी है और अनेक भी है। अस्तित्व जैसे व्यापक गुण की दृष्टि से देखें तो एकता मौलिक है। चैतन्य जैसे विलक्षण गुण की दृष्टि से देखें तो अनेकता मौलिक है। निष्कर्ष की भाषा में कहें तो एकता भी मौलिक है और अनेकता भी मौलिक है।

महावीर के दर्शन में अनन्त परमाणु हैं और अनन्त आत्माएं। प्रत्येक परमाणु और प्रत्येक आत्मा बिम्ब है। हर बिम्ब का अपना-अपना प्रतिबिम्ब है। गुण का स्थायीभाव बिम्ब है और उसकी गतिशीलता प्रतिबिम्ब है।

महावीर ने इस दर्शन की भूमि में साधना का बीज बोया। अचेतन के सामने साधना का कोई प्रश्न नहीं है। उसका होना और गतिशील होना—दोनों प्राकृतिक नियमों से होते हैं। ज्ञानपूर्वक कुछ नहीं होता। चेतन का होना प्राकृतिक नियम से जुड़ा हुआ है किन्तु उसकी गतिशीलता प्राकृतिक नियम से संचालित नहीं होती। वह ज्ञानपूर्वक बदलता है—जो होना चाहता है उस दिशा में प्रयाण करता है। यही है उसकी साधना। मनुष्य का ज्ञान विकसित होता है इसलिए वह विकास के चरम-बिन्दु पर पहुंचना चाहता है। उसके सामने चेतना की दो भूमिकाएं हैं—एक द्वन्द्व की और दूसरी द्वन्द्वातीत। जीवन और मृत्यु, सुख और दुःख, मान और अपमान, हर्ष और विषाद जैसे असंख्य द्वन्द्व हैं। ये मन पर आघात करते रहते हैं। उसमें मन का संतुलन बिगड़ जाता है। वह विषम हो जाता है।

द्वन्द्व के आघात से बचने के लिए महावीर ने समता की साधना प्रस्तुत की। उनके द्वारा प्रतिपादित धर्म का नाम है—समता धर्म, सामायिक धर्म। इसके दो अर्थ हैं—

१. प्राणी-प्राणी के बीच में समता की खोज और अनुभूति।

२. द्वन्द्वों के दोनों तटों के बीच में मानसिक समता के पुल का निर्माण।

समता का विकास मैत्री, अभय और सहिष्णुता—इन तीन आयामों में होता है। जिस व्यक्ति में प्रतिकूल परिस्थिति को सहन करने की क्षमता जागृत नहीं होती, वह अभय नहीं हो सकता और भयभीत मनुष्य में मैत्री का विकास नही हो सकता। जिसमें अनुकूल परिस्थिति को सहन करने की क्षमता जागृत नहीं होती, वह गर्व से उन्मत्त होकर दूसरों में भय और अमैत्री का संचार करता है। तीनों आयामों में विकास करने पर ही समता स्थायी होती है।

समता एक आयाम में विकसित नहीं होती। यह होता है कि हम किसी व्यक्ति को मैत्री के आयाम में अधिक गतिशील देखते हैं, किसी को अभय के आयाम में और किसी को सहिष्णुता के आयाम में। इनमें से एक के होने पर शेष दो का होना अनिवार्य है। समता के होने पर इन तीनों का होना अनिवार्य है। इन तीनों का

होना ही वास्तव में समता का होना है।

१. मैत्री का आयाम

कालसौकरिक[1] राजगृह का सबसे बड़ा कसाई था। उसके कसाईखाने में प्रतिदिन सैकड़ों भैंसे मारे जाते थे। एक दिन सम्राट् श्रेणिक ने कहा, 'कालसौकरिक ! तुम भैंसों को मारना छोड़ दो। मैं तुम्हें प्रचुर धन दूंगा।'

कालसौकरिक को सम्राट् का प्रस्ताव पसन्द नहीं आया। भैंसों को मारना अब उसका धन्धा ही नहीं रहा, वह एक संस्कार बन गया। उन्हें मारे बिना कालसौकरिक को दिन सूना-सूना-सा लगता। उसने सम्राट् के प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। सम्राट् ने इसे अपना अनादर मान कालसौकरिक को अन्धकूप में डलवा दिया। एक दिन-रात वहीं रखा।

श्रेणिक ने भगवान् महावीर से निवेदन किया—'भंते ! मैंने कालसौकरिक से भैंसे मारने छुड़वा दिए हैं।'

'श्रेणिक ! यह सम्भव नहीं है।'

'भंते ! वह अन्धकूप में पड़ा है। वह भैंसों को कहां से मारेगा ?'

'उसका हृदय-परिवर्तन नहीं हुआ है, फिर वह अपने प्रगाढ़ संस्कार को दंड-बल से कैसे छोड़ सकेगा ?'

'तो क्या भगवान् यह कहते हैं कि उसने अन्धकूप में भी भैंसों को मारा है ?'

'हां, मेरा आशय यही है।'

'भंते ! यह कैसे सम्भव है ?'

'क्या उस अन्धकूप में गीली मिट्टी नहीं है ?'

'वह है, भंते !'

'उस मिट्टी का भैंसा नहीं बनाया जा सकता ?'

'भंते ! बनाया जा सकता है।'

'इसीलिए मैं कहता हूं कि कालसौकरिक दिन-भर भैंसों को मारता रहा है।'

सम्राट् इस सत्य को समझ गया कि दण्ड-बल से हिंसा नहीं छुड़ाई जा सकती। वह हृदय-परिवर्तन से ही छूटती है। सम्राट् ने अन्धकूप के पास जाकर मरे हुए भैंसों को देखा और देखा कि कालसौकरिक के क्रूर हाथ अब भी उन्हें मारने में लगे हुए हैं। सम्राट् ने उसे मुक्त कर दिया।

कुछ वर्षों बाद कालसौकरिक मर गया। यह दुनिया बहुत विचित्र है। इसमें कोई भी प्राणी अमर नहीं होता। एक दिन मारने वाला भी मर जाता है। लोगों ने सुना कि कालसौकरिक मर गया। परिवार के लोग आए और उसका दाह-

---

१. आवश्यकचूर्णि, उत्तरभाग, पृ० १६८ आदि।

संस्कार कर दिया।

सुलस कालसौकरिक का पुत्र था। परिवार के लोगों ने उससे पिता का पद संभालने का अनुरोध किया। सुलस ने उसे ठुकरा दिया। 'मैं कसाई का धन्धा नहीं कर सकता'—उसने स्पष्ट शब्दों में अपनी भावना प्रकट कर दी।

परिवार के लोग बड़े असमंजस में पड़ गए। सारा काम ठप्प हो गया। उन्होंने फिर अनुरोध किया। सुलस ने विनम्र शब्दों में कहा—'मुझे जैसे मेरे प्राण प्रिय हैं, वैसे ही दूसरों को अपने प्राण प्रिय हैं। फिर मैं अपने प्राणों की रक्षा के लिए दूसरों के प्राण कैसे लूट सकता हूं?'

स्वजन-वर्ग ने प्राणी-हिंसा में होने वाले पाप के विभाजन का आश्वासन दिया। उन्होंने एक भैंसे को मारकर कार्य प्रारम्भ करने का अनुरोध किया। सुलस ने अपने पिता के कुठार को हाथ में उठाया। स्वजन-वर्ग हर्ष से झूम उठा। सुलस ने सामने खड़े भैंसे को करुणापूर्ण दृष्टि से देखा और कुठार अपनी जंघा पर चलाया। वह मूर्च्छित होकर गिर पड़ा। जंघा से रक्त की धार बह चली। थोड़ी देर बाद वह सावचेत हुआ। वह करुणापूर्ण स्वर में बोला—'बंधुओ! यह घाव मुझे पीड़ित कर रहा है। कृपया आप मेरी पीड़ा को बंटाएं, जिससे मेरी पीड़ा कम हो।' स्वजन-वर्ग ने खिन्न मन से कहा—'यह कैसे हो सकता है? पीड़ा को कैसे बांटा जा सकता है?' सुलस बोल उठा—'आप लोग मेरी पीड़ा का विभाग भी नहीं ले सकते तब मेरे पाप का विभाग कैसे ले सकेंगे? मैं इस हिंसा को नहीं चला सकता, भले फिर यह पैतृकी हो। क्या यह आवश्यक है कि पिता अन्धा हो तो पुत्र भी अन्धा होना चाहिए।'

२. अभय का आयाम

अर्जुन मालाकार आज बड़ी तत्परता से अपनी पुष्पवाटिका में पुष्प चुन रहा है। बंधुमती छाया की भांति उसके पीछे चल रही है। उनका मन बहुत उत्फुल्ल है। राजगृह के कण-कण में उत्सव अठखेलियां कर रहा है। उसका हर नागरिक सुरभि-पुष्पों के लिए लालायित हो रहा है। 'आज पुष्पों का विक्रय प्रचुर मात्रा में होगा'—इस कल्पना ने अर्जुन के हाथों और पैरों में होड़ उत्पन्न कर दी। थोड़े समय में ही चारों करंडक पुष्पों से भर गए। मालाकार-दंपति पुलकित हो उठा।

अर्जुन पुष्पवाटिका में पुष्प चुनकर यक्ष की पूजा करने जाया करता था। मुद्गरपाणि उस प्रदेश का सुप्रसिद्ध यक्ष है। उसका आयतन पुष्पवाटिका से सटा हुआ है। अर्जुन यक्ष का भक्त है। यह भक्ति उसे वंश-परम्परा से प्राप्त है।

राजगृह में ललिता नाम की एक गोष्ठी थी। उसके सदस्य गोष्ठिक कहलाते थे। उस दिन छह गोष्ठिक पुरुष यक्षायतन में क्रीड़ा कर रहे थे। अर्जुन अपनी

नित्य-चर्या के अनुसार यक्ष को पुष्पांजलि अर्पित करने के लिए यक्षायतन में प्रविष्ट हुआ। वह नहीं जानता था कि आज नियति ने उसके लिए पहले से ही कोई चक्र-व्यूह रच रखा है।

गोष्ठिक पुरुषों ने अर्जुन के पीछे बंधुमती को आते देखा। उनकी काम-वासना जागृत हो गई। वे यक्षायतन के प्रकोष्ठ में छिप गए। मालाकार पुष्पांजलि-अर्पण के लिए नीचे झुका। उस समय छहों पुरुष बाहर निकले और मालाकार को कस-कर बांध दिया। अब बंधुमती अरक्षित थी। मालाकार का शरीर बंधा हुआ था, किन्तु उसकी आंखें मुक्त थीं और उससे भी अधिक मुक्त था उसका मन। गोष्ठिकों द्वारा बंधुमती के साथ किया गया अतिक्रमण वह सहन नहीं कर सका। वह भावुकता के चरम बिन्दु पर पहुंचकर बोला—'मुद्‌गरपाणि! मैं तुम्हारी इस काष्ठ प्रतिमा से प्रवंचित हुआ हूं। मैंने व्यर्थ ही शत-शत कार्षापणों के पुष्प इसके सामने चढ़ाए हैं। यदि तुम यहां होते तो क्या तुम्हारे सामने यह दुर्घटना घटित होती?' वह भावना के आवेश में इतना बहा कि अपनी स्मृति खो बैठा। अकस्मात् एक तेज आवाज़ हुई। मालाकार के बंधन टूट गए। उसका आकार विकराल हो गया। उसने मुद्‌गर उठाया और सातों को मौत के घाट उतार दिया। उसका आवेश अब भी शान्त नहीं हुआ।

अर्जुन की पुष्पवाटिका राजगृह के राजपथ के सन्निकट थी। उधर लोगों का आवागमन चलता था। पर यक्षायतन में घटित घटना का किसी को पता नहीं चला। मालाकार ने दूसरे दिन फिर सात पथिकों (छह पुरुष और एक स्त्री) की हत्या कर डाली। इस घटना से नगर में आतंक फैल गया। नगर के आरक्षिकों ने अनेक प्रयत्न किए पर उस पर नियंत्रण नहीं पा सके।

सात मनुष्यों की हत्या करना अर्जुन का दैनिक कार्यक्रम बन गया। महाराज श्रेणिक के आदेश से राजगृह में यह घोषणा हो गई—'मुद्‌गरपाणि-यक्षायतन की दिशा में कोई व्यक्ति न जाए।' इस घोषणा के साथ राजपथ अवरुद्ध हो गया। फिर भी कुछ भूले-भटके लोग उधर चले जाते और मालाकार के शिकार बन जाते। सात मनुष्यों की हत्या का यह सिलसिला लम्बे समय तक चलता रहा। छह गोष्ठिकों के पाप का प्रायश्चित्त न जाने कितने निरपराध लोगों को करना पड़ा।

जिस राजगृह को भगवान् अभय का पाठ पढ़ा रहे थे, जहां भगवान् की अहिंसा सुरसरिता की भांति सतत प्रवाहित हो रही थी, जिसका कण-कण श्रद्धा और संयम की सुधा से अभिषिक्त हो रहा था, वह नगर आज भय से संत्रस्त, हिंसा से आतंकित और सन्देह से उत्पीड़ित हो रहा था। यह महावीर के लिए चुनौती थी। वह चुनौती थी उनकी अहिंसा को, उनकी संकल्प-शक्ति को और उनके धर्म की समग्र साधना को। भगवान् ने इस चुनौती को झेला। वे राजगृह पहुंचे और [illegible] में ठहर गए। राजगृह के नागरिकों को भगवान् के आगमन का

पता लग गया। पर कौन जाए ? कैसे जाए ? भगवान् महावीर और राजगृह के बीच में दिख रहा था सबको अर्जुन और उसका प्राणघाती मुद्गर। जनता के मन में उत्साह जागा पर समुद्र के ज्वार की भांति पुनः समाहित हो गया।

सुदर्शन का उत्साह शान्त नहीं हुआ। उसने भगवान् की सन्निधि में जाने का निश्चय कर लिया। उसकी विदेह-साधना बहुत प्रबल थी। वह मौत के भय से अतीत हो चुका था। उसने अपने माता-पिता से कहा—

'अम्ब-तात ! भगवान् महावीर गुणशीलक चैत्य में पधार गए हैं।'

'वत्स ! हमने भी सुना है जो तुम कह रहे हो।'

'अब हमारा क्या धर्म है ?'

'हमारा धर्म है भगवान् की सन्निधि में उपस्थित होना। किन्तु···'

'अंब-तात ! भय के साम्राज्य में किन्तु का अन्त कभी नहीं होगा।'

'क्या जीवन का कोई मूल्य नहीं है ?'

'धर्म का मूल्य उससे बहुत अधिक है। अल्पमूल्य का बलिदान कर यदि मैं बहुमूल्य को बचा सकूं तो मुझे प्रसन्नता ही होगी।'

'वत्स ! अभी मगध सम्राट् श्रेणिक भी भगवान् की सन्निधि में नहीं पहुंचे हैं, तब हमें क्यों इतनी चिन्ता मोल लेनी चाहिए ?'

'यह चिन्ता का प्रश्न नहीं है, यह धर्म का प्रश्न है। यह सत्ता का प्रश्न नहीं है, यह श्रद्धा का प्रश्न है। क्या श्रद्धा के क्षेत्र में मेरा स्थान सम्राट् से अग्रिम पंक्ति में नहीं हो सकता ?'

'क्यों नहीं हो सकता ?'

'फिर आप सम्राट् की ओट में मुझे क्यों रोकना चाहते हैं ?'

'अच्छा वत्स ! तुम भगवान् की शरण में जाओ। तुम्हारा कल्याण हो। निर्विघ्न हो तुम्हारा पथ।'

सुदर्शन माता-पिता का आशीर्वाद ले घर से चला। मित्रों ने एक बार फिर रोका और टोका उन सबने, जिन्हें इस बात का पता चला। पर सत्याग्रही के पैर कब रुक सके हैं ? उसके पैर जिस दिशा में उठ जाते हैं, वे मंजिल तक पहुंचे बिना रुक नहीं पाते। सुदर्शन अपने लक्ष्य की ओर आगे बढ़ा। वह अकेला था। उसके साथ था केवल श्रद्धा का बल। वह प्रतोली-द्वार तक पहुंचा। आरक्षिक ने उसे रोककर पूछा—

'कहां जाना चाहते हो ?'

'गुणशीलक चैत्य में।'

'किसलिए ?'

'भगवान् महावीर की उपासना के लिए।'

'बहुत अच्छा। किन्तु श्रेष्ठिपुत्र ! इस राजपथ से जाना क्या मौत को निमंत्रण

देना नहीं है ?'

'हो सकता है, किन्तु मैं मौत को निमंत्रित करने नहीं जा रहा हूं।'

'यह राजपथ राजाज्ञा द्वारा अवरुद्ध है, आपको पता होगा ?'

'हां, मुझे मालूम है। पर मैं जिस उद्देश्य से जा रहा हूं, वह अबाधित है। जिसका सबको भय है, उससे मैं भयभीत नहीं हूं, फिर यह राजपथ मेरे लिए क्यों अवरुद्ध होगा ?'

आरक्षिक इसके उत्तर की खोज में लग गया। सुदर्शन के पैर आगे बढ़ गए। सुनसान राजपथ ने सुदर्शन के प्रत्येक पद-चाप को ध्यान से सुना। उसमें न कोई धड़कन थी, न आवेग और न विचलन। सुदर्शन राजपथ के कण-कण को ध्यान से देखता जा रहा था। पर उसे सर्वत्र दिखाई दे रहा था महावीर का प्रतिबिंब। वह सुन रहा था पग-पग पर महावीर का सिंहनाद।

राजपथ के आसपास अर्जुन घूम रहा था। लग रहा था जैसे काल की छाया घूम रही हो। उसने सुदर्शन को आते देखा। उसे लगा जैसे कोई बलि का बकरा आ रहा है। वह सुदर्शन की ओर दौड़ा। भय अभय को परास्त करने के लिए विह्वल हो उठा। श्रद्धा और आवेश के समर की रणभेरी बज चुकी। सुदर्शन ने अपनी तैयारी पूर्ण कर ली। उसने समता की दीक्षा स्वीकार की। वह संकल्प का कवच पहन कायोत्सर्ग की मुद्रा में खड़ा हो गया। उसकी ध्यान-मुद्रा उपसर्ग का अन्त होने से पहले भग्न नहीं होगी, यह उसकी आकृति बता रही थी

अर्जुन निकट आते ही गरज उठा—'तुम कौन हो ? तुम्हारा नाम क्या है ? क्या तुम्हारे माता-पिता नहीं हैं ? कोई मित्र और परामर्शक नहीं है ? तुम्हें नहीं मालूम है कि यहां आने पर तुम मृत्यु के अतिथि बन जाओगे ? तुम बोल नहीं रहे हो ! बड़े लापरवाह दीख रहे हो ! अब तैयार हो जाओ तुम इस मुद्गरपाणि का प्रसाद पाने के लिए।'

सुदर्शन अपने ध्यान में लीन था। वह न बोला और न प्रकंपित हुआ। अर्जुन का आवेश और अधिक बढ़ गया। उसने मुद्गर को आकाश में उछालने का प्रयत्न किया। पर हाथ उसकी इच्छा को स्वीकार नहीं कर रहे थे। वे जहां थे, वहीं स्तम्भित हो गए। अर्जुन ने अपनी सारी शक्ति लगा दी। पर उसका शरीर उसकी हर इच्छा को अस्वीकार करने लगा। उसका मनोबल टूट गया। आवेश शान्त हो गया।

अब अर्जुन केवल अर्जुन था। उसका शरीर आवेश में शिथिल हो चुका था। वह अपने को संभाल नहीं सका। वह सुदर्शन के पैरों में लुढ़क गया।

सुदर्शन ने देखा उपसर्ग शान्त हो चुका है। भय की काली घटा बिना बरसे ही फट गयी है। उसने अपनी अर्धोन्मीलित आंखें खोलीं। कायोत्सर्ग सम्पन्न किया। उसने महावीर की स्मृति के साथ अर्जुन के सिर पर हाथ रखा। उसकी मूर्च्छा टूट

गई। उसके चिदाकाश में जागृति की पहली किरण प्रकट हुई। उसने जागृति के क्षण में फिर उस प्रश्न को दोहराया—

'तुम कौन हो ?'

'मैं भगवान् महावीर का उपासक हूं।'

'कहां जा रहे हो ?'

'भगवान् महावीर की उपासना करने जा रहा हूं।'

'क्या मैं भी जा सकता हूं ?'

'किसी के लिए प्रवेश निषिद्ध नहीं है।'

अर्जुन सुदर्शन के साथ भगवान् के पास पहुंचा। आरक्षिकों ने श्रेणिक को सूचना दी कि पाप शान्त हो गया है। राजपथ निर्विघ्न है। निरंकुश हाथी पर अंकुश का नियंत्रण है। अर्जुन सुदर्शन के साथ भगवान् महावीर के पास चला गया है। राजकीय घोषणा के साथ राजपथ का आवागमन खुल गया।

भगवान् के कण-कण में अहिंसा का प्रवाह था। मैत्री और प्रेम की अजस्र धाराएं वह रही थीं। उसमें स्नात व्यक्ति की क्रूरता धुल जाती थी। अर्जुन का मन मृदुता का स्रोत बन गया।

मनुष्य के अन्तःकरण में कृष्ण और शुक्ल—दोनों पक्ष होते हैं। जिनकी चेतना तामसिक होती है, वे प्रकाश पर तमस् का ढक्कन चढ़ा देते हैं। जिनकी चेतना आलोकित होती है, वे प्रकाश को उभार तमस् को विलीन कर देते हैं। भगवान् ने अर्जुन के अन्तःकरण को आलोक से भर दिया। उसके मन में समता की दीपशिखा प्रज्वलित हो गई। वह मुनि बन गया।

कल का हत्यारा आज का मुनि—यह नाटकीय परिवर्तन जनता के गले कैसे उतर सकता है ? हर आदमी उस सत्य को नहीं जानता कि मनुष्य के जीवन में बड़े परिवर्तन नाटकीय ढंग से ही होते हैं। असाधारण घटना साधारण ढंग से नहीं हो सकती। साधारण आदमी असाधारण घटना को एक क्षण में पकड़ भी नहीं पाता। अर्जुन से आतंकित जनता उसके मुनित्व को स्वीकार नहीं कर सकी।

अर्जुन ने भगवान् के पास समता का मंत्र पढ़ा। उसकी समता प्रखर हो गई। मान-अपमान, लाभ-अलाभ, जीवन-मृत्यु और सुख-दुःख में तटस्थ रहना उसे प्राप्त हो गया।

कुछ दिनों बाद मुनि अर्जुन भिक्षा के लिए राजगृह में गया। घर-घर से आवाज़ें आने लगीं—इसने मेरे पिता को मारा है, भाई को मारा है, पुत्र को मारा है, माता को मारा है, पत्नी को मारा है, मित्र को मारा है। कहीं गालियां, कहीं व्यंग, कहीं तर्जना और कहीं प्रताड़ना। अर्जुन देख रहा है—यह कृत की प्रतिक्रिया है, अतीत के अनाचरण का प्रायश्चित्त है। उसे यदि रोटी मिलती है तो पानी नहीं मिलता और यदि पानी मिलता है तो रोटी नहीं मिलती। पर

उसका मन न रोटी में उलझता है और न पानी में। उसका मन समता में उलझकर सदा के लिए सुलझ गया। उसके समत्व की निष्ठा ने जनता का आक्रोश सद्भावना में बदल दिया। अहिंसा ने हिंसा का विष धो डाला।[1]

३. सहिष्णुता का आयाम

मेतार्य जन्मना चाण्डाल थे। वे भगवान् महावीर के संघ में दीक्षित हुए। उनका मुनि जीवन ज्ञान और समता की साधना से प्रदीप्त हो उठा। उनके अन्तर् की ज्योति जगमगा उठी। वे संघ की सीमा से मुक्त हो गए। अब वे अकेले रहकर साधना करने लगे। एक बार वे राजगृह में आए। स्वर्णकार के घर भिक्षा लेने पहुंचे। स्वर्णकार उन्हें देख हर्ष-विभोर हो उठा। वह वंदना कर बोला—'श्रमण ! आप यहीं ठहरें। मैं दो क्षण में यह देखकर आ रहा हूं कि रसोई बनी है या नहीं ?' स्वर्णकार भीतर घर में गया। मुनि वहीं खड़े रहे। स्वर्णकार की दुकान में क्रौंच पक्षी का युगल बैठा था। स्वर्णकार के जाते ही वह आगे बढ़ा और दुकान में पड़े स्वर्णयवों को निगल गया।

स्वर्णकार मुनि को घर में ले जाने आया। उसने देखा, स्वर्णयव लुप्त हैं। वह स्तब्ध रह गया। उसके मन में आवेश उतर आया। उसने स्वर्णयवों के विषय में मुनि से पूछा। मुनि मौन रहे। स्वर्णकार का आवेश बढ़ गया। वह बोला—'श्रमण ! मैं अभी आपके सामने स्वर्णयव यहां छोड़कर गया। कुछ ही क्षणों में मैं यहां लौट आया। इस बीच कोई दूसरा व्यक्ति यहां आया नहीं। मेरे स्वर्णयवों के लुप्त होने के उत्तरदायी आपके सिवाय दूसरा कौन हो सकता है ?' मुनि अब भी मौन रहे।

स्वर्णकार मुनि से उत्तर चाहता था। मुनि उत्तर दे नहीं रहे थे। उनका मौन स्वर्णकार की आकांक्षा पर चोट करने लगा। उसने आहत स्वर में कहा—'श्रमण ! वे स्वर्णयव मेरे नहीं हैं। वे सम्राट् श्रेणिक के हैं। मैं उनके अन्तःपुर के आभूषण तैयार कर रहा हूं। यदि वे स्वर्णयव नहीं मिलेंगे तो मेरी क्या दशा होगी, क्या आप नहीं जानते ? आप श्रमण हैं। आपने कितना वैभव छोड़ा है ! आप मेरे सम्राट् के दामाद रहे हैं। अब आप मेरे आराध्य भगवान् महावीर के संघ में दीक्षित हैं। आप अपने त्याग को देखें, सम्राट् की ओर देखें, भगवान् की ओर देखें और मेरी ओर देखें। मन से लोभ को निवारें, मेरी वस्तु मुझे लौटा दें। मनुष्य से भूल हो सकती है। आप साधक हैं। अभी सिद्ध नहीं हैं। आप से भी भूल हो सकती है। अभी और कोई नहीं जानता। आप जानते हैं या मैं जानता हूं। तीसरा कोई नहीं जानता। आप मेरी बात पर ध्यान दें। मेरी वस्तु मुझे लौटा दें। भूल के लिए प्रायश्चित्त करें।'

---

१. अंतगडदसाओ, ६।

स्वर्णकार द्वारा इतना कहने पर भी मुनि का मौन भंग नहीं हुआ। स्वर्णकार ने सोचा, श्रमण का मन ललचा गया है। ये दण्ड के बिना नहीं मानेंगे। उसने रास्ता बन्द कर दिया। वह तत्काल गीला चर्मपट्ट लाया। मुनि का सिर उससे कसकर बांध दिया। वे भूमि पर लुढ़क गए। सूर्य के ताप से चर्मपट्ट और साथ-साथ मुनि का सिर सूखने लगा।

मुनि ने सोचा—'इसमें स्वर्णकार का क्या दोष है? वह बेचारा भय से आतंकित है। मैं भी मौन-भंग कर क्या करता? मेरे मौन-भंग का अर्थ होता—क्रौंच-युगल की हत्या। यह चक्रव्यूह किसी की बलि लिये बिना भग्न होने वाला नहीं है। दूसरों के प्राणों की बलि देने का मुझे क्या अधिकार है? मैं अपने प्राणों की बलि दे सकता हूं।'

वे अपने प्राणों की बलि देने को प्रस्तुत हो गए। उनका चित्त ध्यान के प्रकोष्ठ में पहुंच गया। उनका मन सरिता में नौका की भांति तैरने लगा। कष्ट शरीर को होता है। उसकी अनुभूति मन को होती है। दोनों घुले-मिले रहते हैं, तब कष्ट का संवेदन तीव्र होता है। जब मन शरीर की सरिता के ऊपर तैरने लगता है तब उसका संवेदन क्षीण हो जाता है। यह है सहिष्णुता—समता के विवेक से पल्लवित, पुष्पित और फलित।

द्वन्द्व का होना जागतिक नियम है। इसे कोई बदल नहीं सकता। द्वन्द्व की अनुभूति को बदला जा सकता है। यह परिवर्तन द्वन्द्वातीत चेतना की अनुभूति होने पर ही होता है। द्वन्द्व की अनुभूति का मूल राग और द्वेष का द्वन्द्व है। इस द्वन्द्व का अन्त होने पर द्वन्द्वातीत चेतना जागृत होती है। समता का आदिबिन्दु द्वन्द्वातीत चेतना की जागृति का आदि-बिन्दु है। समता का चरम-बिन्दु द्वन्द्वातीत चेतना की पूर्ण जागृति है। इस अवस्था में समता और वीतरागता एक हो जाती है। साधन साध्य में विलीन हो जाता है। वस्तु-जगत् में द्वैत रहता है। किन्तु चेतना के तल पर द्वन्द्व के प्रतिबिम्ब समाप्त हो जाते हैं। विषमता-विहीन समता अपने स्वरूप को खो देती है। न विषमता रहती है और न समता, कोरी चेतना शेष रह जाती है।

३३

मुक्त मानस : मुक्त द्वार

सामने की दीवार पर घड़ी है। उसमें नौ बजे हैं। क्या सब घड़ियों में नौ ही बजे हैं ? यह सम्भव नहीं है। कोई दो मिनट आगे है तो कोई दो मिनट पीछे है। काल एक गति से चलता है। उसका प्रवाह न रुकता है और न त्वरित होता है। वह सदा और सर्वत्र अपनी गति से चलता है।

घड़ी काल नहीं है। वह काल की गति का सूचक-यंत्र है। यंत्र कभी शीघ्र चलने लगता है और कभी मंद। यह गति-भेद इस सत्य की सूचना देता है कि काल और घड़ी एक नहीं है।

धर्म और धर्म-संस्थान भी एक नहीं हैं। धर्म सत्य है। सत्य देश और काल से अबाधित होता है। देश बदल जाने पर धर्म नहीं बदलता। जो धर्म भारत के लिए है, वही जापान के लिए है और जो जापान के लिए है, वही भारत के लिए है। भारत और जापान के धर्म दो नहीं हो सकते। जो धर्म अतीत में था, वही आज है और आने वाले कल में भी वही होगा। काल बदल जाने पर धर्म नहीं बदलता।

प्यास लगती है और हम पानी पीते हैं। प्यास लगने पर हम पानी ही पीते हैं, रोटी नहीं खाते। यह क्यों ? इसका हेतु निश्चित नियम है। पानी पीने से प्यास बुझ जाती है, हर देश में और हर काल में। यह नियम देश और काल से बाधित नहीं है इसलिए यह सत्य है।

मन अशान्त होता है, तब हम धर्म की ओर झांकते हैं। मन की अशान्ति मिटाने के लिए हम धर्म की ओर ही झांकते हैं, धन की ओर नहीं झांकते। यह क्यों ? इसका हेतु निश्चित नियम है। धर्म की अनुभूति से मन की अशान्ति मिट जाती है, हर देश में और हर काल में। यह नियम देश और काल से बाधित नहीं है इसलिए यह सत्य है।

सत्य एकरूप होता है। यह श्रमणों का सत्य और यह वैदिकों का सत्य—यह

भेद नहीं हो सकता। वैदिक धर्म और श्रमण धर्म, जैन धर्म और बौद्ध धर्म—ये धर्म-संस्थान हैं, धर्म के तंत्र हैं, धर्म नहीं हैं। ये धर्म नहीं हैं, इसलिए अनेक हो सकते हैं, भिन्न और परस्पर विरोधी भी। ये सत्य को शब्द के माध्यम से पकड़ने का प्रयत्न करते हैं, जैसे एक शिशु तालाब में पड़ने वाले सूर्य के प्रतिबिम्ब को पकड़ने का प्रयत्न करता है।

एक आदमी कमरे में बैठा है। द्वार बन्द है। एक छोटी-सी खिड़की खुली है। उस पर जाली लगी हुई है। यह सच है कि आदमी खिड़की से झांककर आकाश को देख सकता है। किन्तु यह भी उतना ही सच है कि वह सम्पूर्ण आकाश को नहीं देख सकता। आकाश उतना ही नहीं है जितना वह देख सकता है और यह भी सच है कि वह आकाश को सीधा नहीं देख सकता, जाली के व्यवधान से देख सकता है।

भगवान् महावीर ने एक बार गौतम से कहा—'जब धर्म का द्रष्टा नहीं होता तब धर्म अनुमान की जाली से ढंकी हुई शब्द की खिड़की से झांककर देखा जाता है। उस स्थिति में उसके अनेक मार्ग और अनेक मार्ग-दर्शक हो जाते हैं। गौतम! तुम्हें जो मार्ग मिला है, वह द्रष्टा बनने का मार्ग है। तुम जागरूक रहो और धर्म के द्रष्टा बनो।"[1]

भगवान् महावीर धर्म के द्रष्टा थे। वे अचेतन में अचेतन धर्म को देखते थे और चेतन में चेतन धर्म को। वे यथार्थवादी थे। भय, प्रलोभन या अतिशयोक्तिपूर्ण प्रतिपादन उन्हें प्रिय नहीं था।

आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा है—'भगवन्! आपने यथार्थ तत्त्व का प्रतिपादन किया, इसलिए आपके व्यक्तित्व में वह कौशल प्रकट नहीं हुआ, जो घोड़े के सींग उगाने वाले नव-पंडित के व्यक्तित्व में प्रकट हुआ है।'

अनेकान्त दृष्टि और यथार्थवाद—ये दोनों साथ-साथ चलते हैं। जो अनेकान्त दृष्टि वाला नहीं होता, वह यथार्थवादी नहीं हो सकता और जो यथार्थवादी नहीं होता, वह अनेकान्त दृष्टि वाला नहीं हो सकता। भगवान् महावीर में अनेकान्त दृष्टि और यथार्थवाद—दोनों पूर्ण विकसित थे। इसलिए वे सत्य को संघीय क्षितिज के पार भी देखते थे।

१. एक बार भगवान् कौशाम्बी से विहार कर राजगृह आए और गुणशीलक चैत्य में ठहरे। गौतम स्वामी भिक्षा के लिए नगर में गए। उन्होंने जन-प्रवाद सुना—तुंगिका नगरी के बाहरी भाग में पुष्पवती नाम का चैत्य है। वहां भगवान् पार्श्व के शिष्य आए हुए हैं। कुछ उपासक उनके पास गए और कुछ प्रश्न पूछे।

---

१. उत्तरज्झयणाणि १०।३१ :

न हु जिणे अज्ज दिस्सई, बहुमए दिस्सई मग्गदेसिए।
संपइ नेयाउए पहे, समयं गोयम! मा पमायए॥

जन-जन के मुंह से यह बात सुन गौतम के मन में जिज्ञासा उत्पन्न हुई। उन्होंने उपासकों से पूछा—'बताओ, तुमने क्या प्रश्न किए और पार्श्वापत्यीय श्रमणों ने क्या उत्तर दिए ?'

'हमने उनसे पूछा—भंते ! संयम का क्या फल है ? तप का क्या फल है ?'

पार्श्वापत्यीय श्रमणों ने उत्तर दिया—'संयम का फल नए बंधन का निरोध है। तप का फल पूर्व बंधन का विमोचन है।'

'इस पर हमने पूछा—भंते ! संयम का फल नए बंधन का निरोध और तप का फल बंधन का विमोचन है तब फिर देवलोक में उत्पन्न होने का हेतु क्या है ?'

इस प्रश्न के उत्तर में स्थविर कालियपुत्त ने कहा—'आर्यो ! जीव पूर्व तप से देवलोक में उत्पन्न होते हैं।'

स्थविर मेहिल ने कहा—'आर्यो ! जीव पूर्व संयम से देवलोक में उत्पन्न होते हैं।'

स्थविर आनंदरक्षित ने कहा—'आर्यो ! शेष कर्मों से जीव देवलोक में उत्पन्न होते हैं।'

स्थविर काश्यप ने कहा—'आर्यो ! आसक्ति क्षीण न होने के कारण जीव देवलोक में उत्पन्न होते हैं।'

गौतम इन प्रश्नोत्तरों का विवरण प्राप्त कर भगवान् के पास पहुंचे।

भगवान् के सामने सारी बात रखकर बोले—'भंते ! क्या पार्श्वापत्यीय स्थविरों द्वारा प्रदत्त उत्तर सही है ? क्या वे सही उत्तर देने में समर्थ हैं ? क्या वे सम्यग्ज्ञानी हैं ? क्या वे अभ्यासी और विशिष्ट ज्ञानी हैं ?'

भगवान् ने कहा—'गौतम ! पार्श्वापत्यीय स्थविरों द्वारा प्रदत्त उत्तर सही हैं। वे सही उत्तर देने में समर्थ हैं। मैं भी इन प्रश्नों का यही उत्तर देता हूं।'

'भंते ! ऐसे श्रमणों की उपासना से क्या लाभ होता है ?'

'सत्य सुनने को मिलता है।'

'भंते ! उससे क्या होता है ?'

'ज्ञान होता है।'

'भंते ! उससे क्या होता है ?'

'विज्ञान होता है—सूक्ष्म पर्यायों का विवेक होता है।'

'भंते ! उससे क्या होता है ?'

'प्रत्याख्यान होता है—अनात्मा से आत्मा का पृथक्करण होता है।'

'भंते ! उससे क्या होता है ?'

'संयम होता है।'

'भंते ! उससे क्या होता है ?'

'अनाश्रव होता है—अनात्मा और आत्मा का संपर्क-सेतु टूट जाता है।'

'भंते ! उससे क्या होता है ?'

'तप करने की क्षमता विकसित होती है।'

'भंते ! उससे क्या होता है ?'

'पूर्व-संचित कर्म-मल क्षीण होते हैं।'

'भंते ! उससे क्या होता है ?'

'चंचलता विच्छिन्न होती है।'

'भंते ! उससे क्या होता है ?'

'सिद्धि होती है।'"[1]

२. भगवान् पार्श्व का धर्म-तीर्थ भगवान् महावीर के धर्म-तीर्थ से भिन्न था। उनके श्रमण भगवान् महावीर के श्रमणों से मतभेद भी रखते थे। समय-समय पर वे महावीर के सिद्धान्तों की आलोचना भी करते थे। फिर भी भगवान् महावीर ने पार्श्व के श्रमणों के यथार्थ-बोध का मुक्तभाव से समर्थन किया।

उस समय श्रमण-संघों का लोक-संग्रह की ओर झुकाव नगण्य था। उनकी सारी शक्ति आत्म-साधना तथा सत्य-शोध में लगती थी। इसीलिए उनमें साम्प्रदायिक आग्रह नहीं पनपा। जैन श्रमणों का लोक-संग्रह की ओर झुकाव बढ़ा तब एक नियम बना कि जैन श्रमण दूसरे श्रमणों या परिव्राजकों का सत्कार-सम्मान न करे। दूसरे का सत्कार-सम्मान करने से जैन उपासकों में श्रद्धा की शिथिलता आती है। वे जैन श्रमणों की अपेक्षा उन्हें अधिक पूजनीय मानने लग जाते हैं। अतः उपासकों की श्रद्धा को सुदृढ़ बनाए रखने के लिए मुनि अन्यतीर्थिक साधुओं का सत्कार-सम्मान न करे।

भगवान् महावीर के समय में यह नियम नहीं था। ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय व्यवहार काफी मुक्त था। भगवान् ने गौतम से कहा—'गौतम ! आज तुम अपने पूर्व-परिचित मित्र से मिलोगे।'

'भंते ! वह कौन है ?'

'उसका नाम स्कंदक है।'

'भंते ! मैं उससे कब मिलूंगा ?'

'वह अभी रास्ते में चल रहा है। बहुत दूर नहीं है। तुम अभी-अभी थोड़ी देर में उससे मिलोगे।'

'भंते ! क्या मेरा मित्र आपका शिष्य बनेगा ?'

'हां, बनेगा।'

भगवान् यह कह रहे थे, इतने में स्कंदक सामने आ गया। गौतम ने स्कंदक को निकट आते हुए देखा। वे तत्काल उठे और स्कंदक के सामने जाकर बोले—

---

१. भगवई, २।६२-१११।

'स्वागत है, स्कंदक ! सुस्वागत है, स्कंदक ! अन्वागत है, स्कंदक ! स्वागत-अन्वागत है, स्कंदक !' गौतम के मुक्त व्यवहार ने स्कंदक को मैत्री-सूत्र में बांध लिया।[1]

३. कृतंगला के पास श्रावस्ती नगरी थी। वहां परिव्राजकों का एक आवास था। उसका आचार्य था गर्दभाल। स्कंदक उनका शिष्य था। उस श्रावस्ती में पिंगल नाम का निर्ग्रन्थ रहता था। एक दिन वह परिव्राजक-आवास में चला गया।[2] उसने स्कंदक से पूछा—

१. लोक सांत है या अनन्त ?

२. जीव सांत है या अनन्त ?

३. मोक्ष सांत है या अनन्त ?

४. मुक्त-आत्मा सांत है या अनन्त ?

५. किस मरण से मरता हुआ जीव जन्म-मरण की परम्परा को बढ़ाता है या घटाता है ?

स्कंदक का मन संदेह से आलोड़ित हो उठा। वह इन प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सका। पिंगल ने इन प्रश्नों को फिर दोहराया। स्कंदक फिर मौन रहा। पिंगल उससे समाधान लिये बिना लौट आया।

परिव्राजक-आवास में मुक्त-गमन, मुक्त-आगमन और मुक्त-प्रश्न हृदय की मुक्तता से ही सम्भव था।

स्कंदक ने सुना, भगवान् महावीर कृतंगला से विहार कर श्रावस्ती आ गए हैं। उसने सोचा—मैं भगवान् महावीर के पास जाऊं और इन प्रश्नों का उत्तर प्राप्त करूं। उसे भगवान् महावीर के पास जाने और प्रश्नों का उत्तर पाने में कोई संकोच नहीं था। वह मुक्तभाव से भगवान् महावीर के पास गया। भगवान् ने मुक्तभाव से स्कंदक को उन प्रश्नों के उत्तर दिए। भगवान् ने कहा—'स्कंदक ! द्रव्य और क्षेत्र की दृष्टि से लोक सान्त है, काल और पर्याय की दृष्टि से लोक अनन्त है। इसी प्रकार जीव, मोक्ष और मुक्त-आत्मा भी द्रव्य और क्षेत्र की दृष्टि से सान्त हैं, काल और पर्याय की दृष्टि से अनन्त हैं। मरण दो प्रकार का होता है—बाल मरण और पंडित मरण। बाल मरण से मरने वाला जीव जन्म-मरण की परम्परा को बढ़ाता है और पंडित मरण से मरने वाला उसे घटाता है।'

भगवान् के उत्तर सुन स्कंदक परिव्राजक का मानस-चक्षु खुल गया। उसके

---

१. भगवई, २।२०-३६।

२. तीर्थंकर काल का ग्यारहवां वर्ष।

मुक्त मानस ने स्वीकृति दी और वह महावीर के पास दीक्षित हो गया।[1]

४. भगवान् महावीर राजगृह के गुणशीलक चैत्य में विहार कर रहे थे।[2] उस चैत्य के आसपास अनेक अन्यतीर्थिक परिव्राजक रहते थे। एक दिन कालोदायी, शैलोदायी आदि कुछ परिव्राजक परस्पर वातचीत करने लगे। उनके वार्तालाप का विपय था भगवान् महावीर के पंचास्तिकाय का निरूपण। वे वोले—'श्रमण महावीर पांच अस्तिकायों का निरूपण करते हैं—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, जीवास्तिकाय। इनमें पहले चार अस्तिकायों को वे अजीव वतलाते हैं और पांचवें अस्तिकाय को जीव। चार अस्तिकायों को वे अमूर्त वतलाते हैं और पुद्गलास्तिकाय को मूर्त। यह अस्तिकाय का सिद्धान्त कैसे माना जा सकता है ?'

परिव्राजकों का वार्तालाप चल रहा था। उस समय उन्होंने श्रमणोपासक मद्दुक को गुणशीलक चैत्य की ओर जाते हुए देखा। एक परिव्राजक ने प्रस्ताव किया—'श्रमण महावीर पंचास्तिकाय का प्रतिपादन करते हैं, यह हमें भलीभांति ज्ञात है। फिर भी अच्छा है कि मद्दुक से इस विषय में और जानकारी प्राप्त कर लें।' इस प्रस्ताव पर सव सहमत होकर वे मद्दुक के पास गए। उन्होंने कहा—'मद्दुक ! तुम्हारे धर्माचार्य श्रमण महावीर पंचास्तिकाय का प्रतिपादन करते हैं। उनमें चार अजीव हैं और एक जीव। चार अमूर्त हैं और एक मूर्त। मद्दुक ! अस्तिकाय प्रत्यक्ष नहीं है, अतः उन्हें कैसे माना जा सकता है ?'

मद्दुक ने उन परिव्राजकों से कहा—'जो क्रिया करता है, उसे हम जानते-देखते हैं और जो क्रिया नहीं करता, उसे हम नहीं जानते-देखते।'

सव परिव्राजक एक साथ वोल उठे—'तुम कैसे श्रमणोपासक हो जो अस्तिकाय को नहीं जानते-देखते ?'

'आयुष्मान् ! हवा चल रही है, यह आप मानते हैं ?'

'हां, मानते हैं।'

'आप हवा का रूप देख रहे हैं ?'

'नहीं, ऐसा नहीं होता।'

'आयुष्मान् ! नाक में गंधयुक्त पुद्गल प्रविष्ट होते हैं ?'

'हां, होते हैं।'

'आयुष्मान् ! आप नाक में प्रविष्ट गंधयुक्त पुद्गलों का रूप देखते हैं ?'

'नहीं, ऐसा नहीं होता।'

'आयुष्मान् ! अरणि में अग्नि होती है ?'

---

१. भगवई, २।९४-५३।

२. तीर्थंकरकाल का वाईसवां वर्ष।

'हां, होती है।'

'आयुष्मान् ! आप अरणि में रही हुई अग्नि का रूप देखते हैं ?'

'नहीं, ऐसा नहीं होता।'

'आयुष्मान् ! समुद्र के पार रूप हैं ?'

'हां, हैं।'

'आयुष्मान् ! आप समुद्र के पारवर्ती रूपों को देखते हैं ?'

'नहीं, ऐसा नहीं होता।'

'आयुष्मान् ! देवलोक में रूप हैं ?'

'हां, हैं।'

'आयुष्मान् ! आप देवलोक में विद्यमान रूपों को देखते हैं ?'

'नहीं, ऐसा नहीं होता।'

'आयुष्मान् ! जैसे उक्त वस्तुओं के न दीखने पर भी उनके अस्तित्व को कोई आंच नहीं आती वैसे ही मैं या आप न जानें-देखें उससे वस्तु का नास्तित्व प्रमाणित नहीं होता। यदि आप वस्तु के न दीखने पर उसका अस्तित्व स्वीकार नहीं करेंगे तो आपको जगत् के बहुत बड़े भाग के अस्तित्व को अस्वीकार करना होगा।'

मद्दुक के इस तर्क पर सब परिव्राजक मौन हो गए। तब वह वहां से चल भगवान् महावीर के पास पहुंचा। भगवान् ने उसे सम्बोधित कर कहा—'मद्दुक ! तुमने कहा—जो क्रिया करता है, उसे हम जानते-देखते हैं और जो क्रिया नहीं करता, उसे हम नहीं जानते-देखते। यह बहुत सुन्दर कहा, यह बहुत उचित कहा। जो व्यक्ति अज्ञात, अदृष्ट, अश्रुत, अमत और अविज्ञात अर्थ का जन-जन के बीच निरूपण करता है, वह सत्य की अवहेलना करता है।'

कुछ दिनों बाद उन परिव्राजकों ने गौतम से फिर वही प्रश्न पूछा। गौतम ने उत्तर की भाषा में कहा—'देवानुप्रियो ! हम अस्ति को नास्ति और नास्ति को अस्ति नहीं कहते हैं। हम सम्पूर्ण अस्ति को अस्ति और सम्पूर्ण नास्ति को नास्ति कहते हैं। इसलिए भगवान् ने उन्हीं के अस्तित्व का प्रतिपादन किया है जिनका अस्तित्व है।'

गौतम का यह उत्तर सुन परिव्राजक मौन हो गए। पर उनके मन का संदेह दूर नहीं हुआ।

गौतम भगवान् के पास पहुंचे। उनके पीछे-पीछे परिव्राजक कालोदायी वहां पहुंचा। उस समय भगवान् विशाल परिषद् में धर्म-संवाद कर रहे थे। भगवान् ने कालोदायी को सम्बोधित कर कहा—'कालोदायी ! तुम्हारी मंडली में यह चर्चा चली थी कि श्रमण महावीर पंचास्तिकाय का निरूपण करते हैं। पर जो प्रत्यक्ष नहीं है, उन्हें कैसे माना जा सकता है ?'

कालोदायी ने स्वीकृतिसूचक सिर हिलाते हुए कहा—'भंते ! चली थी।'

'कालोदायी ! पंचास्तिकाय हैं या नहीं—यह प्रश्न किसे होता है ?'

'भंते ! आत्मा को होता है।'

'क्या आत्मा है ?'

'भंते ! वह अवश्य है। अचेतन को कभी जिज्ञासा नहीं होती।'

'कालोदायी ! जिसे तुम आत्मा कहते हो, उसे मैं जीवास्तिकाय कहता हूं।'

'भंते ! यह ठीक है। पर धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय का अस्तित्व कैसे माना जा सकता है ?'

'मछली जल में तैरती है। तैरने की शक्ति मछली में है या जल में ?'

'भंते ! तैरने की शक्ति मछली में है, जल में नहीं है। जल उसके तैरने में सहायक बनता है।'

'इसी प्रकार जीव और पुद्‌गल की गति में सहायता की अपेक्षा होती है। उसकी पूर्ति जिससे होती है, वह तत्त्व धर्मास्तिकाय है।'

'भंते ! अधर्मास्तिकाय की क्या अपेक्षा है ?'

'चिलचिलाती धूप है। पथिक चल रहा है। एक सघन पेड़ आया। ठंडी छांह देखी और पथिक ठहर गया। उसकी स्थिति में निमित्त बनी छाया। इसी प्रकार जो स्थिति में निमित्त बनता है, वह तत्त्व अधर्मास्तिकाय है।'

'भंते ! तब आकाश का क्या कार्य होगा ?'

'आकाश आधार देता है, स्थिति नहीं। गति और स्थिति—दोनों उसी में होते हैं।'

'भंते ! फिर पुद्‌गलास्तिकाय क्या है ?'

'इस लता पर लगे फूल को देख रहे हो ?'

'भंते ! हां, इसका लाल रंग देख रहा हूं।'

'इसकी विशेषता क्या है ?'

'भंते ! गंध।'

'यह मधुमक्खी क्यों भिनभिना रही है ?'

'भंते ! इसका रस लेने के लिए।'

'इसका स्पर्श कैसा है ?'

'भंते ! बहुत कोमल।'

'कालोदायी ! जिस वस्तु में वर्ण, गंध, रस और स्पर्श होते हैं, उसे मैं पुद्‌गलास्तिकाय कहता हूं।'

'भंते ! धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय पर कोई जीव बैठ सकता है ? खड़ा रह सकता है ? लेट सकता है ?'

'नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। केवल पुद्‌गल पर ही कोई बैठ सकता है, खड़ा

रह सकता है और लेट सकता है।'

भगवान् का उत्तर सुन कालोदायी का संदेह दूर हो गया।[1] वह भगवान् के पास प्रव्रजित हो गया।[2]

ये कुछ घटनाएं प्रस्तुत करती हैं मुक्त-मानस और मुक्त-द्वार के उन्मुक्त चित्र।

---

१. भगवई, १८।१३४-१४२।

२. भगवई, ७।२२० : एत्थ णं से कालोदाई ... पव्वइए।

३४

समन्वय की दिशा का उद्घाटन

जल और अग्नि में प्राकृतिक वैर है। दोनों एक साथ नहीं रह सकते। अग्नि उष्ण है और जल शीत। शीत उष्ण को मिटा देता है, जल अग्नि को बुझा देता है। क्या उष्ण और शीत में कोई सम्बन्ध नहीं है ?जल अग्नि को बुझा देता है, इसलिए इनमें सम्बन्ध की स्थापना कैसे की जा सकती है ? जल भी पदार्थ है और अग्नि भी पदार्थ है। पदार्थ का पदार्थ के साथ सम्बन्ध नहीं होने की बात कैसे कही जा सकती है ? समस्या के दोनों तटों का पार पाने के लिए समन्वय का सेतु खोजा गया। समन्वय दो सम्बन्धों के व्यवधान को जोड़ने वाला सूत्र है। भगवान् महावीर ने उष्ण और शीत के बीच समन्वय की स्थापना की। उस सिद्धान्त के अनुसार उष्ण उष्ण ही नहीं है, वह शीत भी है और शीत शीत ही नहीं है, वह उष्ण भी है। उष्ण और शीत—दोनों सापेक्ष हैं। मक्खन को पिघलाने वाली अग्नि की ऊष्मा मक्खन के लिए उष्ण है और लोहे के लिए उष्ण नहीं है। वह अग्नि की साधारण ऊष्मा से नहीं पिघलता।

विश्व के जितने तत्त्व हैं, वे परस्पर किसी न किसी सम्बन्ध-सूत्र से जुड़े हुए हैं। कोई वस्तु दूसरी वस्तु से सर्वथा सदृश नहीं है और सर्वथा विसदृश भी नहीं है। हम कुछ वस्तुओं को सदृश मानते हैं और कुछ को विसदृश। इसका हेतु वस्तु की वास्तविकता नहीं है। यह हमारी दृष्टि का अन्तर है। हम सदृशता देखना चाहते हैं तब उसे भी देख लेते हैं और विसदृशता देखना चाहते हैं तब उसे भी देख लेते हैं। वस्तु में दोनों हैं, इसलिए जिसे देखना चाहें उसका मिलना स्वाभाविक बात है।

सदृशता और विसदृशता का सिद्धान्त वस्तु की यथार्थता है, इसलिए कोई भी यथार्थवादी विचार एकांगी नहीं हो सकता, अपेक्षा से शून्य नहीं हो सकता।

भगवान् महावीर ने विचार और व्यवहार—दोनों क्षेत्रों में समन्वय के

सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उनकी परम्परा ने विचार के क्षेत्र में समन्वय के सिद्धान्त की सुरक्षा ही नहीं की है, उसे विकसित भी किया है। किन्तु व्यवहार के क्षेत्र में उसकी विस्मृति ही नहीं की है, उसकी अवहेलना भी की है।

हरिभद्रसूरि ने नास्तिक को दार्शनिकों के मंच पर उपस्थित कर दर्शन जगत् को समन्वय की शक्ति से परिचित करा दिया। आस्तिक दर्शन नास्तिक को दर्शन की कक्षा में सम्मिलित करने की कल्पना नहीं करते थे। हरिभद्र ने उसे आकार दे दिया।

उपाध्याय यशोविजयजी के सामने प्रश्न आया कि आस्तिक कौन और नास्तिक कौन ? उन्होंने समन्वयदृष्टि से देखा और वे कह उठे—'पूरा नास्तिक कोई नहीं है और पूरा आस्तिक भी कोई नहीं है। चार्वाक आत्मा को नहीं मानता, इसलिए नास्तिक है तो एकान्तवादी दर्शन वस्तु के अनेक धर्मों को नहीं मानते, फिर वे नास्तिक कैसे नहीं होंगे ? धर्मों को स्वीकारने वाले एकान्तवादी दर्शन यदि आस्तिक हैं तो धर्मों का स्वीकार करने वाला चार्वाक आस्तिक कैसे नहीं है ?'

आचार्य अकलंक ने कहा—'आत्मा चैतन्य धर्म की अपेक्षा से आत्मा है, शेष धर्मों की अपेक्षा से आत्मा नहीं है। आत्मा और अनात्मा में समान धर्मों की कमी नहीं है।'

सिद्धसेन, समन्तभद्र, अकलंक, हरिभद्र, हेमचन्द्र आदि आचार्यों ने समन्वय की परम्परा को इतना उजागर किया कि जैन दर्शन का सिन्धु सब दृष्टि-सरिताओं को समाहित करने में समर्थ हो गया।

वेदान्त का अद्वैत जैन दर्शन का संग्रह नय है। चार्वाक का भौतिक दृष्टिकोण जैन दर्शन का व्यवहार नय है। बौद्धों का पर्यायवाद जैन दर्शन का ऋजुसूत्र नय है। वैयाकरणों का शब्दाद्वैत जैन दर्शन का शब्द नय है। जैन दर्शन ने इन सब दृष्टिकोणों की सत्यता स्वीकार की है, किन्तु एक शर्त के साथ। शर्त यह है कि इन दृष्टिकोणों के मनके समन्वय के धागे में पिरोए हुए हों तो सब सत्य हैं और ये अपनी सत्यता प्रमाणित कर दूसरों के अस्तित्व पर प्रहार करते हों तो सब असत्य हैं। समन्वय का बोध सत्य का बोध है। समन्वय की व्याख्या सत्य की व्याख्या है। अनन्त सत्य एक दृष्टिकोण से गम्य और एक शब्द से व्याख्यात नहीं हो सकता।

समन्वय सिद्धान्त के प्रसंग में एक जिज्ञासा उभरती है कि महावीर ने सब दर्शनों की दृष्टियों का समन्वय कर अपने दर्शन की स्थापना की या उनका कोई अपना मौलिक दर्शन है ?

महावीर के दो विशेषण हैं—सर्वज्ञ और सर्वदर्शी। वे सबको जानते थे और सबको देखते थे। सर्वज्ञान और सर्वदर्शन के आधार पर उन्होंने अपने दर्शन की व्याख्या की। उसका मौलिक स्वरूप यह है कि प्रत्येक द्रव्य में अनन्त धर्म हैं और

प्रत्येक धर्म अपने विरोधी धर्म से युक्त है। एक द्रव्य में अनन्त विरोधी युगल एक साथ रह रहे हैं। यह सिद्धान्त विभिन्न दृष्टियों के समन्वय से निष्पन्न नही हुआ है। किन्तु इस सिद्धान्त से समन्वय का दर्शन फलित हुआ है। समन्वय का सिद्धान्त मौलिक नहीं है। मौलिक है एक द्रव्य में अनन्त विरोधी युगलों का स्वीकार और प्रतिपादन।

सामान्य और विशेष—दोनों द्रव्य के धर्म हैं। इसलिए महावीर को समझने वाला सामान्यवादी वेदान्त और विशेषवादी बौद्ध का समर्थन या विरोध नहीं कर सकता। वह दोनों में समन्वय देखता है, संगति देखता है। जब हम पर्याय की ओर पीठ कर द्रव्य को देखते हैं तब हमें सामान्य केवल सामान्य, अद्वैत केवल अद्वैत दिखाई देता है और जब हम द्रव्य की ओर पीठ कर पर्याय को देखते हैं तब हमें विशेष केवल विशेष, द्वैत केवल द्वैत दिखाई देता है। किन्तु महावीर को समझने वाला इस बात को नहीं भूलता कि कोई भी द्रव्य पर्याय से शून्य नहीं है और कोई भी पर्याय द्रव्य से शून्य नहीं है। केवल सामान्य या केवल विशेष को देखना दृष्टि के कोण हैं, मर्यादाएं हैं। वास्तविकता के सागर में सामान्य और विशेष—दोनों एक साथ तैर रहे हैं।

समन्वयवादी बाह्य और अंतरंग, स्थूल और सूक्ष्म, मूर्त और अमूर्त, दोनों के समन्वय-सूत्र को खोजकर वस्तु की समग्रता का बोध करता है।

क्या आज का महावीर का अनुयायी समाज समन्वयवादी है? इस प्रश्न का उत्तर सिद्धान्त में नहीं खोजा जा सकता। यह खोजा जा सकता है चिंतन-भेद, घृणा अथवा व्यक्तिगत या साम्प्रदायिक महत्त्वाकांक्षा के धरातल पर। सब लोगों का और एक समाज में रहने वाले सब लोगों का भी चिंतन एक जैसा नहीं होता। जब तक उसका समीकरण होता रहता है तब तक वे साथ में रह पाते हैं और जब अहं की प्रबलता समीकरण नहीं होने देती तब चिंतन-भेद स्थिति-भेद में बदल जाता है। घृणा और महत्त्वाकांक्षा भी स्थिति-भेद उत्पन्न करती है। इन परिस्थितियों में बौद्धिक समन्वयवाद व्यवहार को प्रभावित नहीं करता। उसे प्रभावित करता है अहिंसक समन्वयवाद। भगवान् महावीर का समन्वय का सिद्धान्त वस्तु-जगत् में बौद्धिक है, प्राणी-जगत् में वह अहिंसक है।

कितना कठिन है विचार और व्यवहार में सामंजस्य लाने वाले अहिंसक समन्वय की दिशा का उद्घाटन?

३५

सर्वजन हिताय : सर्वजन सुखाय

भिन्न-भिन्न वस्तुओं को देखने के लिए भिन्न-भिन्न आंखों की जरूरत नहीं है—इस वाक्य की अभिधा से असहमति नहीं है तो इसकी व्यंजना से पूर्ण सहमति भी नहीं है।

गुरु ने शिष्य से पूछा—'देखता कौन है ?'

शिष्य ने कहा—'आंख।'

गुरु—'क्या अंधकार में आंख देख सकती है ?'

शिष्य—'प्रकाश और आंख दोनों मिलकर देखते हैं।'

गुरु—'आंख भी है और प्रकाश भी है पर आदमी अन्यमनस्क है तो क्या वह देखता है ?'

शिष्य—'मैं अपनी बात में थोड़ा संशोधन करना चाहता हूं। मन, प्रकाश और आंख—तीनों मिलकर देखते हैं।'

गुरु—'एक बच्चे ने आग को देखा और उसमें हाथ डाल दिया। क्या उसने आग को नहीं देखा ?'

शिष्य—'बच्चे मे बुद्धि का विकास नहीं होता। वास्तव में पूर्ण दर्शन तब होता है जब बुद्धि, मन, आंख और प्रकाश—ये चारों एक साथ होते हैं।'

गुरु—'एक बुद्धिमान् आदमी को मैंने जुआ खेलते देखा है। क्या वह देखता है ?'

शिष्य—'सही अर्थ में वही देखता है, जिसकी बुद्धि पर अस्तित्व का वरद हस्त होता है।'

व्यक्ति के दो रूप होते हैं—व्यक्तित्व और अस्तित्व। अस्तित्व का अर्थ है 'होना' और व्यक्तित्व का अर्थ है 'कुछ होना'। हम नाम-रूप आदि को देखते हैं, तब हमें व्यक्तित्व का दर्शन होता है। हम चेतना के जागरण को देखते हैं तब हमें

व्यक्तित्व की पृष्ठभूमि में क्रियाशील अस्तित्व का दर्शन होता है।

महावीर के व्यक्तित्व का अस्तित्व पर अधिकार होता तो उनकी वाणी में मृदुता और हृदय में क्रूरता होती। उनकी वाणी और हृदय—दोनों में मृदुता का अतल प्रवाह है। इससे प्रतीत होता है कि उनका अस्तित्व व्यक्तित्व पर छाया हुआ था।

व्यक्तित्व के धरातल पर महावीर एक संघ के शास्ता, संघबद्ध धर्म के व्याख्याता और एक पंथ के प्रवर्तक हैं। अस्तित्व के धरातल पर वे केवल 'हैं'। 'होने' के सिवाय और कुछ नहीं हैं। वे न संघ के शास्ता हैं और न शासित, न धर्म के व्याख्याता हैं और न श्रोता, न द्वैतवादी हैं और न अद्वैतवादी। द्वैत और अद्वैत, व्याख्या और श्रुति, शासन और स्वीकृति—ये सब अस्तित्व की शाखाएं हैं। महावीर की सम्पूर्ण यात्रा व्यक्तित्व से अस्तित्व की ओर है। महावीर ने कहा[1]—

'जिसे तू मारना चाहता है, वह तू ही है।'

'जिस पर तू शासन करना चाहता है, वह तू ही है।'

'जिसे तू परितप्त करना चाहता है, वह तू ही है।'

'जिसे तू दास बनाना चाहता है, वह तू ही है।'

'जिसे तू उपद्रुत करना चाहता है, वह तू ही है।'

इस पद-पद्धति को पढ़कर अद्वैतवादी कहेगा—महावीर अद्वैतवादी थे। जैन दर्शन का विद्यार्थी उलझ जाएगा कि महावीर द्वैतवादी थे, फिर उन्होंने अद्वैत की भाषा का प्रयोग कैसे किया? महावीर इन दोनों से ही दूर हैं। वे अस्तित्ववादी हैं। अद्वैत और द्वैत—दोनों अस्तित्व से निकलते हैं इसलिए अस्तित्ववादी कभी अद्वैत की भाषा में बोल जाता है और कभी द्वैत की भाषा में। 'होने' की अनुभूति में जो एकात्मकता है, वह 'कुछ होने' की अनुभूति में नहीं हो सकती। 'कुछ होने' का अर्थ भेदानुभूति है। उसमें हिंसा का संस्कार क्षीण नहीं होता। अपनी हिंसा कोई नहीं चाहता। यदि कोई आत्मा मुझसे भिन्न नहीं है तो मैं किसे मारूंगा? अस्तित्व के धरातल पर यह अभेदानुभूति है। यही है अहिंसा। आत्मा ही हिंसा है और आत्मा ही अहिंसा है। आत्मा-आत्मा के बीच भेदानुभूति है, वह हिंसा है और आत्मा-आत्मा के बीच अभेदानुभूति है, वह अहिंसा है। जहां केवल 'होना' है, वहां भेद और अभेद की भाषा नहीं है। यह भाषा उस जगत् की है, जहां 'कुछ होना' ही सत्य है। व्यक्तित्व के जगत् में महावीर का तर्क दूसरा है। वे कहते हैं—'किसी प्राणी को मत मारो।'

महावीर का युग यज्ञ का युग था। उस युग के ब्राह्मण यज्ञ की हिंसा का मुक्त समर्थन करते थे। उनका सिद्धान्त था कि धर्म के लिए किया जाने वाला प्राणी

---

१. आयारो, ५।१०१।

का हनन निर्दोष है। इस प्रकार की हिंसा का उन्मूलन करने के लिए भगवान् ने आत्म-तुला की भाषा का प्रयोग किया। भगवान् ने उनसे कहा—'मैं आप सबसे पूछना चाहता हूं कि आपको सुख अप्रिय है या दु:ख अप्रिय है ?'

उन्होंने नहीं कहा कि सुख अप्रिय है। यह प्रत्यक्ष विरुद्ध बात वे कैसे कहते ? उन्होंने कहा—'हमें दु:ख अप्रिय है।' तब भगवान् ने कहा—'जैसे आपको दु:ख अप्रिय है, वैसे ही दूसरे प्राणियों को दु:ख अप्रिय है। प्राण का हरण दुनिया में सबसे बड़ा भय है। फिर आप लोग हिंसा को अहिंसा का जामा कैसे पहनाते हैं ? धर्म के नाम पर हिंसा का समर्थन कैसे करते हैं ?'

इस अद्वैत की भाषा में मारने वाला व्यक्ति मारे जाने वाले व्यक्ति से भिन्न है। व्यक्तित्व की भिन्नता होने पर भी दोनों में एक धर्म समान है। वह है दु:ख की अप्रियता। इस समान धर्म की अनुभूति होने पर हिंसा की वृत्ति शान्त हो जाती है।

पुराने जमाने में पंचायत समाज की प्रभावी संस्था थी। पंच का फैसला न्यायाधीश के फैसले की भांति मान्य होता था। एक व्यक्ति पर अपने पड़ोसी की भैंस चुराने का आरोप आया। मामला पंचों तक गया। पंच न्याय करने बैठे। अभियुक्त को सामने बैठा दिया। वह अभियोग स्वीकार नहीं कर रहा था। पंचों ने धर्म-न्याय करने का निर्णय लिया। उन्होंने एक तवा गर्म करवाया। वह अग्निमय हो गया। पंचों ने निर्णय सुनाया कि यह गर्म तवा इसके हाथ पर रखा जाएगा। इसका हाथ नहीं जलेगा तो यह चोरी के आरोप से मुक्त समझा जाएगा और यदि इसका हाथ जल गया तो इस पर लगाया गया चोरी का आरोप सिद्ध हो जाएगा। अभियुक्त ने इस निर्णय को स्वीकार कर लिया।

एक पंच उठा। संडासी से तवा पकड़ अभियुक्त के हाथ पर रखने लगा। उसने हाथ खींच लिया। पंच ने उसे डांटा। वह बोला—'डांटने की कोई आवश्यकता नहीं है। पंच का हाथ तो मेरा हाथ है। पंच की संडासी तो मेरी संडासी है। पंच महोदय ! आप तो चोर नहीं हैं ? आप इस तवे को हाथ से उठाकर दीजिए, मेरा हाथ इसे झेलने को तैयार है।'

इस समानता के सूत्र ने निर्णय का मार्ग बदल दिया। पंच चुपचाप अपने आसन पर बैठ गया।

भगवान् महावीर ने इस समानता के सूत्र द्वारा हज़ारों-हज़ारों व्यक्तियों को जागृत किया।

भगवान् बुद्ध ने 'बहुजनहिताय' का उद्घोष किया। भगवान् महावीर ने 'सर्वजीवहिताय' की उद्घोषणा की।

गौतम ने पूछा—'भंते ! शाश्वत धर्म क्या है ?'

भगवान् ने कहा—'अहिंसा।'

'भंते ! अहिंसा किनकी रक्षा के लिए है ?'

'सब जीवों की रक्षा के लिए।'

'भंते ! थोड़े जीवों की हिंसा द्वारा बहुतों की रक्षा सम्भव है। पर सबकी रक्षा कैसे सम्भव है ?'

'अहिंसा के घड़े में शत्रुता का एक भी छेद नहीं रह सकता। वह पूर्ण निश्छिद्र होकर ही समत्व के जल को धारण कर सकता है।'

'भंते ! अहिंसा का सन्देश किन तक पहुंचाएं ?'

'हर व्यक्ति तक पहुंचाओ, फिर वह—
जागृत हो या सुप्त,
अस्तित्व के पास उपस्थित हो या अनुपस्थित,
अस्तित्व की दिशा में गतिमान् हो या गतिशून्य,
संग्रही हो या असंग्रही,
बन्धन खोज रहा हो या विमोचन
—यह अहिंसा का सन्देश 'सर्वजीवहिताय' है, इसलिए इसे सब तक पहुंचाओ।'[1]

भगवान् महावीर अस्तित्व को देखते थे, इसलिए व्यक्तित्व उनके पथ में कोई सीमारेखा नहीं खींच पाता था। उस समय व्यक्तिवादी पुरोहित उच्चवर्ग के हितों का संरक्षण करते थे। उनका धर्म दो दिशाओं में चलता था। अभिजात वर्ग के लिए उनके धर्म की धारणा एक प्रकार की थी और निम्नवर्ग के लिए दूसरे प्रकार की। अभिजात वर्ग का धर्म है सेवा लेना और शूद्र का काम है सेवा देना और सब कुछ सहना। इस स्थिति को धर्म का संरक्षण प्राप्त हो गया था। भगवान् महावीर ने इसे सर्वथा अस्वीकार कर दिया। उन्होंने कहा—'इस धारणा में अभिजात वर्ग के हितों के संरक्षण का भद्दा प्रयत्न है। यह धर्म नहीं है, नितान्त अधर्म है। इससे सर्वजीवहिताय की भावना विखंडित होती है।' इस अधर्म की उत्थापना के लिए भगवान् ने भिक्षुओं से कहा—'भिक्षुओ ! तुम परिव्रजन करो तथा अभिजात और निम्न वर्ग को एक ही धर्म की शिक्षा दो। जो धर्म अभिजात वर्ग के लिए है, वही निम्न वर्ग के लिए है और जो निम्न वर्ग के लिए है, वही अभिजात वर्ग के लिए है। अभिजात और निम्न—दोनों के लिए मैंने एक ही धर्म का प्रतिपादन किया है।'

व्यक्तित्व के भेद अस्तित्व की सीमा में प्रविष्ट नहीं होने चाहिए। धर्म का क्षेत्र अस्तित्व का क्षेत्र है। वह व्यक्तित्व के भेदों से मुक्त रहकर ही पवित्र रह सकता है।

---

१. आयारो, ४।१,४।

न्याय-दर्शन के प्रणेता महर्षि गौतम ने जल्प, वितण्डा और छल को तात्विक मान्यता दी। धर्म की सुरक्षा के लिए इन्हें विहित बतलाया। संगठन के सन्दर्भ में यह बहुत ही सूझ-बूझ की बात है। किन्तु अस्तित्व के सन्दर्भ में इनकी अर्हता नहीं है। भगवान् महावीर ने वाद-काल में भी अहिंसा को प्राथमिकता देने का सिद्धान्त निरूपित किया। जय और पराजय की बात व्यक्तिवादी के लिए विशिष्ट घटना हो सकती है, अस्तित्ववादी के लिए उसका विशेष अर्थ नहीं है। चेतना के जगत् में वाद करने वाले दोनों चेतनावान् हैं, समान चेतना के अधिकारी हैं, फिर कौन जीतेगा और कौन हारेगा? यह जय-पराजय की क्रीड़ा व्यक्तित्ववादी को ही शोभा दे सकती है। अस्तित्ववादी इस प्रपंच से मुक्त रहने में ही अपना श्रेय देखता है।

वाद के विषय में भगवान् महावीर ने तीन तत्त्व प्रतिपादित किए--

१. तत्त्व-जिज्ञासा का हेतु उपस्थित हो तभी वाद किया जाए।

२. वाद-काल में जय-पराजय की स्थिति उत्पन्न न की जाए।

३. प्रतिवादी के मन में चोट पहुंचाने वाले हेतुओं और तर्कों का प्रयोग न किया जाए।

अस्तित्ववादी की दृष्टि में व्यक्ति व्यक्ति नहीं होता, वह सत्य होता है, चैतन्य का रश्मिपुंज होता है। उसकी अन्तर्भेदी दृष्टि व्यक्तित्व के पार पहुंचकर अस्तित्व को खोजती है। अस्तित्व में यह प्रश्न नहीं होता कि यह कौन है और किसका अनुयायी है? यह प्रश्न व्यक्तित्व की सीमा में होता है। अस्तित्व के क्षेत्र में सत्य चलता है और व्यक्तित्व के क्षेत्र में व्यवहार।

भगवान् महावीर अस्तित्वादी होते हुए भी व्यक्तित्व की मर्यादा के प्रति बहुत जागरूक थे। वे व्यक्ति को अस्तित्व की ओर ले जाने में उसके व्यक्तित्व का भी उपयोग करते थे। भगवान् ने कहा—'भिक्षुओ! किसी व्यक्ति के साथ धर्म-चर्चा करो, तब पहले यह देखो कि यह पुरुष कौन है और किसका अनुयायी है।'

एक बार भगवान् राजगृह में उपस्थित थे। उस समय भगवान् पार्श्व के श्रमण भगवान् के पास आए। उन्होंने पूछा—'भंते! इस असंख्य लोक में अनन्त दिन-रात उत्पन्न और नष्ट हुए हैं या संख्येय?' भगवान् ने कहा—'श्रमणो! इस असंख्य लोक में अनन्त दिन-रात उत्पन्न और नष्ट हुए हैं।'

उन्होंने पूछा—'भंते! इसका आधार क्या है?'

भगवान् ने कहा—'आपने भगवान् पार्श्व के श्रुत का अध्ययन किया है। वही इसका आधार है। भगवान् पार्श्व ने निरूपित किया है कि लोक शाश्वत है—अनादि-अनन्त है। यह अनादि-अनन्त है, इसलिए इसमें अनन्त दिन-रात उत्पन्न और नष्ट हुए हैं और होंगे।'[1]

---

१. भगवई, ५।२५४, २५५।

भगवान् महावीर तीर्थंकर थे—शास्त्रकार थे। दूसरे के वचन को उद्धृत करना उनके लिए आवश्यक नहीं था। फिर भी उन्होंने भगवान् पार्श्व के वचन को उद्धृत किया। इसका हेतु था भगवान् पार्श्व के श्रमणों को सत्य का बोध कराना। भगवान् पार्श्व के वचन का साक्ष्य देने से वह सरलता से हो सकता था, इसलिए भगवान् ने भगवान् पार्श्व के वचन का साक्ष्य प्रस्तुत किया। साथ-साथ भगवान् ने यह रहस्य भी समझा दिया कि सत्य स्वयं सत्य है। वह किसी व्यक्ति के निरूपण से सत्य नहीं बनता। जिन्हें दर्शन प्राप्त हो जाता है, वे सब उसी सत्य को देखते हैं, जो स्वयं सत्य है, किसी के द्वारा निरूपित होने से सत्य नहीं है।

भगवान् ने गौतम को आत्मा का बोध देने के लिए वेद मंत्र उद्धृत किए थे।[1] इन सबके पीछे भगवान् का सापेक्षवाद बोल रहा था। सत्य सबके लिए एक है। उसका दर्शन सबको हो सकता है। वह किसी के द्वारा अधिकृत नहीं है। उसकी अभिव्यक्ति पर भी किसी का एकाधिकार नहीं है। इस यथार्थ का प्रतिपादन करने के लिए भी भगवान् दूसरों के वचन को उद्धृत करते और जिज्ञासा करने वाले को यह समझाते कि तुम जो जानना चाहते हो, उसका उत्तर तुम्हारे धर्मशास्त्र में भी दिया हुआ है।

१. आवश्यक चूर्णि, पूर्वभाग, पृ० ३३६ : वेदपदाण य अत्थो भगवता से कहितो।

३६

धर्म-परिवर्तन : सम्मत और अनुमत

कुछ लोग पूछते हैं कि जैन हिन्दू हैं या नहीं ? उलझन-भरा प्रश्न है, इसलिए इसका उत्तर भी उलझन-भरा है। जैन कोई जाति नहीं है। वह एक धर्म है, तत्त्व-दर्शन है, विचार है। भारतीय जनता ने अनेक धर्मों को जन्म दिया है। उनमें मुख्य दो हैं—श्रमण और वैदिक। श्रमण धर्म पौरुषेय दर्शन के आधार पर चलता है। वैदिक धर्म का आधार है अपौरुषेय वेद। यह प्रश्न हो कि जैन वैदिक हैं या नहीं ? अथवा वैदिक जैन हैं या नहीं ? अथवा बौद्ध वैदिक हैं या नहीं ? यह सरल प्रश्न है और इसका उत्तर सरलता से दिया जा सकता है। जैन वैदिक नहीं हैं और वैदिक जैन नहीं हैं। दोनों दो भिन्न विचारधाराओं को मानकर चलते हैं, इसलिए दोनों एक नहीं हैं। किन्तु हिन्दू दोनों हैं। हिन्दू एक जाति है, जैन और वैदिक कोई जाति नहीं है। वह एक विचार है, दर्शन है। भगवान् महावीर के युग में चलिए। वहां आपको एक परिवार में अनेक धर्मों के दर्शन होंगे। पति वैदिक है, पत्नी जैन। पति जैन है, पत्नी वैदिक। पति बौद्ध है, पत्नी जैन। पति आजीवक है, पत्नी बौद्ध। धर्म का स्वीकार उनके पारिवारिक जीवन में उलझन पैदा नहीं करता था। वे अपने जीवन में धर्म का परिवर्तन भी करते थे। जैन बौद्ध हो जाता और बौद्ध जैन। जैन वैदिक हो जाता और वैदिक जैन। यह जाति-परिवर्तन नहीं, किन्तु विचार-परिवर्तन था। भारतीय जाति में इस विचार-परिवर्तन की पूरी स्वतन्त्रता थी। प्रदेशी राजा नास्तिक था। वह परलोक और पुनर्जन्म को नहीं मानता था। उसका अमात्य चित्त पूरा आस्तिक था। भगवान् पार्श्व का अनुयायी था। उसके प्रयत्न से प्रदेशी कुमार-श्रमण केशी के पास गया। उसके विचार बदल गए। वह भगवान् पार्श्व का अनुयायी बन गया।[1] स्कंदक, अम्मड़ आदि अनेक परिव्राजक

---

१. रायपसेणइयं, सूत्र ७८६।

भगवान् महावीर के पास प्रव्रजित हुए।[1] जैन, बौद्ध और आजीवन धर्म के अनुयायी वैदिक धर्म में दीक्षित नहीं हुए, यह नहीं कहा जा सकता। यह परिवर्तन अपनी रुचि और विचार के अनुसार चलता था। यह जाति-परिवर्तन नहीं था। इससे राष्ट्रीय चेतना भी नहीं बदलती थी। यह कार्य केवल विचार-परिवर्तन तक ही सीमित था। इसलिए इसे सब धर्मों द्वारा मान्यता मिली हुई थी।

मगध सम्राट् श्रेणिक का व्यक्तित्व उन दिनों बहुचर्चित था। उसके पिता का नाम प्रसेनजित था। वह भगवान् पार्श्व का अनुयायी था। श्रेणिक अपने कुल-धर्म का अनुसरण करता था। एक बार प्रसेनजित ने क्रुद्ध होकर श्रेणिक को अपने राज्य से निकाल दिया। उस समय वह एक बौद्ध मठ में रहा। वहां उसने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया। वह राजा बनने के बाद भी बौद्ध बना रहा। उसकी पटरानी थी चिल्लणा। वह भगवान् पार्श्व की शिष्या थी और श्रेणिक था भगवान् बुद्ध का शिष्य। दोनों दो दिशागामी थे और दोनों चाहते थे एक दिशागामी होना। श्रेणिक चिल्लणा को बौद्ध धर्म में दीक्षित करना चाहता था और चिल्लणा श्रेणिक को जैन धर्म में दीक्षित करना चाहती थी। दोनों में विचार का भेद था पर पारिवारिक प्रेम से दोनों अभिन्न थे। उनका विचारभेद उनके सघन प्रेम में एक भी छेद नहीं कर सका। भगवान् महावीर और भगवान् बुद्ध—दोनों अहिंसा, मैत्री, शान्ति और सहिष्णुता के प्रवर्तक थे। दोनों घृणा करना नहीं सिखाते थे। इसलिए राजा और रानी के बीच कभी भी घृणा का बीज अंकुरित नहीं हुआ। एक दिन श्रेणिक मंडिकुक्ष चैत्य में क्रीड़ा करने गया। उसने देखा, एक मुनि वृक्ष के नीचे ध्यानमुद्रा में खड़ा है। अवस्था में तरुण और सर्वांग सुन्दर। श्रेणिक उसके रूप, लावण्य और सौकुमार्य पर मुग्ध हो गया। वह मुनि को अपलक निहारता रहा। मुनि की आकृति से झर रहे सौम्य का पान कर उसकी आंखें खिल उठीं। वह मुनि के निकट आकर बोला—'भंते ! आप कौन हैं ? इस इठलाते यौवन में आप मुनि क्यों बने हैं ? मैं जानना चाहता हूं। मुझे आशा है आप मेरी जिज्ञासा का समाधान देंगे।'

मुनि ध्यान पूर्ण कर बोले—'राजन् ! मुझे कोई नाथ नहीं मिला, इसलिए मैं मुनि बन गया।'

'आश्चर्य ! आप जैसे व्यक्तित्व को कोई नाथ नहीं मिला ?'

'नहीं मिला तभी तो कह रहा हूं।'

'आप मेरे साथ चलें। मैं आपका नाथ बनता हूं। आपको शरण देता हूं। मेरे प्रासाद में सुख से रहें और सब प्रकार के भोगों का उपभोग करें।'

'तुम स्वयं अनाथ हो। तुम मुझे क्या शरण दोगे ? मेरे नाथ कैसे बनोगे ?

---

१. देखें—भगवती का दूसरा शतक तथा औपपातिक सूत्र आदि।

जो स्वयं अनाथ है, वह दूसरे का नाथ कैसे बन सकता है ?'

मुनि का यह वचन सुन राजा स्तब्ध रह गया। वह अपने मर्म को सहलाते हुए बोला—'आप मुनि हैं, गृहस्थ नहीं हैं। क्या आपके धर्माचार्य भगवान् महावीर ने आपको सत्य का महत्त्व नहीं समझाया है ?'

'समझाया है, बहुत अच्छी तरह से समझाया है।'

'फिर आप मुझे अनाथ कैसे कहते हैं ? क्या आप मुझे जानते नहीं ?'

'जानता हूं, तभी कहता हूं। मैं तुम्हें नहीं जानता तो अनाथ कैसे कहता ?'

'मैं आपकी बात नहीं समझ पाया। मेरे पास राज्य है, सेना है, कोष है, अनुग्रह और निग्रह की शक्ति है, फिर मैं अनाथ कैसे ?'

राजा का तर्क सुन मुनि बोले—'राजन् ! तुमने नहीं समझा कौन व्यक्ति अनाथ होता है और कौन सनाथ ? व्यक्ति कैसे अनाथ होता है और कैसे सनाथ ? मैं भिखारी का पुत्र नहीं हूं। मेरा पिता कौशाम्बी का महान् धनी है। मुझे पूर्ण ऐश्वर्य और पूर्ण प्रेम प्राप्त था। मैं जीवन को पूरी तन्मयता से जी रहा था। एक दिन अचानक मेरी आंख में शूल चलने लगी। मैं पीड़ा से कराह उठा। मेरे पिता ने मेरी चिकित्सा कराने में कोई कसर नहीं रखी। जाने-माने वैद्य आए, पर वे मेरी पीड़ा को दूर नहीं कर सके। मेरे पिता ने मेरे लिए धन का स्रोत-सा बहा दिया पर वे मेरी पीड़ा को दूर नहीं कर सके। मेरी माता, भाई और स्वजन वर्ग ने अथक चेष्टाएं कीं पर वे मेरी पीड़ा को दूर नहीं कर सके। मेरी पत्नी ने अनगिन आंसू बहाए। उसने खान-पान तक छोड़ दिया। वह निरंतर मेरे पास बैठी-बैठी सिसकती रही पर वह मेरी पीड़ा को दूर नहीं कर सकी। मैं अनाथ हो गया। मुझे त्राण देने वाला कोई नहीं रहा। तब मुझे भगवान् महावीर की वाणी याद आई। मैंने अपना त्राण अपने में ही खोजा। मैंने संकल्प किया—मेरी चक्षु-पीड़ा शान्त हो जाए तो मैं भगवान् महावीर की शरण में चला जाऊं, सर्वात्मना आत्मा के लिए सर्मपित हो जाऊं। सूर्योदय के साथ रात्रि का सघन अंधकार विलीन हो गया। संकल्प के गहन निकुंज में मेरी चक्षु-पीड़ा भी विलीन हो गई। मैं प्रसन्न था, मेरे पारिवारिक और चिकित्सक लोग आश्चर्य-चकित। मैंने अपना संकल्प प्रकट किया तब सब लोग अप्रसन्न हो गए और मैं आश्चर्य-चकित। मैंने सोचा—अत्राण व्यक्ति दूसरों को भी अत्राण देखना चाहते हैं। मैंने उस स्थिति को स्वीकार नहीं किया। मैं मुनि बन गया।'

मुनि की आत्म-कथा श्रेणिक के धर्म-परिवर्तन की कथा बन गई। वह मुनि की ओर ही आकृष्ट नहीं हुआ, भगवान् महावीर और उनकी धर्म-देशना के प्रति भी आकृष्ट हो गया।[1]

---

१. देखें—उत्तराध्ययन का बीसवां अध्ययन।

बौद्ध पिटकों में धर्म-परिवर्तन की अनेक घटनाएं उल्लिखित हैं। श्रेणिक भगवान् बुद्ध के पास जाकर उनका उपासक बन गया। अभयकुमार श्रेणिक का पुत्र था, अमात्य और सर्वतोमुखी प्रतिभा का धनी। वह भगवान् महावीर का उपासक था। भगवान् बुद्ध के पास गया, थोड़ी धर्मचर्चा की और उनकी शरण में चला गया।

उस युग में धर्म-परिवर्तन का क्रम चलता था, यह सुनिश्चित है। पर अभयकुमार के प्रसंगों को देखते हुए यह प्रतीति नहीं होती कि उसने धर्म-परिवर्तन किया। वह भगवान् महावीर के पास दीक्षित हुआ और अन्त तक महावीर के शिष्यों में समादृत रहा।

श्रेणिक अभयकुमार को दीक्षित होने की अनुमति नहीं दे रहा था। अभयकुमार बार-बार दीक्षा की अनुमति मांग रहा था। एक दिन श्रेणिक ने कहा—'जिस दिन मैं तुझे 'जा रे जा' कह दूं, उस दिन तू दीक्षा ले लेना।'

एक दिन श्रेणिक सन्देह की कारा का बन्दी बन गया। अभयकुमार को राज-प्रासाद जलाने की आज्ञा देकर स्वयं भगवान् महावीर के पास चला गया। वहां सन्देह का धागा टूटा। वह तत्काल लौट आया। उसने दूर से ही देखी आग की लपटें और धुआं। अभयकुमार मार्ग में मिला। श्रेणिक ने पूछा—'यह क्या ?' अभयकुमार ने कहा—'सम्राट् की आज्ञा का पालन।' श्रेणिक बोला—'जा रे जा, यह क्या किया तूने ?' अभयकुमार की मांग पूरी हो गई। वह सम्राट् की स्वीकृति ले भगवान् महावीर के पास दीक्षित हो गया।[1]

श्रेणिक के और भी अनेक पुत्र भगवान् महावीर के पास दीक्षित हुए[2]। उनमें मेघकुमार की घटना बहुत प्रसिद्ध है। श्रेणिक की अनेक रानियां भी भगवान् के संघ में दीक्षित हुई थीं[3]। उसके जीवन-प्रसंग इस ओर संकेत करते है कि जीवन के उत्तरार्द्ध में उसके धर्माचार्य भगवान् महावीर ही रहे।

बिहार की पुण्य-भूमि उन दिनों धर्म-चेतना की जन्मस्थली बन रही थी। अनेक तीर्थंकर और धर्माचार्य धर्म के रहस्यों को उद्घाटित कर रहे थे। एक सत्य अनेक वचनों द्वारा विकीर्ण हो रहा था। एक आलोक अनेक खिड़कियों से फूट रहा था। जनता के सामने समस्या थी। वह अनेक आकर्षणों के झूले में झूल रही थी।

---

१. अनुत्तरोववाइयदसाओ, १।१४; आवश्यकचूर्णि, उत्तरभाग, पृ० १७१ : अभओ समाविओ पव्वाइओ।

२. अनुत्तरोववाइयदसाओ, १।१४।

३. अन्तगडदसाओ, वर्ग ७, ८। श्रेणिक की कुछ रानियां तीर्थंकर महावीर के तीर्थंकर काल के सातवें वर्ष में और कुछ रानियां चौदहवें वर्ष में प्रव्रजित हुईं।

देश और काल मानवीय प्रगति के बहुत बड़े आयाम हैं। कोई काल ऐसा आता है कि उसमें अनेक महान् आत्माएं एक साथ जन्म लेती हैं। महावीर का युग ऐसा ही था। उस युग ने धर्म को ऐसी गति दी कि उसका वेग आज भी तीव्र है। किन्तु उस वेग ने धर्म की भूमि में कुछ रेखाएं डाल दीं। उन रेखाओं ने जाति का रूप ले लिया। इसीलिए यह प्रश्न पूछा जाता है कि जैन हिन्दू हैं या नहीं ? महावीर और बुद्ध ने वैदिक विधि-विधानों का मुक्त प्रतिरोध किया, पर आश्चर्य है कि उस युग में किसी के मस्तिष्क में यह प्रश्न नहीं उभरा कि जैन और बौद्ध हिन्दू हैं या नहीं? उस समय धर्म का कमल जातीयता के पंक से ऊपर खिल रहा था।

३७

यथार्थवादी व्यक्तित्व : अतिशयोक्ति का परिधान

महान् व्यक्तित्व के जीवन पर जैसे-जैसे अतीत आवरण डालता जाता है, वैसे-वैसे उनके भक्त भी उनके साथ दैवी घटनाओं को जोड़ते जाते हैं। इस सत्य का अपवाद संभवत: कोई भी महान् व्यक्ति नहीं है।

भगवान् महावीर उत्कट यथार्थवादी थे। आचार्य समन्तभद्र ने भगवान् महावीर को यथार्थ की आंख से देखा तो वे कह उठे—'भगवन्! देवताओं का आगमन, विमानों का आगमन, चंवर डुलाना—ये विभूतियां इन्द्रजालिकों में भी देखी जाती हैं। इन विभूतियों के कारण आप महान् नहीं हैं। आप महान् हैं अपने यथार्थवादी दृष्टिकोण के कारण।'

आचार्य हेमचन्द्र ने एक धार्मिक कोलाहल सुना। कुछ लोग कह रहे हैं कि भगवान् महावीर के पास देवताओं का इन्द्र आता था और उनके चरणों में लुटता था। कुछ लोग कह रहे हैं कि महावीर के पास इन्द्र नहीं आता था। कुछ लोग कह रहे हैं इसमें महावीर की क्या विशेषता है। इन्द्र हमारे धर्माचार्य के पास भी आता था। इस कोलाहल को सुन आचार्य बोल उठे—'भगवन्! आपके पास इन्द्र के आने का कोई निरसन कर सकता है, कोई तुलना कर सकता है, पर वे आपके यथार्थवाद का निरसन और तुलना कैसे करेंगे?'

पौराणिक युग चमत्कारों, अतिशयोक्तियों और दैवी घटनाओं के उल्लेख का युग था। इस युग के कुहासे में यथार्थवाद की आत्मा धुंधली-सी हो गई। पुराणकारों ने वासुदेव कृष्ण के जीवन में दैवी चमत्कारों के अनेक इन्द्रधनुष तान दिए। गीता का यथार्थवादी कृष्ण पुराण की गंगा में नहाकर चमत्कारों का केन्द्र बन गया। जनता चमत्कारों को नमस्कार करती है। इन दैवी घटनाओं के वर्णन का लाभ वैष्णव सम्प्रदायों को बहुत मिला। वे जन-साधारण को अपनी ओर खींचने में बहुत सफल रहे। बौद्ध जगत् ने भी पौराणिक पद्धति का अनुसरण किया।

भगवान् बुद्ध का यथार्थवादी जीवन चमत्कारों की परछाइयों से ढंक गया। जैन आचार्य कुछ समय तक यथार्थवादी धारा को चलाते रहे। पर लोक-संग्रह का भाव यथार्थवाद को कब तक टिकने देता ? जैन लेखक भी पौराणिक प्रवाह में बह गए। महावीर की यथार्थवादी प्रतिमा चमत्कार की पुष्पमालाओं से लद गई। अब प्रस्तुत हैं कुछ निदर्शन—

१. भगवान् महावीर का जन्म होते ही इन्द्र का आसन प्रकंपित हुआ। उसने अपने ज्ञान से जान लिया कि भगवान् महावीर का जन्म हुआ है। वह बहुत प्रसन्न हुआ और अपने देव-देवियों के परिवार को लेकर भगवान् के जन्म-स्थान पर पहुंचा। वह भगवान् की माता को प्रणाम कर भगवान् को मेरु पर्वत के शिखर पर ले गया। जन्माभिषेक के लिए जल के एक हज़ार आठ कलश लेकर देव खड़े हुए तब इन्द्र का मन आशंका से भर गया। क्या यह नवजात शिशु इतने जल-प्रवाह को सह लेगा ? भगवान् ने अपने ज्ञान से यह जान लिया। वे अनन्तबली थे। उन्होंने मेरु के शिखर को अपने बाएं पैर के अंगूठे से थोड़ा-सा दबाया तो वह विशाल पर्वत कांप उठा। इन्द्र को अपने अज्ञान का भान हुआ। उसने क्षमायाचना की, फिर जलाभिषेक किया।

यह घटना आगम-साहित्य में नहीं है। उसके व्याख्या-साहित्य में भी नहीं है। यह मिलती है काव्य-साहित्य में। कवि का सत्य वास्तविक सत्य से भिन्न होता है। उसका सत्य कल्पना से जन्म लेता है। वह जितना कल्पना-कुशल होता है, उतना ही उसका सत्य निखार पाता है। इस घटना का पहला कल्पना-शिल्पी कौन है, यह निश्चय की भाषा में नहीं कहा जा सकता। विमलसूरि के 'पउमचरिउ', रविषेण के 'पद्मपुराण' और हेमचन्द्र के 'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र' में इस घटना का उल्लेख है।

जिस कवि ने इस घटना को महावीर के जीवन से जोड़ा, उसके मन में महावीर को कृष्ण से अधिक बलिष्ठ सिद्ध करने की कल्पना रही है। एक बार इन्द्र ने ग्वालों को कठिनाई में डाल दिया। उनकी सुरक्षा के लिए तरुण कृष्ण ने गोवर्धन पर्वत को हाथ से उठाया और सात दिन तक उसे उठाए रखा। भागवत का कृष्ण तरुण है। 'पउमचरिउ' का महावीर नव-जात शिशु है। गोवर्धन पर्वत एक योजन का है और मेरु पर्वत लाख योजन का। कृष्ण ने गोवर्धन को हाथ से उठाया और महावीर ने मेरु को पैर के अंगूठे से प्रकम्पित कर दिया।

'पउमचरिउ' की कल्पना भागवत की कल्पना से कम नहीं है। शरीर-बल के आधार पर कृष्ण महावीर से श्रेष्ठ नहीं हो सकते।

२. कुमार वर्धमान आठ वर्ष के थे। वे एक दिन अपने साथी राजपुत्रों के साथ 'तिदुंसक' क्रीड़ा कर रहे थे। उस समय इन्द्र ने उनके पराक्रम की प्रशंसा की। एक देव परीक्षा करने के लिए वहां पहुंचा। वह बच्चे का रूप बना उनके

साथ क्रीड़ा करने लगा। एक वृक्ष को लक्ष्य बनाकर दोनों दौड़े। वर्धमान ने उससे पहले वृक्ष को छू लिया। वे विजयी हो गए। वह पराजित हुआ। क्रीड़ा के नियमानुसार विजयी बच्चा पराजित बच्चे को घोड़ा बनाकर उस पर चढ़ता है। वर्धमान पराजित बच्चे को घोड़ा बना, उस पर चढ़कर क्रीड़ास्थल में आने लगे। उस समय उस बच्चे ने आकाश को छूने वाला रूप बना लिया। वर्धमान दैवी माया को समझ गये। उन्होंने एक मुष्टि का प्रहार किया। देव का विशाल शरीर उस मुष्टि-प्रहार से सिमट गया। उसे वर्धमान के पराक्रम का पता चल गया। उसे अपने कार्य पर लज्जा का अनुभव हुआ। मानवीय पराक्रम के सामने उसका सिर झुक गया।[1]

इन्द्र स्वर्ग में बैठा-बैठा यह सब देख रहा था। अपने वचन की सचाई प्रमाणित होने पर वह वर्धमान के पास आया। उसकी स्तुति कर इन्द्र ने वर्धमान का महावीर नाम कर दिया।

इस घटना को आप भागवत की निम्नलिखित घटना के सन्दर्भ में पढ़िए—कृष्ण और बलभद्र ग्वाल बालकों के साथ आपस में एक-दूसरे को घोड़ा बनाकर उस पर चढ़ने का खेल खेल रहे थे। उस समय कंस द्वारा भेजा हुआ प्रलंब नामक असुर उस खेल में सम्मिलित हो गया। वह कृष्ण और बलभद्र को उठा ले जाना चाहता था। वह बलभद्र का घोड़ा बनकर उन्हें दूर ले गया। उसने प्रचण्ड विकराल रूप प्रकट किया। बलभद्र इस घटना से भयभीत नहीं हुए। उन्होंने एक मुष्टि-प्रहार किया। उससे असुर के मुंह से खून गिरने लगा। अन्त में उसे मार डाला।[2]

उक्त दोनों घटनाओं में कवि की लेखनी का चमत्कार है। महावीर के पराक्रम को अभिव्यक्ति देने के लिए कवि ने कुछ रूपकों की कल्पना की है। रूपक सत्य है या असत्य—इस बात से कवि को कोई प्रयोजन नहीं है। उसका जो प्रयोजन है, वह सत्य है। महावीर का पराक्रम अद्भुत और असाधारण था, इस रहस्य का उद्घाटन ही कवि का प्रयोजन है। यह सत्य है।

सत्य की दृष्टि प्राप्त होने पर तथ्य की चढ़ाई सहज-सरल हो जाती है।

---

१. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २४६-२४८।

२. भागवत, १०।२०।१८-३०।

३८

अलौकिक और लौकिक

जो सबके जीवन में घटित होता है वह सहज ही बुद्धिगम्य हो जाता है। जो कुछेक व्यक्तियों के जीवन में घटित होता है वह बुद्धि से परे होता है। उसे हम अलौकिक कहकर स्वीकार करते हैं या उसे सर्वथा अस्वीकार कर देते हैं। जो घटित होता है, वह स्वीकृति या अस्वीकृति से निरपेक्ष होकर ही घटित होता है।

महावीर के जीवन की घटना है कि वे गर्भ में थे। उनका ज्ञान बहुत स्पष्ट था। छह मास बीत जाने पर एक दिन उन्होंने अकस्मात् हिलना-डुलना बन्द कर दिया। त्रिशला के मन में आशंका उत्पन्न हुई कि क्या गर्भ जीवित नहीं है? यदि है तो यह हलन-चलन बन्द क्यों? चिन्ता की ऊर्मियां उसकी प्रसन्नता को लील गई। उसका उदास चेहरा देख सखी बोली—

'बहन! कुशल हो न?'

'गर्भ के कुशल नहीं, तब मैं कुशल कैसे हो सकती हूं?'

'यह क्या कह रही हो?'

'सच कह रही हूं। यह कोई मखौल नहीं है।'

'हाय! यह क्या हुआ?'

'कल्पवृक्ष मरुभूमि में अंकुरित होता है क्या?'

त्रिशला की व्यथा मूर्त हो गई। लगा कि सखी को वह नहीं झांक रही है, उसकी व्यथा झांक रही है। वह नहीं बोल रही है, उसकी व्यथा बोल रही है। व्यथा की प्रखरता ने सखी को भी व्यथित कर दिया। उसने महाराज सिद्धार्थ को इस वृत्त की सूचना दी। वह भी व्यथित हो गया। जैसे-जैसे वृत्त फैलता गया वैसे-वैसे व्यथा भी फैलती गयी। नाटक बंद हो गए। पूरा राज्य-परिवार शोक-मग्न हो गया। सूर्य उगता-उगता जैसे कुछ क्षणों के लिए थम गया।

महावीर ने बाहर की घटनाओं को देखा। वे आश्चर्य-चकित रह गए। उन्होंने

सोचा—कभी-कभी अच्छा करना भी बुरा हो जाता है। मैंने माता के सुख के लिए हिलना-डुलना बन्द किया। वह दुःख के लिए हो गया। स्वाभाविक को अस्वाभाविक प्रयत्न मान्य नहीं है। महावीर ने फिर हलन-चलन शुरू की। माता की आशंका दूर हो गई। समूचा परिवार व्यथा के ज्वार से मुक्त हो गया। वाद्यों के मंगल-घोष से आकाश गूंज उठा। महावीर माता-पिता के प्रेम से अभिभूत हो गए। उन्होंने प्रतिज्ञा की—'मैं माता-पिता के जीवित काल में दीक्षित नहीं होऊंगा।"[1] माता-पिता के प्रति उनका लौकिक प्रेम अलौकिक बन गया।

अभिमन्यु ने व्यूह-रचना का ज्ञान गर्भ में ही पाया था। और भी कुछ घटनाएं ऐसी हो सकती हैं। किन्तु विश्व के इतिहास में ऐसी घटनाएं बहुत विरल हैं। इसलिए बौद्धिक स्तर पर इनकी व्याख्या बहुत स्पष्ट नहीं है। गर्भ के विषय में सूक्ष्म अध्ययन होने पर सम्भव है कि नए तथ्य उद्घाटित हों और असम्भव सम्भव के धरातल पर उतर आए।

१. कल्पसूत्र, ८७-९१।

३९

सर्वज्ञता : दो पार्श्व दो कोण

अतीत के व्यक्तित्व का दर्शन हमें दो आयामों में होता है। एक प्रशंसा का आयाम है, दूसरा आलोचना का। इन दोनों से व्यक्ति को समझा जा सकता है।

भगवान् महावीर का व्यक्तित्व इन दोनों आयामों में फैला हुआ है। कोई भी व्यक्तित्व एक आयाम में नहीं फैलता, केवल प्रशस्य या केवल आलोच्य नहीं होता। जैन साहित्य में महावीर का प्रशस्य व्यक्तित्व मिलता है और बौद्ध साहित्य में आलोच्य। तटस्थता को दोनों की एक साथ अपेक्षा है, पर वह प्राप्त नहीं है। वैदिक साहित्य में महावीर की प्रशंसा या आलोचना—दोनों नहीं है, यह बहुत बड़ा प्रश्न है। इतिहासकार को अभी इसका उत्तर देना है।

भगवान् महावीर और भगवान् बुद्ध दोनों श्रमण परम्परा से सम्बद्ध हैं। दोनों में असमानता के तत्त्व होने पर भी समानता के तत्त्व कम नहीं हैं। साहित्य के साक्ष्य से ऐसा प्रतीत होता है कि जैन और बौद्ध दोनों संघ प्रतिस्पर्धी थे। जैन आगमों में कहीं भी बुद्ध की कटु आलोचना नहीं है। बौद्ध पिटकों में महावीर की बहुत कटु आलोचना है, अपशब्दों का प्रयोग भी है। बुद्ध ने ऐसा नहीं भी किया हो। वे महान् साधक थे। फिर वे ऐसा किसलिए करते? यह सब पिटककारों की भावना का प्रतिबिम्ब लगता है। उस समय जैन संघ बहुत शक्तिशाली था। उसे बौद्धों पर आक्षेप करने की सम्भवतः आवश्यकता ही प्रतीत नहीं हुई। यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि अशक्त व्यक्ति सशक्त के प्रति आक्षेप करता है, सशक्त अशक्त के प्रति आक्षेप नहीं करता।

जैन आगमों के अनुसार भगवान् महावीर सर्वज्ञ और सर्वदर्शी थे। वे सम्पूर्ण लोक के सब जीवों के सब पर्याय जानते-देखते थे। बौद्ध पिटकों में भगवान् महावीर के सर्वज्ञ और सर्वदर्शी स्वरूप पर व्यंग किया गया है।

एक समय भगवान् बुद्ध राजगृह के वेणुवन कंदलक निकाय में विहार करते

थे। उस समय सकुल उदायी परिव्राजक महती परिषद् के साथ परिव्राजकाराम में वास करता था। भगवान् बुद्ध पूर्वाह्न के समय सकुल उदायी के पास गए। उदायी ने भगवान् बुद्ध से धर्मोपदेश देने का अनुरोध किया। भगवान् ने कहा—'उदायी ! तुम्हीं कुछ कहो।' तब उदायी ने कहा—'भंते ! पिछले दिनों जो सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होने का दावा करते हैं, चलते, खड़े, सोते, जागते भी मुझे निरन्तर ज्ञान दर्शन उपस्थित रहता है, यह कहते है, वे प्रश्न पूछने पर इधर-उधर जाने लगे। बाहर की कथा में जाने लगे। उन्होंने कोप, द्वेष और अविश्वास प्रकट किया। तब भंते ! मुझे भगवान् के ही प्रति प्रीति उत्पन्न हुई।'

'कौन है वे उदायी ! जो सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होने का दावा करते हैं और इधर-उधर जाने लगे ?'

'भंते ! निग्गंठ नातपुत्त।'

जैन दर्शन का अभिमत है कि जिसका ज्ञान अनावृत हो जाता है, वह सर्वज्ञ और सर्वदर्शी बन जाता है। महावीर ही सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हो सकता है, ऐसा महावीर ने नहीं कहा। उन्होंने कहा—ज्ञानावरण और दर्शनावरण के विलय की साधना करने वाला कोई भी व्यक्ति सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हो सकता है।

भगवान् महावीर की सर्वज्ञ और सर्वदर्शी के रूप में सर्वत्र प्रसिद्धि थी—यह उक्त चर्चा से स्पष्ट है।

सर्वज्ञ होना आन्तरिक उपलब्धि है। बाह्य को देखने वाली आंखें उसे जान नहीं पातीं। भगवान् पार्श्व के शिष्य भगवान् महावीर के सर्वज्ञत्व को सहसा स्वीकार नहीं करते थे। वे समीक्षा के बाद ही उसे स्वीकार करते थे।

एक बार भगवान् वाणिज्यग्राम के पार्श्ववर्ती दूतिपलाश चैत्य में ठहरे हुए थे। उस समय भगवान् पार्श्व के शिष्य 'गांगेय' नामक श्रमण भगवान् के पास आए और अनेक प्रश्न पूछे। प्रश्नोत्तरों के क्रम में भगवान् ने कहा—'लोकनेता पार्श्व ने लोक को शाश्वत बतलाया है। इसलिए मैं कहता हूं कि जीव सत् रूप से उत्पन्न और च्युत होते हैं।'

यह सुन गांगेय बोले—'भंते ! आप जो कह रहे हैं, वह स्वयं जानते हैं या नहीं जानते ? आप किसी से सुने बिना कहते हैं या सुनकर कहते हैं ?'

तब भगवान् ने कहा—'मैं स्वयं जानता हूं, बिना सुने जानता हूं।'

'आप स्वयं कैसे जानते हैं ?'

'मेरा ज्ञान अनावृत है। जिसका ज्ञान अनावृत होता है, वह मित को भी जानता है और अमित को भी जानता है। मैं मित और अमित—दोनों को जानता हूं। मैंने अर्हत् पार्श्व के वचन का उदाहरण तुम्हारी श्रद्धा को सहारा देने के लिए दिया है।'

भगवान् की वाणी सुन गांगेय का सन्देह दूर हो गया। उन्हें विश्वास हो गया

कि भगवान् सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हैं । मन का विश्वास जागने पर उन्होंने भगवान् को वंदना की और अपने को भगवान् के धर्म-शासन में विलीन कर दिया ।[१]

भगवान् महावीर सर्वज्ञ थे या नहीं, इसका निर्णय मैं नहीं दे सकता । क्योंकि मैं सर्वज्ञ नहीं हूं । असर्वज्ञ आदमी किसी को सर्वज्ञ स्थापित नहीं कर सकता । सुधर्मा भगवान् के गणधर थे । वे भगवान् के साथ रहे थे । उनके प्रधान शिष्य थे जम्बू । उनके पास कुछ श्रमण और ब्राह्मण आए । उनसे धर्म-चर्चा की । जम्बू ने अहिंसा धर्म का मर्म समझाया । उनकी बुद्धि आलोक से जगमगा उठी । वे बोले—'भंते ! इस अहिंसा धर्म का प्रतिपादन किसने किया है ?'

'भगवान् महावीर ने ।'

'उनका ज्ञान और दर्शन कितना विशाल था ? आपने अपने आचार्य के पास सुना हो तो हमें बताएं ।'

'मेरे आचार्य सुधर्मा ने मुझे बताया था कि भगवान् का ज्ञान और दर्शन अनन्त था ।'

जो ज्ञान अनावृत होता है, वह अनन्त होता है । वह अनावृत ज्ञान ही सर्वज्ञता है । तार्किक युग में सर्वज्ञता की परिभाषा काफी उलझ गई । स्फटिक का निर्मल होना उसकी प्रकृति है । वह कोई आश्चर्य नहीं है । चेतना का निर्मल होना भी आत्मा की सहज प्रकृति है । वह कोई आश्चर्य नहीं है । आश्चर्य उन लोगों को होता है, जिनका ज्ञान आवृत है, जो इन्द्रिय के माध्यम से वस्तु को जानते हैं ।

परिव्राजक स्कंदक भगवान् महावीर के पास आ रहा था । गौतम उसके सामने गए । उन्होंने कहा—'स्कंदक ! क्या यह सच है कि पिंगल निर्ग्रन्थ ने आपसे प्रश्न पूछे ? आप उनका उत्तर नहीं दे सके, इसीलिए आप भगवान् महावीर के पास जा रहे हैं ?'

गौतम की यह बात सुन स्कंदक आश्चर्यचकित हो गया । उसने कहा—'यह मेरे मन की गूढ़ बात किसने बताई ? कौन है ऐसा ज्ञानी ?'

गौतम बोले—'यह बात भगवान् महावीर ने बताई । वे ज्ञान-दर्शन को धारण करने वाले अर्हत् हैं । वे भूत, भविष्य और वर्तमान को जानते हैं । वे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हैं ।'[२]

भगवान् यदा-कदा ऐसी अलौकिक बातें, पूर्वजन्म की घटनाएं बताया करते थे । ये उनके सर्वज्ञ होने की साक्ष्य नहीं हैं । उनकी सर्वज्ञता उनकी चेतना के अनावृत होने में ही चरितार्थ होती है ।

---

१. भगवई, ९।१३२-१३४ ।

२. भगवई, २।३६-३८ ।

४०

बौद्ध साहित्य में महावीर

बौद्ध पिटकों में भगवान् महावीर के सिद्धान्तों का बार-बार उल्लेख हुआ है। उन सबमें भगवान् महावीर के जीवन और सिद्धान्तों का आकर्षण दिखलाने का प्रयत्न है। यह उस समय की शैली या साम्प्रदायिक मनोवृत्ति है। इसकी उपेक्षा की जा सकती है, किन्तु पिटक साहित्य में भगवान् महावीर के विषय में कुछ तथ्य सुरक्षित हैं, उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। वे बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। उनमें भगवान् महावीर के विहार और सिद्धान्तों के बारे में कुछ नई जानकारी मिलती है।

भगवान् महावीर श्रद्धा की अपेक्षा ज्ञान को अधिक महत्त्व देते थे।

उस समय निग्गंठ नातपुत्त मच्छिकासण्ड में अपनी बड़ी मण्डली के साथ पहुँचा हुआ था।

गृहपति चित्त ने सुना कि निग्गंठ नातपुत्त मच्छिकासण्ड में ठहरे हुए हैं। चित्त कुछ उपासकों के साथ वहां पहुंचा और कुशल-क्षेम पूछकर एक ओर बैठ गया।

एक ओर बैठे गृहपति चित्त से निग्गंठ नातपुत्त बोला—'गृहपति ! तुम्हें क्या ऐसा विश्वास है कि श्रमण गौतम को भी अवितर्क-अविचार समाधि लगती है ? उसके वितर्क और विचार का क्या निरोध होता है ?'

'भन्ते ! मैं श्रद्धा से ऐसा नहीं मानता कि भगवान् को अवितर्क-अविचार समाधि लगती है।'

इस पर निगंठ ने अपनी मण्डली की ओर देखकर कहा—'आप सब देखें, कि गृहपति चित्त कितना सीधा है, सच्चा है, निष्कपट है ! वितर्क और विचार का निरोध कर देना मानो हवा को जाल से रोकना है।'

'भन्ते ! ज्ञान बड़ा है या श्रद्धा ?'

'गृहपति ! श्रद्धा से ज्ञान ही बड़ा है।'

'भंते ! जब मेरी इच्छा होती है, मैं प्रथम-ध्यान को प्राप्त होकर विहार करता हूं। द्वितीय-ध्यान को, तृतीय-ध्यान को और चतुर्थ-ध्यान को प्राप्त कर विहार करता हूं।'

'भंते ! मैंने स्वयं ऐसा जाना और देखा है। ऐसी स्थिति में क्या मैं किसी ब्राह्मण या श्रमण की श्रद्धा से ऐसा जानूंगा कि अवितर्क-अविचार समाधि होती है तथा वितर्क और विचार का निरोध होता है ?'

चित्र की यह बात सुनकर निग्गंठ नातपुत्त ने अपनी मण्डली से कहा—'आप लोग देखें—चित्र गृहपति कितना टेढ़ा है, शठ है, कपटी है।'

'भंते ! अभी तो आपने कहा था कि चित्र कितना सीधा है, सच्चा है और निष्कपट है और अभी आप कहते हैं कि वह कितना टेढ़ा है, शठ और कपटी है। भंते ! यदि आपकी पहली बात सच है तो दूसरी बात झूठ और यदि दूसरी बात सच है तो पहली बात झूठ।'

भगवान् महावीर सामयिक समस्याओं के प्रति भी बहुत जागरूक थे। उन्होंने मुनि के लिए माधुकरी वृत्ति का प्रतिपादन किया। वे नहीं चाहते थे कि कोई मुनि गृहस्थ के लिए भार बने।

बौद्ध भिक्षु निमंत्रित भोजन करते थे। इसलिए अकाल के समय में उनका समुदाय कठिनाई भी उपस्थित करता था। भगवान् महावीर के उपासक असिवन्धकपुत्र ने इस ओर संकेत किया था—

'एक समय भगवान् बुद्ध कौशल में चारिका करते हुए बड़े भिक्षु-संघ के साथ नालन्दा पहुंचे। वहां प्रावारिक आम्रवन में ठहरे।

उस समय नालन्दा में दुर्भिक्ष था। लोगों के प्राण निकल रहे थे। मरे हुए लोगों की उजली-उजली हड्डियां विकीर्ण पड़ी हुई थीं। लोग सूखकर सलाई बन गए थे।

उस समय निग्गंठ नातपुत्त अपनी बड़ी मण्डली के साथ नालन्दा में ठहरा हुआ था।

तब नातपुत्त का श्रावक असिवन्धकपुत्र ग्रामणी वहां गया और अभिवादन कर एक ओर बैठ गया। नातपुत्त ने कहा—'ग्रामणी ! तुम जाकर श्रमण गौतम के साथ वाद करो, इससे तुम्हारा बड़ा नाम होगा।'

'भंते ! इतने महानुभाव श्रमण गौतम के साथ मैं कैसे वाद करूं ?'

'ग्रामणी ! जहां श्रमण गौतम हैं, वहां जाओ और बोलो—भंते ! भगवान् अनेक प्रकार से कुलों के उदय, रक्षा और अनुकम्पा का वर्णन करते हैं न ?'

'ग्रामणी ! यदि श्रमण गौतम कहेगा कि 'हां ग्रामणी ! बुद्ध अनेक प्रकार से कुलों के उदय, रक्षा और अनुकम्पा का वर्णन करते हैं तो तुम कहना—भंते !

भगवान् इस दुर्भिक्ष में इतने बड़े संघ के साथ चारिका क्यों कर रहे हैं? क्यों कुलों के नाश और अहित के लिए भगवान् तुले हैं?'

'ग्रामणी ! इस प्रकार दोतरफा प्रश्न पूछे जाने पर श्रमण गौतम न उगल सकेगा और न निगल सकेगा।'

'भंते ! बहुत अच्छा' कहकर असिबन्धकपुत्र ग्रामणी वहां से चलकर भगवान् बुद्ध के पास आया। नमस्कार कर एक ओर बैठ गया। कुछ क्षणों बाद बोला—भंते ! भगवान् अनेक प्रकार के कुलों के उदय, रक्षा और अनुकम्पा का वर्णन करते हैं, न?

'हां, ग्रामणी ! करते हैं।'

'भंते ! तो भगवान् इस दुर्भिक्ष में इतने बड़े संघ के साथ चारिका क्यों करते हैं? क्यों कुलों के नाश और अहित के लिए भगवान् तुले हैं?'[1]

भगवान् महावीर लोक को सान्त और अलोक को अनन्त प्रतिपादित करते थे। पिटक साहित्य से इस बात की पुष्टि होती है।

दो लोकायतिक ब्राह्मण भगवान् के पास आए और अभिवादन कर पूछा—'भंते ! पूरणकाश्यप सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, निखिल ज्ञान-दर्शन का अधिकारी है? वह मानता है कि मुझे चलते, खड़े रहते, सोते, जागते भी निरंतर ज्ञान-दर्शन उपस्थित रहता है। वह कहता है—मैं अनन्त ज्ञान से अनन्त लोक को जानता-देखता हूं। भंते ! निग्गंठ नातपुत्त भी ऐसे ही कहता है। वह भी कहता है, मैं अपने अनन्त ज्ञान से अनन्त लोक को देखता-जानता हूं। इन परस्पर-विरोधी ज्ञानवादों में हे गौतम ! कौन-सा सत्य है और कौन-सा असत्य?'[2]

---

१. संयुत्तनिकाय, भाग २, पृ० ५८१-५८६।

२. अंगुत्तरनिकाय ९।४।७ के आधार पर।

४१

प्रवृत्ति बाहर में : मानदण्ड भीतर में

भगवान् बुद्ध ने महानाम से कहा—'एक समय मैं राजगृह में गृध्रकूट पर्वत पर विहार कर रहा था। उस समय बहुत से निर्ग्रन्थ ऋषिगिरि की कालशिला पर खड़े रहने का व्रत ले, आसन छोड़ तीव्र वेदना झेल रहे थे। तब मैं महानाम ! सायंकाल ध्यान से उठकर जहां ऋषिगिरि के पास कालशिला थी, वहां पर वे निर्ग्रन्थ थे, वहां गया। मैंने उनसे कहा—'आयुष्मान् निर्ग्रन्थो ! तुम खड़े रहने का व्रत ले, आसन छोड़ तीव्र वेदना झेल रहे हो ?' ऐसा कहने पर उन निर्ग्रन्थों ने कहा—'आयुष्मान् ! निर्ग्रन्थ नातपुत्त (महावीर) सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हैं। चलते, खड़े, सोते, जागते सदा निरन्तर उनको ज्ञान-दर्शन उपस्थित रहता है। वे ऐसा कहते हैं—'निर्ग्रन्थो ! जो तुम्हारा पहले का किया हुआ कर्म है, उसे इस दुष्कर क्रिया (तपस्या) से नष्ट करो। इस समय काय, वचन और मन से संवृत रहो। इस प्रकार तपस्या से पुराने कर्मों का अन्त होने और नए कर्मों को न करने से भविष्य में चित्त अनास्रव (निर्मल) होगा। भविष्य में आस्रव न होने से कर्म का क्षय होगा। कर्म-क्षय से दुःख का क्षय, दुःख-क्षय से वेदना का क्षय और वेदना-क्षय से सभी दुःख नष्ट होंगे। हमें यह विचार रुचता है। हम इससे संतुष्ट हैं।'

निर्ग्रन्थों ने कहा—'आयुष्मान् गौतम ! सुख से सुख प्राप्य नहीं है। दुःख से सुख प्राप्य है।'

मज्झिम निकाय के इस प्रसंग से स्पष्ट है कि भगवान् महावीर तपस्या और संवर— इन दो धर्मों का प्रतिपादन करते थे। संचित जल को उलीच कर निकाल दिया जाए और जल आने के नाले को बन्द कर दिया जाए—यह है तालाब को खाली करने की प्रक्रिया।

भगवान् महावीर काय, वचन और मन—इन तीनों को बंधनकारक मानते थे। इसलिए भगवान् ने तीन संवरों का प्रतिपादन किया—

१. काय संवर—कायिक चंचलता का निरोध।

२. वचन संवर—मौन।

३. मन संवर—ध्यान।

काया को पीड़ा देना भगवान् को इष्ट नहीं था। किन्तु संवर की अर्हता पाने के प्रयत्न में काया को कष्ट हो तो उससे बचना भी उन्हें इष्ट नहीं था। खड़े रहने से बैठना और बैठने से सोना सुखद है, पर खड़े-खड़े ध्यान करने से जो शक्ति का अर्जन बनता है, वह बैठे-बैठे और लेटे-लेटे ध्यान करने से नहीं बनता।

काया और वचन का संचालन मन करता है, इसलिए भगवान् बुद्ध मन को ही बंधन और मुक्ति का कारक मानते थे। मज्झिमनिकाय का एक प्रसंग है—

'उस समय निग्गंठ नातपुत्त निर्ग्रन्थों की बड़ी परिषद् के साथ नालन्दा में विहार करते थे। तब दीर्घ तपस्वी निर्ग्रन्थ ने नालन्दा में भिक्षाचार कर भोजन किया। उसके पश्चात् वह प्रावारिक आम्रवन में, जहां भगवान् थे, वहां गया। भगवान् से कुशल प्रश्न पूछकर एक ओर खड़ा हो गया। भगवान् ने कहा—'तपस्वी ! आसन मौजूद है, यदि इच्छा हो तो बैठ जाओ।' दीर्घ तपस्वी एक आसन ले एक ओर बैठ गया। भगवान् बोले—'तपस्वी ! पाप-कर्म की प्रवृत्ति के लिए निग्गंथ नातपुत्त कितने कर्मों का विधान करते हैं ?'

'आयुष्मान् ! गौतम ! कर्म का विधान करना निग्गंठ नातपुत्त की रीति नहीं है। आयुष्मान् ! गौतम ! दंड का विधान करना नातपुत्त की रीति है।'

'तपस्वी ! तो फिर पाप-कर्म की प्रवृत्ति के लिए नातपुत्त कितने दंडों का विधान करते हैं ?'

'आयुष्मान् ! गौतम ! पाप-कर्म की प्रवृत्ति के लिए निग्गंठ नातपुत्त तीन दण्डों का विधान करते हैं, जैसे—कायदण्ड, वचनदण्ड और मनदण्ड।'

'तपस्वी ! तो क्या कायदंड दूसरा है, वचनदण्ड दूसरा है और मनदण्ड दूसरा है ?'

'आयुष्मान् ! गौतम ! कायदण्ड दूसरा ही है, वचनदण्ड दूसरा ही है और मनदण्ड दूसरा ही है।'

'तपस्वी ! इन तीनों दण्डों में निग्गंठ नातपुत्त पाप-कर्म की प्रवृत्ति के लिए किस दण्ड को महादोषयुक्त प्रतिपादित करते हैं—कायदण्ड को, वचनदण्ड को या मनदण्ड को ?'

'आयुष्मान् ! गौतम ! इन तीनों दण्डों में निग्गंठ नातपुत्त पाप-कर्म की प्रवृत्ति के लिए कायदण्ड को महादोषयुक्त प्रतिपादित करते हैं वैसा वचनदंड को नहीं, वैसा मनदंड को नहीं।'

'आयुष्मान् ! गौतम ! पाप-कर्म की प्रवृत्ति के लिए, कितने दंडों का विधान करते हो ?'

'तपस्वी ! दंड का विधान करना तथागत की रीति नहीं है। कर्म का विधान करना तथागत की रीति है।'

'आयुष्मान् ! गौतम ! फिर कितने कर्मों का विधान करते हो ?'

'तपस्वी ! मैं तीन कर्म बतलाता हूं। जैसे—कायकर्म, वचनकर्म और मन-कर्म।'

'आयुष्मान् ! गौतम ! तो क्या कायकर्म दूसरा है, वचनकर्म दूसरा है और मनकर्म दूसरा है।'

'तपस्वी ! कायकर्म दूसरा ही है, वचनकर्म दूसरा ही है, और मनकर्म दूसरा ही है।'

'आयुष्मान् ! गौतम ! इन तीन कर्मों में से पाप-कर्म की प्रवृत्ति के लिए किसको महादोषी ठहराते हो—कायकर्म को, वचनकर्म को या मनकर्म को ?'

'तपस्वी ! इन तीनों कर्मों में मैं मनकर्म को महादोषी बतलाता हूं।'

दीर्घ तपस्वी निर्ग्रन्थ आसन से उठ जहां निग्गंथ नातपुत्त थे, वहां चला गया।

उस समय निग्गंथ नातपुत्त बालक (लोणकार) निवासी उपाली आदि की बड़ी गृहस्थ-परिषद् के साथ बैठे थे। तब निग्गंथ नातपुत्त ने दूर से ही दीर्घ-तपस्वी निर्ग्रन्थ को आते देख पूछा—

'तपस्वी ! मध्याह्न में तू कहां से आ रहा है ?'

'भंते ! श्रमण गौतम के पास से आ रहा हूं।'

'तपस्वी ! क्या तेरा श्रमण गौतम के साथ कथा-संलाप हुआ ?'

'भंते ! हां, श्रमण गौतम के साथ मेरा कथा-संलाप हुआ।'

'तपस्वी ! श्रमण गौतम के साथ तेरा क्या कथा-संलाप हुआ ?'

तब दीर्घ तपस्वी निर्ग्रन्थ ने भगवान् के साथ जो कुछ कथा-संलाप हुआ था, वह सब निग्गंथ नातपुत्त को कह दिया।

'साधु ! साधु ! तपस्वी ! जैसा कि शास्ता के शासन को जानने वाले बहुश्रुत श्रावक दीर्घ तपस्वी निर्ग्रन्थ ने श्रमण गौतम को बतलाया। वह मृत मनदंड इस महान् कायदंड के सामने क्या शोभता है ? पाप-कर्म की प्रवृत्ति के लिए कायदंड ही महादोषी है, वचनदंड और मनदंड वैसे नहीं।'[1]

भगवान् महावीर अनेकान्तदृष्टि के प्रवक्ता थे। वे किसी तथ्य को एकांगी दृष्टि से नहीं देखते थे। प्रवृत्ति का मूल स्रोत काय है। इसलिए कायदंड महादोषी हो सकता है। प्रवृत्ति का प्रेरणा-स्रोत मन है, इसलिए वह भी महादोषी हो सकता है। प्रवृत्ति के सत् या असत् होने का मानदंड मन ही है।

भगवान् महावीर राजगृह में विहार कर रहे थे। सम्राट् श्रेणिक भगवान् को

वंदना करने गया। उसने राजर्षि प्रसन्नचन्द्र को देखा। राजर्षि की ध्यान-मुद्रा को नमस्कार किया और मन ही मन उनके ध्यान की प्रशंसा करता हुआ आगे बढ़ गया। वह भगवान् के पास जाकर बोला—'भंते ! मैंने आते समय राजर्षि प्रसन्नचन्द्र को देखा है। उनकी ध्यान-मुद्रा को देखकर मैं आश्चर्यचकित रह गया। लग रहा था कि अभी वे बहुत तन्मय हैं। इस समाधि-अवस्था में उनका शरीर छूट जाए तो वे निश्चय ही निर्वाण को प्राप्त होंगे। क्यों भंते ! मैं ठीक कह रहा हूं न ?'

'नहीं।'

'यह कैसे, भंते ?'

'तुम शरीर को देख रहे हो। समाधि का मानदंड कुछ दूसरा है।'

'तो उनकी क्या गति होगी ?'

'नरक।'

'नरक ?'

'हां, नरक।'

'यह कैसे, भंते ?'

'यह शरीर नरक में नहीं जाएगा। जो नरक में जा सकता है, वह अभी उसी दिशा में आगे बढ़ रहा है।'

'भंते ! मैं उलझ गया हूं। आप मुझे सुलझाइए।'

भगवान् ने कहा—'तुम्हारे आगे दो सेनानी चल रहे थे—सुमुख और दुर्मुख। उसने देखा एक मुनि अनावृत आकाश में एक पैर के बल पर खड़े हैं। दृष्टि सूर्य के सामने है। सुमुख बोला—'कितनी महान् साधना है !'

दुर्मुख बोल उठा—'यह क्या साधना ? इसने सब कुछ नष्ट कर दिया। यह पोतनपुर का राजा प्रसन्नचन्द्र है। इसने अपने छोटे बच्चे के कंधों पर राज्य का भार वैसे ही डाल दिया है, जैसे बड़ी गाड़ी में छोटा बछड़ा जोत दिया हो। वह बेचारा शासन चलाने योग्य नहीं है। उसके सभी राजा दधिवाहन से मिल गए हैं। अब इसे राज्यच्युत करने का षड्यंत्र चल रहा है। यह कैसा धर्म ? यह कैसी साधना ?'

वे दोनों बातें करते-करते आगे बढ़ गए।

दुर्मुख की बातें सुन मुनि का ध्यान भंग हो गया। उन्होंने सोचा—मैंने मंत्रियों को सदा आगे बढ़ाया। आज वे बदल गए। लगता है वे स्वार्थलोलुप हो गए। मनुष्य कितना कृतघ्न होता है ! वह अवसर का लाभ उठाने से नहीं चूकता। मैं वहां जाऊं और उन्हें कृतघ्नता का फल चखाऊं।

राजर्षि कल्पना का आरोहण कर पोतनपुर पहुंच गया। मंत्रियों से उनकी लड़ाई का क्रम सहसा शुरू कर दिया। उनका शरीर खड़ा है ध्यान की मुद्रा में और उनका मन लड़ रहा है पोतनपुर के प्रांगण में।

सम्राट् ने कहा—'भंते ! बहुत आश्चर्य है। ये हमारी आंखें कितना धोखा खा जाती हैं। हम शरीर के आवरण में छिपे मन को देख ही नहीं पाते। भंते ! अब भी राजर्षि नरक की दिशा में प्रयाण कर रहे हैं या लौट रहे हैं ?'

'लौट चुके हैं।'

'भंते ! किस दिशा में ?'

'निर्वाण की दिशा में।'

'यह कैसे हुआ, भंते ?'

'आवेश का अंतिम बिन्दु लौटने का आदि-बिन्दु होता है। राजर्षि मानसिक युद्ध करता-करता उसके चरम बिन्दु पर पहुंच गया। तब उसे अपने अस्तित्व का भान हुआ। वह कल्पना-लोक से उतर वर्तमान के धरातल पर लौट आया। वहां पहुंचकर उसने देखा—न कोई राज्य है, न कोई राजा और न कोई मंत्रियों का षड्यंत्र। वह सब वाचिक था। उसने राजर्षि को इतना उत्तेजित कर दिया कि वह कुछ सोचे-विचारे बिना ही कल्पना-लोक की उड़ान भरने लगा। अब वर्तमान की जकड़ मजबूत हो गई है। इसलिए राजर्षि निर्वाण की दिशा में बढ़ रहा है।'

सम्राट् भगवान् की वाणी को समझने का प्रयत्न कर रहा था। इतने में भगवान् ने कहा—'श्रेणिक ! राजर्षि अब केवली हो चुका है।'

पाप की प्रवृत्ति करने में मन के सामने शरीर का कितना मूल्य है, यह बता रही है राजर्षि की ध्यान-मुद्रा। ध्यान-मुद्रा में खड़े हुए शरीर को मन के दोष का भार ढोना पड़े, यह उसकी दुर्बलता ही तो है। प्रवृत्ति के सत् या असत् होने का मानदंड यदि शरीर ही हो तो ध्यान-मुद्रा में खड़ा हुआ व्यक्ति नरक की दिशा में नहीं जा सकता।

भगवान् ने कहा—'कुमार-श्रमण अतिमुक्तक इसी जन्म में मुक्त होगा। तुम उसका उपहास मत करो। उसकी शक्तियां शीघ्र ही विकसित होंगी। तुम उसे सहारा दो। उसका सहयोग करो। उसकी अवहेलना मत करो।'

भगवान् की वाणी सुन सभी स्थविर गम्भीर हो गए। वे देख रहे थे व्यक्त को। उसके नीचे बहती हुई अव्यक्त की धारा उन्हें नहीं दीख रही थी। इसीलिए अतिमुक्तक के प्रमाद-क्षण को देखकर उनके मन में उफान आ गया। भगवान् ने भविष्य की सम्भावना का छींटा डालकर उसे शान्त कर दिया।

अतिमुक्तक बहुत छोटी अवस्था में दीक्षित हुए। जीवन के तीन याम होते हैं—बाल्य, यौवन और वार्धक्य। भगवान् ने तीनों यामों में दीक्षित होने की योग्यता का प्रतिपादन किया। अतिमुक्तक प्रथम याम में दीक्षित हुए।

भगवान् महावीर पोलासपुर में विराज रहे थे। एक दिन गौतम स्वामी भिक्षा के लिए गए। वे इन्द्रस्थान के निकट जा रहे थे। बहुत सारे किशोर वहां खेल रहे थे। पोलासपुर के राजा विजय का पुत्र अतिमुक्तक भी वहां खेल रहा था। उसने गौतम को देखा। उसके मन में एक जिज्ञासा उत्पन्न हुई। उसने गौतम के पास आकर पूछा—

'आप कौन हैं ?'

'मैं श्रमण हूं।'

'आप क्यों घूम रहे हैं ?'

'मैं भिक्षा के लिए नगर में जा रहा हूं।'

'आप मेरे साथ चलें। मैं आपको भिक्षा दिला दूंगा—' यह कहकर अतिमुक्तक ने गौतम की अंगुली पकड़ ली। वह गौतम को अपने प्रासाद में ले गया। उसकी माता श्रीदेवी ने गौतम को आदरपूर्वक भिक्षा दी। गौतम वापस जाने लगे। कुमार अतिमुक्तक ने पूछा—

'भंते ! आप कहां रहते हैं ?'

'मैं अपने धर्माचार्य के पास रहता हूं।'

'आपके धर्माचार्य कौन हैं ?'

'श्रमण भगवान् महावीर।'

'वे कहां हैं?'

'यहीं श्रीवन उद्यान में।'

'मैं भी आपके धर्माचार्य के पास जाना चाहता हूं।'

'जैसी तुम्हारी इच्छा।'

कुमार अतिमुक्तक गौतम के साथ-साथ भगवान् के पास आया। उसने भगवान् को वन्दना की। भगवान् का उपदेश सुना। उसका मन फिर घर लौटने से इन्कार करने लगा। उसने दीक्षित होने की प्रार्थना की। भगवान् ने उसकी प्रार्थना स्वीकार

कर ली। किन्तु भगवान् माता-पिता की अनुमति के बिना किसी को दीक्षित नहीं करते थे। अतिमुक्तक माता-पिता की स्वीकृति प्राप्त करने उनके पास पहुंचा। उन्हें प्रणाम कर बोला—

'आज मैं भगवान् महावीर के पास जाकर आया हूं।'

'कुमार! तुमने बहुत अच्छा किया।'

'मां! मुझे भगवान् बहुत अच्छे लगे।'

'बेटा! वे वास्तव में ही अच्छे हैं, इसलिए अच्छे लगने ही चाहिए।'

'मां! जी करता है कि मैं भगवान् के पास ही रहूं।'

'बेटा! भगवान् अनगार हैं। हम गृहवासी हैं। हम भगवान् के साथ नहीं रह सकते।'

'मां! मैं चाहता हूं कि भगवान् के पास दीक्षित होकर अनगार बन जाऊं और उनके पास रहूं।'

'बेटा! अभी तुम बालक हो। अभी तुम्हारी बुद्धि परिपक्व नहीं हुई है। क्या तुम धर्म को समझते हो?'

'मां! मैं जिसे जानता हूं, उसे नहीं जानता। जिसे मैं नहीं जानता, उसे जानता हूं।'

'बेटा! तुम जिसे जानते हो, उसे कैसे नहीं जानते? जिसे नहीं जानते, उसे कैसे जानते हो?'

'मां! मैं जानता हूं कि जो जन्मा है, वह अवश्य मरेगा। पर मैं नहीं जानता कि वह कब, कहां और कैसे मरेगा? मैं नहीं जानता कि जीव किन कर्मों से तिर्यञ्च, मनुष्य, नारक और देव बनता है। मां! मैं नहीं कह सकता कि मैं क्या जानता हूं और क्या नहीं जानता। किन्तु मैं जानना चाहता हूं, इसीलिए आप मुझे भगवान् की शरण में जाने की स्वीकृति दें।'

माता-पिता ने देखा कि उसका अन्तश्चक्षु उद्घाटित हो गया है। वह आज ऐसी भाषा बोल रहा है जैसी पहले कभी नहीं बोली थी। वे कुमार की भावना और क्षमता से प्रभावित हो गए। उन्होंने दीक्षित होने की स्वीकृति दे दी। कुमार भगवान् के पास दीक्षित हो गया। उसकी जिज्ञासा पूर्ण हो गई। भगवान् ने पारदर्शी दृष्टि से उसकी क्षमता को देखा और समय के [illegible] से उसे [illegible] कर दिया।[1]

१. [illegible]

भगवान् ने कहा—'कुमार-श्रमण अतिमुक्तक इसी जन्म में मुक्त होगा। तुम उसका उपहास मत करो। उसकी शक्तियां शीघ्र ही विकसित होंगी। तुम उसे सहारा दो। उसका सहयोग करो। उसकी अवहेलना मत करो।'

भगवान् की वाणी सुन सभी स्थविर गम्भीर हो गए। वे देख रहे थे व्यक्त को। उसके नीचे बहती हुई अव्यक्त की धारा उन्हें नहीं दीख रही थी। इसीलिए अतिमुक्तक के प्रमाद-क्षण को देखकर उनके मन में उफान आ गया। भगवान् ने भविष्य की सम्भावना का छींटा डालकर उसे शान्त कर दिया।

अतिमुक्तक बहुत छोटी अवस्था में दीक्षित हुए। जीवन के तीन याम होते हैं—बाल्य, यौवन और वार्धक्य। भगवान् ने तीनों यामों में दीक्षित होने की योग्यता का प्रतिपादन किया। अतिमुक्तक प्रथम याम में दीक्षित हुए।

भगवान् महावीर पोलासपुर में विराज रहे थे। एक दिन गौतम स्वामी भिक्षा के लिए गए। वे इन्द्रस्थान के निकट जा रहे थे। बहुत सारे किशोर वहां खेल रहे थे। पोलासपुर के राजा विजय का पुत्र अतिमुक्तक भी वहां खेल रहा था। उसने गौतम को देखा। उसके मन में एक जिज्ञासा उत्पन्न हुई। उसने गौतम के पास आकर पूछा—

'आप कौन हैं?'

'मैं श्रमण हूं।'

'आप क्यों घूम रहे हैं?'

'मैं भिक्षा के लिए नगर में जा रहा हूं।'

'आप मेरे साथ चलें। मैं आपको भिक्षा दिला दूंगा—' यह कहकर अतिमुक्तक ने गौतम की अंगुली पकड़ ली। वह गौतम को अपने प्रासाद में ले गया। उसकी माता श्रीदेवी ने गौतम को आदरपूर्वक भिक्षा दी। गौतम वापस जाने लगे। कुमार अतिमुक्तक ने पूछा—

'भंते! आप कहां रहते हैं?'

'मैं अपने धर्माचार्य के पास रहता हूं।'

'आपके धर्माचार्य कौन हैं?'

'श्रमण भगवान् महावीर।'

'वे कहां हैं?'

'यहीं श्रीवन उद्यान में।'

'मैं भी आपके धर्माचार्य के पास जाना चाहता हूं।'

'जैसी तुम्हारी इच्छा।'

कुमार अतिमुक्तक गौतम के साथ-साथ भगवान् के पास आया। उसने भगवान् को वंदना की। भगवान् का उपदेश सुना। उसका मन फिर घर लौटने से इन्कार करने लगा। उसने दीक्षित होने की प्रार्थना की। भगवान् ने उसकी प्रार्थना स्वीकार

कर ली। किन्तु भगवान् माता-पिता की अनुमति के बिना किसी को दीक्षित नहीं करते थे। अतिमुक्तक माता-पिता की स्वीकृति प्राप्त करने उनके पास पहुंचा। उन्हें प्रणाम कर बोला—

'आज मैं भगवान् महावीर के पास जाकर आया हूं।'

'कुमार ! तुमने बहुत अच्छा किया।'

'मां ! मुझे भगवान् बहुत अच्छे लगे।'

'बेटा ! वे वास्तव में ही अच्छे हैं, इसलिए अच्छे लगने ही चाहिए।'

'मां ! जी करता है कि मैं भगवान् के पास ही रहूं।'

'बेटा ! भगवान् अनगार हैं। हम गृहवासी हैं। हम भगवान् के साथ नहीं रह सकते।'

'मां ! मैं चाहता हूं कि भगवान् के पास दीक्षित होकर अनगार बन जाऊं और उनके पास रहूं।'

'बेटा ! अभी तुम बालक हो। अभी तुम्हारी बुद्धि परिपक्व नहीं हुई है। क्या तुम धर्म को समझते हो ?'

'मां ! मैं जिसे जानता हूं, उसे नहीं जानता। जिसे मैं नहीं जानता, उसे जानता हूं।'

'बेटा ! तुम जिसे जानते हो, उसे कैसे नहीं जानते ? जिसे नहीं जानते, उसे कैसे जानते हो ?'

'मां ! मैं जानता हूं कि जो जन्मा है, वह अवश्य मरेगा। पर मैं नहीं जानता कि वह कब, कहां और कैसे मरेगा ? मैं नहीं जानता कि जीव किन कर्मों से तिर्यञ्च, मनुष्य, नारक और देव बनता है। मां ! मैं नहीं कह सकता कि मैं क्या जानता हूं और क्या नहीं जानता। किन्तु मैं जानना चाहता हूं, इसीलिए आप मुझे भगवान् की शरण में जाने की स्वीकृति दें।'

माता-पिता को लगा कि उसका अन्तश्चक्षु उद्घाटित हो गया है। वह आज ऐसी भाषा बोल रहा है जैसी पहले कभी नहीं सुनी थी। वे कुमार की भावना और समझ से सम्मोहित जैसे हो गए। उन्होंने दीक्षित होने की स्वीकृति दे दी। कुमार भगवान् के पास दीक्षित हो गया। उसकी जिज्ञासा पूर्ण हो गई। भगवान् की पारदर्शी दृष्टि ने उसकी क्षमता को देखा और समय के सशक्त हाथों ने उसे अनावृत कर दिया।[1]

---

१. अंतगडदसाओ, ६।७१-९६।

४३

सहयात्रा : सहयात्री

भगवान् महावीर शाश्वत की यात्रा पर थे। इसलिए उन्होंने उन्हीं सामयिक प्रश्नों का स्पर्श किया जो शाश्वत से सम्बन्धित थे। शेष सामयिक प्रश्नों के विषय में उन्होंने अपना मौन नहीं खोला। वे न समाजशास्त्री थे और न राज्यशास्त्री। वे यात्री थे और वैसे ही यात्री जो लक्ष्य तक पहुंचे बिना रुके नहीं। वे अकेले चले थे। उनकी यात्रा इतनी सफल रही कि हज़ारों-हजारों व्यक्ति उनके साथ चलने लगे। उनके साथ चलने वालों में चौदह हज़ार श्रमण थे और छत्तीस हज़ार श्रमणियां, एक लाख उनसठ हज़ार उपासक थे और तीन लाख अठारह हज़ार उपासिकाएं। अनुगामी और भी थे। यह संख्या उन लोगों की है जो भगवान् के सहयात्री थे, जिन्होंने पूर्ण या अल्पमात्रा में व्रत की दीक्षा ली थी। भगवान् ने अन्तर्ज्ञान की दिशा का सबके लिए उद्‌घाटन किया। सबमें आत्मविश्वास जगाया। अनेक साधक शक्ति को बटोर आगे बढ़े। भगवान् के तेरह सौ श्रमण प्रत्यक्षज्ञानी (अवधिज्ञानी) हुए, सात सौ श्रमणों और चौदह सौ श्रमणियों ने कैवल्य प्राप्त किया। उनकी यात्रा प्रतिदिन सफलता का आलिंगन करती गई।

भगवान् के सहयात्री विभिन्न देशों, विभिन्न दिशाओं, विभिन्न जातियों, विभिन्न सम्प्रदायों और विभिन्न परिस्थितियों से आए हुए लोग थे।

१. साकेत में जिनदेव नाम का व्यापारी रहता था। वह देशाटन करता हुआ कोटिवर्ष नगर में गया। वहां का शासक था किरात (चिलात)। जिनदेव ने उसे बहुमूल्य रत्न उपहार में दिए। किरात ने पूछा—'ये रत्न कहां उत्पन्न होते हैं ?' जिनदेव ने कहा—'मेरे देश में उत्पन्न होते हैं।' किरात ने कौशल देश में जाने की इच्छा प्रकट की। जिनदेव ने अपने राजा की स्वीकृति प्राप्त कर उसे कौशल की यात्रा का निमंत्रण दे दिया। वह जिनदेव के साथ साकेत पहुंचा। राजा शत्रुंजय ने उसका स्वागत किया। वह राजा का अतिथि होकर वहां ठहर गया।

भगवान् महावीर जनपद-विहार करते हुए साकेत पहुंचे। भगवान् के आगमन का संवाद पाकर हज़ारों-हज़ारों व्यक्ति उनकी उपासना के लिए जाने लगे। शत्रुंजय भी भगवान् के पास गया। जनता की भीड़ देखकर किरात ने जिनदेव से पूछा—

'इतने लोग कहां जा रहे हैं ?'

'रत्नों का व्यापारी आया है, उसके पास जा रहे हैं।'

'चलो, हम भी चलें।'

किरात और जिनदेव—दोनों भगवान् के पास आए। किरात ने पूछा—'भंते ! मैंने सुना है कि आपके पास बहुत रत्न हैं ?'

'तुमने सही सुना है।'

'मैं उन्हें देखना चाहता हूं।'

'क्या सच कह रहे हो ?'

'झूठ क्यों कहूंगा ?'

'तो क्या सचमुच रत्नों को देखना चाहते हो ?'

'बहुत उत्सुक हूं, यदि आप दिखाएं तो।'

"मैं कौन दिखाने वाला। तुम देखो वे तुम्हारे पास भी हैं।'

'मेरे पास कहां हैं, भंते ?'

'देखना चाहो तो तुम्हारे पास सब कुछ है।'

'कहां है ? आप बतलाइए। मैं अवश्य देखना चाहता हूं।'

'तुम अब तक बाहर की ओर देखते रहे हो, अब भीतर की ओर देखो। देखो, और फिर गहराई में जाकर देखो।'

किरात की अन्तर्यात्रा शुरू हो गई। वह भीतर में प्रवेश कर गया। उसने रत्नों की ऐसी ज्योति पहले कभी नहीं देखी थी। वह ज्योति की उस रेखा पर पहुंच गया जहां पहुंचने पर फिर कोई तमस् में नहीं लौटता। वह सदा के लिए महावीर का सहयात्री बन गया।[1]

२. अरब के दक्षिणी प्रान्त में आर्द्र नाम का प्रदेश था। वहां आर्द्रक नाम का राजा था। उसका पुत्र था आर्द्रकुमार। एक बार सम्राट् श्रेणिक ने महाराज आर्द्रक को उपहार भेजा। आर्द्रकुमार पिता के पास बैठा था। उसने सोचा, श्रेणिक मेरे पिता का मित्र है। उसका पुत्र मेरा मित्र होना चाहिए। उसने दूत को एकान्त में बुलाकर पूछा। दूत ने अभयकुमार का नाम सुझाया। आर्द्रकुमार ने अभयकुमार के लिए उपहार भेजा। अभयकुमार ने उसका उपहार स्वीकार किया। दोनों मित्र बन गए। अभयकुमार ने बदले में कुछ धर्मोपकरण भेजे। उन्हें देख

१. आवश्यकचूर्णि, उत्तरभाग, पृ० २०३, २०४।

आर्द्रकुमार को पूर्वजन्म की स्मृति हो गई। आर्द्रकुमार अवकाश देखकर अपने देश से निकल गया। वह वासना के तूफानों और विचारों के जंगलों को पार कर भगवान् की यात्रा का सहभागी हो गया।[1]

३. वारिषेण का पिता था श्रेणिक और माता थी चिल्लणा। वह बहुत धार्मिक था। चतुर्दशी का दिन आया। उसने श्मशान में जाकर ध्यान शुरू किया।

राजगृह में विद्युत् नाम का चोर रहता था। वह नगरवधू सुन्दरी से प्रेम करता था। एक दिन सुन्दरी ने कहा—'क्या तुम मुझसे सच्चा प्रेम करते हो?'

'तुम्हें यह सन्देह क्यों हुआ?'

'काल का चक्र चलते-चलते सन्देह की धूली में फंस जाता है। इस नियति को मैं कैसे टाल सकती हूं?'

'तो विश्वास का प्रामाण्य चाहती हो?'

'इस निसर्ग को तुम कैसे टाल सकोगे?'

'मैं तैयार हूं प्रामाण्य देने को। कहो, तुम क्या चाहती हो?'

'महारानी चिल्लणा का हार।'

'क्या सोच-समझकर कह रही हो?'

'हां।'

'क्या यह सम्भव है?'

'प्राणों की आहुति दिए बिना क्या प्रेम पाना सम्भव है?'

'तो क्या मुझे शलभ होना है?'

'इसका निर्णय देनेवाली मैं कौन?'

'मैं निर्णय कर चुका हूं। चिल्लणा का हार शीघ्र ही तुम्हारे गले में विराजित होगा।'

विद्युत् कल्पनाशील चोर था। उसकी सूझ-बूझ अभयकुमार जैसे प्रतिभाशाली महामात्य को भुलावे में डाल देती थी। वह विद्युत् जैसा चपल-त्वरित कार्यवादी था। वह छद्मवेश बना अन्तःपुर में पहुंचा। हार चुराकर चुपके से निकल आया। वह हार लिये जा रहा था। कोतवाल की दृष्टि उस पर पड़ गई। उसने सहज भाव से पूछा—

'विद्युत्! आज क्या छिपाए जा रहे हो?'

'कुछ नहीं, श्रीमान्!'

'कुछ तो है।'

'किसने सूचना दी है आपको?'

'तुम्हारे भारी पैर ही सूचना दे रहे हैं।'

'नहीं, कुछ नहीं है। आप निश्चिन्त रहिए।'

विद्युत् कोतवाल को आश्वस्त कर आगे बढ़ गया। कुछ ही क्षणों में आरक्षी-केन्द्रों को आदेश मिला कि महारानी चिल्लणा का हार किसी ने चुरा लिया है। चोरों को पकड़ा जाए।

कोतवाल ने आरक्षीदल के साथ विद्युत् का पीछा किया। उसे इसका पता चल गया। अब हार को पास में रखना खतरे से खाली नहीं था। वह श्मशान की ओर दौड़ा। वारिषेण ध्यानमुद्रा में खड़ा था। विद्युत् उसके पास हार छोड़कर भाग गया।

आरक्षीदल विद्युत् का पीछा करता हुआ श्मशान में पहुंचा। उसने देखा, महारानी का हार एक साधक के पास पड़ा है। कोतवाल ने सोचा, कोई ढोंगी आदमी है। यह हार चुरा लाया और अब डर के मारे ध्यान का स्वांग रच रहा है। कोतवाल ने उसे बंदी बना राजा के सामने प्रस्तुत किया। राजा ने देखा—यह राजकुमार वारिषेण है। यह अपनी मां का हार कैसे चुरा सकता है ? राजा समझ नहीं सका। पर वह करे क्या ? कोतवाल उसी को चोर सिद्ध कर रहा था। साक्ष्य भी यही कह रहे थे कि हार इसी ने चुराया है। राजा धर्म-संकट में फंस गया। एक ओर अपना प्रिय पुत्र और दूसरी ओर न्याय। तराजू के एक पलड़े में पितृत्व था और दूसरे पलड़े में न्याय का संरक्षण। न्याय का पलड़ा भारी हुआ। राजा ने हृदय पर पाषाण रखकर वारिषेण को मृत्युदंड दे दिया। वधक उसे मारने के लिए श्मशान में ले गए।

वारिषेण महावीर की श्मशान-प्रतिमा को साध चुका था। उसके मन में भय की एक रेखा भी नहीं उभरी। वह जिस शांतभाव से वन्दी बनकर आया था उसी शान्तभाव से मृत्यु का वरण करने के लिए चला गया। इन दोनों स्थितियों में उसका ध्यान भंग नहीं हुआ। उसका मनोबल इतना बढ़ गया कि वधक हतप्रभ-सा हो गया। उसका हाथ नहीं उठ रहा था वध के लिए, फरसा तो उठ ही नहीं रहा था। जो भी वधक वारिषेण के सामने आया वह हतप्रभ होकर खड़ा रह गया। श्रेणिक को इसकी सूचना मिली। वह वारिषेण के पास पहुंचा। उसने कहा—'पुत्र ! मुझे विश्वास था कि तुम चोरी नहीं कर सकते। मैं परिचित हूं तुम्हारी धार्मिकता से। पर मैं क्या करूं, न्याय का प्रश्न था। तुम जानते हो, न्याय अन्धा और बहरा होता है। उसमें सचाई को देखने और सुनने की क्षमता नहीं होती। वह देखता और सुनता है साक्ष्य को। साक्ष्य बता रहे थे कि हार तुमने चुराया है। तुम्हारी सचाई ने तुम्हें निर्दोष प्रमाणित कर दिया। सत्य का वध नहीं किया जा सकता—महावीर के इस सिद्धान्त ने तुम्हें अमर बना दिया है। राजगृह का हर व्यक्ति आज तुम्हारी अमर गाथा गा रहा है। पुत्र ! मुझे क्षमा करना। यदि मैं तुम्हें मृत्युदण्ड नहीं देता तो तुम मृत्यु के द्वार पर पहुंचकर अमर

नहीं बनते। चलो, अब मैं तुम्हें लेने आया हूं।'

'आप जाएं, मैं नहीं जाऊंगा।'

'तो कहां जाओगे ?'

'अपने घर में।'

'क्या राजगृह का प्रासाद तुम्हारा घर नहीं है ?'

'सचमुच नहीं है।'

'कब से ?'

'मैं श्मशान में ध्यान कर रहा था। मुझ पर चोरी का आरोप आया। आपने मुझे दोषी ठहराया। मैंने निश्चय किया कि यदि मैं इस आरोप से मुक्त हुआ तो भगवान् महावीर की शरण में चला जाऊंगा। इसलिए राजगृह का प्रासाद अब मेरा घर नहीं है।'

'क्या माता-पिता को ऐसे ही छोड़ दोगे ?'

'सत्य अंधा और बहरा नहीं है। मैंने उसकी दृष्टि से देखा है कि वास्तव में आत्मा ही माता है और आत्मा ही पिता है।'

'क्या तुम्हारी पत्नी का प्रश्न नहीं है ?'

'यदि वधक मुझे मारने में सफल हो जाता तो क्या होता ?'

'वह नियति का चक्र होता।'

'यह सत्य का उपक्रम है।'

श्रेणिक मौन। सारा वातावरण मौन। वारिषेण के चरण भगवान् महावीर की दिशा में आगे बढ़ गए।

४. राजगृह का वैभव उन्नति के शिखर को छू रहा था। वह धन और धर्म—दोनों की समृद्धि का केन्द्र बन रहा था। भगवान् महावीर का वह मुख्य विहार-स्थल था। भगवान् ने चौदह चातुर्मास वहां बिताए। वैभारगिर की गुफाओं में भगवान् के सैकड़ों श्रमणों ने साधना की लौ जलाई। उसके आसपास फैले हुए जंगलों ने अनेक श्रमणों को एकान्त साधना के लिए आकृष्ट किया। उन्हीं जंगलों और गुफाओं में एक दूसरी साधना भी चल रही थी। राजगृह को आतंकित करने वाले चोर और डाकू उन्हीं की शरण में डेरा डाले बैठे थे। भगवान् ने ठीक ही कहा था कि जो आत्मोत्थान का हेतु हो सकता है वह आत्मपतन का भी हेतु हो सकता है। जो आत्मपतन का हेतु हो सकता है वह आत्मोत्थान का भी हेतु हो सकता है। वैभारगिरि की गुफाएं और जंगल भगवान् के श्रमणों के लिए आत्मोत्थान के हेतु बन रहे थे तो वे चोर और डाकुओं के लिए आत्म-पतन के हेतु भी बन रहे थे।

लोहखुरो नामक चोर ने वैभारगिरि की गुफा को अपना निवास-स्थल बना रखा था। उसकी पत्नी का नाम था रोहिणी। उसके पुत्र का नाम था रोहिणेय। लोहखुरो दुर्दान्त दस्यु था। उसने राजगृह के धनपतियों को आतंकित कर रखा

था। वह बहुत क्रूर था। उसे आत्मा और परमात्मा में कोई विश्वास नहीं था। वह धर्म और धर्म-गुरु के नाम से ही घृणा करता था। वह वर्षों तक राजगृह को आतंकित किए रहा। एक दिन काल ने उसे आतंकित कर दिया। मौत उसके सिर पर मंडराने लगी। उसने रोहिणेय से कहा—'मैं अब अंतिम बात कह रहा हूं। बेटे ! उसका जीवन भर पालन करना।' रोहिणेय बहुत गम्भीर हो गया। उसका उत्सुक मन पिता के निर्देश की प्रतीक्षा में लग गया। लोहखुरो ने कहा—'राजगृह में महावीर नाम के एक श्रमण हैं। मैं सोचता हूं, तुमने उनका नाम सुना होगा ?'

'पिता ! मैंने उनका नाम सुना है। वे बहुत प्रभावशाली व्यक्ति हैं। राजगृह उनके नाम पर मंत्रमुग्ध है।'

'पुत्र ! उनसे बढ़कर अपना कोई शत्रु नहीं है।'

'यह कैसे ?'

'एक बार उनके पास मेरे सहयोगी चले गए। लौटकर आए तो वे चोर नहीं रहे। श्रेणिक हमारा छोटा शत्रु है। वह चोर को वन्दी बना सकता है, पर अचोर नहीं बना सकता। महावीर चोर को अचोर बना देते हैं। उनका प्रयत्न हमारे कुलधर्म पर कुठाराघात है। इसलिए मैं कहता हूं कि तुम उनसे बचकर रहना। न उनके पास जाना और न उनकी वाणी सुनना।'

रोहिणेय ने पिता का आदेश शिरोधार्य कर लिया। लोहखुरो की अंतिम इच्छा पूरी हुई। उसने अपनी क्रूरता के साथ जीवन से अंतिम विदा ले ली।

रोहिणेय के पैर पिता से आगे बढ़ गए। उसने कुछ विद्याएं प्राप्त कर लीं और राजगृह पर अपना पंजा फैलाना शुरू कर दिया। इधर महावीर के असंग्रह, अचौर्य और अभय के उपदेश चल रहे थे, उधर चोर-निग्रह के लिए महामात्य अभयकुमार के नित नए अभियान चल रहे थे। फिर भी राजगृह की जनता चोरी के आतंक से भयभीत हो रही थी। चोरी पर चोरी हो रही थी। बड़े-बड़े धनपति लूटे जा रहे थे। आरक्षीदल असहाय की भांति नगर, पर्वत और जंगल की खाक छान रहा था। पर चोर पकड़ में नहीं आ रहा था।

तस्कर रोहिणेय के पास गगन-गामिनी पादुकाएं थीं और वह रूप-परिवर्तनी विद्या को जानता था। वह कभी-कभी आरक्षीदल के सामने उपस्थित हो जाता और परिचय भी दे देता, पर पकड़ने का प्रयत्न करने से पूर्व ही वह रूप बदल लेता या आकाश में उड़ जाता। सब हैरान थे। राजा हैरान, मंत्री हैरान, आरक्षीदल हैरान और नगरवासी हैरान। अकेला रोहिणेय सबकी आंखों में धूल झोंक रहा था।

दिन का समय था। रोहिणेय एक सूने घर में चोरी करने घुसा। वह तिजोरी तोड़ने का प्रयत्न कर रहा था। पड़ोसियों को पता चल गया। थोड़ी देर में लोग एकत्र हो गए। रोहिणेय ने कोलाहल सुना। वह तत्काल वहां से दौड़ गया। जल्दी

में गगन-गामिनी पादुकाएं वहां भूल गया। वह जिस मार्ग से दौड़ा, उसी के पास भगवान् महावीर प्रवचन कर रहे थे। वह भगवान् की वाणी सुनना नहीं चाहता था। एक कुशल चोर चोरी का खण्डन करने वाले व्यक्ति की वाणी कैसे सुने ? पिता के आदेश-पालन का भी प्रश्न था। उसने भगवान् के प्रवचन-स्थल के पास पहुंचते ही गति तेज कर दी और कानों में अंगुलियां डाल लीं। पर नियति को यह मान्य नहीं था। उसी समय उसके दाएं पैर में एक तीखा कांटा चुभा। उसके पैर लड़खड़ाने लगे। गति मंद हो गई। उसे भय था कि कुछ लोग पीछा कर रहे हैं। कांटा निकाले विना तेज दौड़ना संभव नहीं रहा। उसे निकालने के लिए कानों से अंगुलियां हटाने पर महावीर की वाणी सुनने का खतरा था। उसने दो क्षण सोचा। वह पीछे का खतरा मोल लेना नहीं चाहता था। उसने कानों से अंगुलियां हटाकर कांटा निकाला। उस समय भगवान् देवता के बारे में चर्चा कर रहे थे—'देवता के नयन अनिमिष होते हैं और उनके पैर भूमि से चार अंगुल ऊपर रहते हैं।' भगवान् के ये शब्द उसके कानों में पड़ गए। वह फिर कानों में अंगुलियां डाल दौड़ा। महावीर के शब्दों को भुलाने का प्रयत्न करने लगा। जिसे भुलाने का प्रयत्न किया जाता है, उसकी धारणा अधिक पुष्ट हो जाती है। रोहिणेय प्रयत्न करने पर भी उस वाणी को भुला नहीं सका। वह उसकी धारणा में समा गई।

रोहिणेय का आतंक दिन-प्रतिदिन वढ़ रहा था। नागरिक उत्पीड़ित हो रहे थे। एक दिन प्रमुख नागरिक एकत्र हो मगध नरेश श्रेणिक की राज्यसभा में पहुंचे। उनके चेहरों पर भय, विषाद और आक्रोश की त्रिवली खिंच रही थी। मगध सम्राट् ने उनका कुशल पूछा। वे वोले—'आपकी छत्रछाया में सब कुशल था। पर रोहिणेय की काली छाया राजगृह के नागरिकों का कुशल लील गई।' सम्राट् का चेहरा तमतमा उठा। उसने उसी समय नगर के कोतवाल को बुलाया और कड़ी फटकार सुनाई। कोतवाल ने प्रकंपित स्वर में कहा—'महाराज ! दस्यु बड़ा दुर्दान्त है। मैंने उसे पकड़ने के बहुत प्रयत्न किए। मुझे कहते हुए संकोच हो रहा है कि मेरा एक भी प्रयत्न सफल नहीं हुआ। महामात्य अभयकुमार मेरा मार्ग दर्शन करें, तभी उस चोर को पकड़ा जा सकता है।'

अभयकुमार ने इस कार्य को अपने हाथ में ले लिया। उसने एक गुप्त योजना बनाई। रात के समय नगर के चारों दरवाजों को खुला रखा। प्रहरी अट्टालकों में छिपे रहे। रात के दस-बारह बजे होंगे। रोहिणेय ने दक्षिणी द्वार में प्रवेश किया। अट्टालकों के पास पहुंचते ही प्रहरियों ने उसे पकड़ लिया। उसे भाग निकलने का या रूप बदलने का कोई अवसर नहीं मिला।

दूसरे दिन नगर-रक्षक ने चोर को सम्राट् के सामने प्रस्तुत किया। सम्राट् की भृकुटी तन गई। उसने क्रोधावेश में कहा—'रोहिणेय ! तूने राजगृह को आतंकित

कर रखा है। भद्र-पुरुषों के इस नगर में केवल तू ही अभद्र है। अब तू अपने पापों का फल भुगतने को तैयार हो जा। तुझे क्यों नहीं मृत्युदंड दिया जाए?'

बंदी बोला—'सम्राट् जो कह रहे हैं, वह बहुत उचित है। जिस रोहिणेय ने राजगृह को उत्पीड़ित कर रखा है, उसे मृत्युदंड अवश्य मिलना चाहिए। पर प्रभो! जो रोहिणेय नहीं है, क्या उसे भी मृत्युदंड मिलना चाहिए?'

बंदी का तर्क सुन सम्राट् और सभासद् एक क्षण मौन हो गए। सब ध्यानपूर्वक उसके चेहरे की ओर देखने लगे। वे एक-दूसरे से पूछने लगे—'क्या यह रोहिणेय नहीं है?' वातावरण में संदेह की तरंगें उठने लगीं। सम्राट् ने पूछा—'क्या तू रोहिणेय नहीं है?'

'नहीं, बिलकुल नहीं।'

'तो फिर तू कौन है?'

'मैं शालग्राम का व्यापारी हूं।'

'तेरा नाम?'

'दुर्गचण्ड।'

'क्या व्यापार करता है?'

'जवाहरात का।'

'रात को कहां जा रहा था?'

'गांव से चलकर यहां आ रहा था। कुछ विलम्ब हो गया। इसलिए रात पड़ गई। प्रहरियों ने बंदी बना लिया।'

'क्या तू सच कह रहा है?'

'आप जांच करा लें।'

सम्राट् ने अभयकुमार की ओर देखा। उसने सम्राट् की भावना का समर्थन किया और गुप्तचर को उसकी जांच के लिए शालग्राम भेज दिया। सभा विसर्जित हो गई।

रोहिणेय ने शालग्राम की जनता पर जादू कर रखा था। वह उस ग्राम की आकांक्षा की पूर्ति करता था। ग्राम ने उसकी आकांक्षा की पूर्ति की। उसने जो परिचय दिया था, उसकी ग्रामीण जनता ने पुष्टि की। गुप्तचर ने प्राप्त जानकारी की सूचना सम्राट् को दे दी। सम्राट् ने रोहिणेय को मुक्त कर दिया। अभयकुमार ने उससे क्षमा-याचना की और मैत्री का प्रस्ताव किया। दोनों मित्र बन गए। अभयकुमार ने भोजन का अनुरोध किया। रोहिणेय ने वह स्वीकार कर लिया। शिक्षित कर्मचारियों ने उसके भोजन की व्यवस्था की। वह भोजन करते-करते मूर्च्छित हो गया। कर्मकरों ने उसे उठाकर एक भव्य प्रासाद में सुला दिया। कुछ घंटों बाद मादक द्रव्यों का नशा उतरा। वह अंगड़ाई लेकर उठा। उसने आंखें खोलीं। वह स्वप्न-लोक में उतर आया। मीठी-मीठी परिमल से उसका मन प्रफुल्लित हो गया।

कुछ अप्सराएं आईं और प्रणाम की मुद्रा में बोलीं—'यह स्वर्ग है। यह है स्वर्गीय वैभव। आप यहां जन्मे हैं। हम जानना चाहती हैं कि आपने पिछले जन्म में क्या कर्म किए? क्या चोरी की? डाका डाला? मनुष्यों को सताया? उन्हें मारा-पीटा? या और कुछ किया? ऐसे कार्य करने वाले ही स्वर्ग में जन्म लेते हैं।'

रोहिणेय अवाक् रह गया। वह कुछ समझ नहीं सका। उसने चारों ओर दृष्टि दौड़ाई। अप्सराओं की ओर देखा। उसे महावीर की वाणी याद आ गई। 'इनके नेत्र अनिमिष नहीं हैं। इनके पैर धरती को छू रहे हैं।' ये मानवीय युवतियां हैं, अप्सराएं नहीं हैं। यह अभयकुमार की कूटनीति का चक्र है। वह स्थिति को ताड़ गया। उसने कहा—'मैं दुर्गचण्ड हूं। अभी जीवित हूं, मनुष्य-लोक में ही हूं। आप मेरी आंखों पर पर्दा डालने का यत्न न करें।' गुप्तचर ने अभयकुमार को सारी घटना की सूचना दी। उसने असफलता का अनुभव किया और रोहिणेय को ससम्मान शालग्राम गांव की ओर भेज दिया।

रोहिणेय का हृदय परिवर्तन हो गया। उसने सोचा—महावीर की एक वाणी ने मुझे उबार लिया। मेरे पिता ने उनके पास जाने और उनकी वाणी सुनने से मुझे रोककर अच्छा काम नहीं किया। अब मैं उनके पास जाऊं और उनकी वाणी सुनूं।

भगवान् महावीर प्रवचन कर रहे थे। श्रेणिक, अभयकुमार और अन्य अधिकारी वहां उपस्थित थे। रोहिणेय भी उनके पास बैठा था। भगवान् ने अहिंसा की व्याख्या की—'सुख आत्मा की स्वाभाविक अनुभूति है। इन्द्रिय-सुख भी उसी अनुभूति का एक स्फुलिंग है। पर दूसरे के सुख को लूटकर सुख पाने का प्रयत्न दु:ख की शृंखला का निर्माण करता है। जो दूसरे का सुख लूटता है, उसे सत्य का अनुभव नहीं होता। इसका अनुभव उसे होता है जो दूसरे के सुख को लूटकर सुखी होने का प्रयत्न नहीं करता।'

'एक पुरुष पक्षियों का प्रेमी था। वह अनेक पक्षियों को पिंजड़े में बन्द रखता था। उसने कभी अनुभव नहीं किया कि दूसरों की स्वतंत्रता का अपहरण कितना दु:खद होता है। एक बार वह किसी कुचक्र में फंस गया। आरक्षी ने उसे बन्दी बना कारा में डाल दिया। उसकी स्वतंत्रता छिन गई। दूसरों को पिंजड़े में डालने वाला स्वयं पिंजड़े में चला गया। अब उसे सच्चाई का अनुभव हुआ। उसने अपने परिवार के पास संदेश भेजा—मेरा हित चाहते हो तो सब पक्षियों को मुक्त कर दो। मुझे पिंजड़े की परतंत्रता का अनुभव हो चुका है। अब मैं किसी को पिंजड़े में बन्द नहीं रख सकता।'

भगवान् की वाणी सुन रोहिणेय का ज्ञानचक्षु खुल गया। उसे हिंसा का प्रत्यक्ष दर्शन हुआ। वह खड़ा होकर बोला—'भंते! मुझे हिंसा के प्रति ग्लानि हुई है। मैं अहिंसा का जीवन जीना चाहता हूं। आप मुझे इसकी स्वीकृति दें।'

श्रेणिक ने अभयकुमार से कहा—'यह वही व्यक्ति है, जिसे रोहिणेय चोर समझ कर हमारे आरक्षियों ने बंदी बनाया था। वह धर्मात्मा प्रतीत हो रहा था। लगता है कि हमारे प्रशासन ने इसे संदेहवश तिरस्कृत किया है।' सम्राट् ने अपनी बात पूरी नहीं की, इतने में उस व्यक्ति का परिचय पाकर सारी परिषद् स्तब्ध रह गई। उसने कहा—'मेरा नाम रोहिणेय है। चोरी मेरा कुलधर्म है। मैंने राजगृह को आतंकित किया है। लाखों-करोड़ों की संपदा चुराई है। मगध की सारी शक्ति मेरे पीछे लग गई पर मुझे नहीं पकड़ सकी। आज भगवान् ने मुझे पकड़ लिया। मैं हिंसा की पकड़ में नहीं आया किन्तु अहिंसा की पकड़ में आ गया।'

रोहिणेय ने श्रेणिक से कहा—'महाराज! महामात्य को मेरे साथ भेजें। मैं चुराया हुआ धन उन्हें सौंप दूंगा। मुझे विश्वास है कि वह उनके स्वामियों को लौटा दिया जाएगा। महाराज! आप मेरे बारे में क्या सोचते हैं?'

'तुम अपने बारे में क्या सोचते हो, पहले यह बताओ—' सम्राट् ने कहा।

रोहिणेय ने सहज मुद्रा में कहा—'मैं भगवान् के पास दीक्षित होने का निर्णय कर चुका हूं।'

'साधुवाद, साधुवाद'—श्रेणिक का स्वर हजारों कंठों से एक साथ गूंज उठा। भय पर अभय की, संदेह पर विश्वास की, हिंसा पर अहिंसा की विजय हो गई। राजगृह ने सुख की सांस ली।

राजगृह की जनता को अपना धन मिला और रोहिणेय को अपना धन मिला। दोनों की दिशाएं अपनी-अपनी समृद्धि से भर गईं। रोहिणेय का चोर मर गया। उसके आसन पर उसका साधु बैठ गया। बड़ा चोर कभी छोटा साधु नहीं हो सकता। उसने साधु जीवन की महत्ता को अंतिम सांस तक विकसित किया।

५. उन दिनों नेपाल रत्नकम्बल के लिए प्रसिद्ध था। कुछ व्यापारी रत्नकम्बल लेकर राजगृह पहुंचे। सम्राट् श्रेणिक का अभिवादन कर अपना परिचय दिया और रत्नकम्बल दिखलाए। एक रत्नकम्बल का मूल्य सवा लाख मुद्राएं। सम्राट् ने उन्हें खरीदने से इन्कार कर दिया। वे निराश हो गए। मगध सम्राट् की यशोगाथा सुनकर वे आए थे। उन्हें आशा थी कि सम्राट् उनके सब कम्बल खरीद लेंगे। सम्राट् ने एक भी नहीं खरीदा। वे उदास चेहरे लेकर राजप्रासाद से निकले। वे मगध और राजगृह के बारे में कुछ हल्की बातें करते जा रहे थे।

राजगृह में गोभद्र नाम का श्रेष्ठी था। उसकी पत्नी का नाम था भद्रा। उसके शालिभद्र नाम का पुत्र था। गोभद्र इस लोक से चल बसा था। भद्रा घर का संचालन कर रही थी। वह अपने वातायन में बैठी थी। वे व्यापारी उसके नीचे से गुजरे। भद्रा ने उनकी बातें सुनीं। मगध और राजगृह के प्रति अवज्ञापूर्ण शब्द सुन उसे धक्का लगा। उसका देशाभिमान जाग उठा। उसने व्यापारियों को बुलाया। उसने मगध की राजधानी के प्रति घृणा प्रकट करने का हेतु पूछा। उन्होंने अपनी

आशा, निराशा और घृणा की सारी कहानी सुना दी।

भद्रा ने उन्हें आश्वासन दिया और उनके सारे रत्नकम्बल खरीद लिये। वे प्रसन्न होकर मगध की गौरवगाथा गाते हुए अपने स्थान पर चले गए।

महारानी चिल्लणा ने दूसरे दिन महाराज से एक रत्नकम्बल खरीद लेने का आग्रह किया। सम्राट् ने व्यापारियों को बुलाकर एक रत्नकम्बल खरीदने की बात कही। उन्होंने कहा—'सब कम्बल बिक गए।'

सम्राट् ने आश्चर्य के साथ पूछा—'इतने कम्बल किन लोगों ने खरीदे ?'

'एक ही व्यक्ति ने।'

'ऐसा कौन है ?'

'आपके राज्य में श्रीमंतों की कमी नहीं है।'

'फिर भी मैं नाम जानना जाहता हूं।'

'हमारे कम्बलों को खरीदने वाली एक महिला है। उसका नाम है भद्रा।'

सम्राट् ने भद्रा के पास एक अधिकारी भेजा। उसने भद्रा को सम्राट् की भावना बताई। भद्रा ने कहा—'मैंने वे कम्बल पुत्र-वधुओं को दे दिए। उन्होंने पैर पोंछकर फेंक दिए।' अधिकारी ने सम्राट् को भद्रा की बात बता दी। उसकी बात सुन सम्राट् अवाक् रह गया। उसने शालिभद्र को देखने की इच्छा प्रकट की। भद्रा ने सम्राट् को अपने घर पर आमंत्रित किया।

सम्राट् भद्रा के घर पहुंचा। उसका ऐश्वर्य देख वह चकित रह गया। भद्रा ने शालिभद्र से कहा—'बेटे ! नीचे चलो ! तुम्हें देखने के लिए सम्राट् आया है।' शालिभद्र नहीं जानता था कि सम्राट् क्या होता है। वह अपने ही कार्य और वैभव में तन्मय था। उसने अपनी धुन में कहा—'मां ! तुम जो लेना चाहो वह ले लो। मुझे क्या पूछती हो ?' भद्रा ने कहा—'बेटे ! चुप रहो। यह कोई खरीदने की वस्तु नहीं है। यह मगध का सम्राट् है, अपना स्वामी है।' स्वामी का नाम सुनते ही शालिभद्र का माथा ठनक गया। उसकी आत्मा प्रकंपित हो गई। उसकी स्वतन्त्रता पर पाला पड़ गया। वह अनमना होकर सम्राट् के पास गया। सम्राट् ने उसे अपने पास बैठा लिया। उससे सौहार्दपूर्ण बातें कीं। वह कुछ ही क्षणों में खिन्न हो गया। भद्रा के अनुरोध पर सम्राट् ने उसे जल्दी ही छुट्टी दे दी। उसका शरीर पसीने से और मन ग्लानि से भर गया। उसकी स्वतन्त्रता के बांध में गहरी दरार हो गई।

शालिभद्र का नवनीत-सा सुकुमार शरीर, स्वर्गीय वैभव और सुखमय जीवन। इन सबसे ऊपर थी उसकी स्वतन्त्रता की अनुभूति। वह उसी के दर्पण में अपने जीवन का प्रतिबिम्ब देखता था। उस पर चोट लगते ही उसका स्वप्न चूर हो गया। वह स्वतन्त्रता के लिए तड़प उठा, जैसे मछली पानी के लिए तड़पती है। प्रासाद में उसे स्वतन्त्रता नहीं मिल सकती। वह मिल सकती है प्रासाद का विसर्जन करने

पर। महावीर ने प्रासाद-विसर्जन का मंत्र दिया है। शालिभद्र ने अनगार होने का संकल्प कर लिया।

शालिभद्र का संकल्प सुन भद्रा शून्य हो गई। उसने पुत्र को प्रासाद में रखने के तीव्र प्रयत्न किए। पर वह सफल नहीं हो सकी। उसने हार कर कहा—'बेटे ! तुम घर में न रहो तो कम से कम मेरी एक बात अवश्य स्वीकार करो। एक-एक दिन में एक-एक पत्नी को छोड़ो, इस प्रकार बत्तीस दिन फिर घर में रहो।' शालिभद्र ने माता का अनुरोध स्वीकार कर लिया।

शालिभद्र की बहन थी सुन्दरी। उसके पति का नाम था धन्य। उसने देखा सुन्दरी की आंखों से आंसू टपक रहे हैं। उसने आंसू का कारण पूछा। सुन्दरी ने कहा—'मेरा भाई प्रतिदिन एक-एक भाभी को छोड़ रहा है। उसकी स्मृति होते ही मेरी आंखों में आंसू छलक पड़े।'

धन्य ने सुन्दरी की बात सुनकर कहा—'तेरा भाई कायर है। जब घर छोड़ना ही है तब एक-एक पत्नी को क्या छोड़ना ?'

सुन्दरी ने व्यंग में कहा—'कहना सरल है, करना सरल नहीं है।'

'क्या तुम परीक्षा चाहती हो ?' यह कहकर उसने आठों पत्नियों को एक साथ छोड़ दिया।

शालिभद्र और धन्य—दोनों भगवान् महावीर के पास दीक्षित हो गए।[1]

---

१. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र १०।१०।५७-१४८।

४४

संघ-भेद

क्षत्रियकुण्डग्राम में जमालि नाम का क्षत्रियकुमार रहता था। एक दिन उसने देखा क्षत्रियकुण्ड के निवासी ब्राह्मणकुण्ड की ओर जा रहे हैं। उसने अपने कंचुकी को बुलाकर इसका कारण पूछा। उसने बताया—'भगवान् महावीर ब्राह्मणकुण्ड में पधारे हैं। हमारे ग्रामवासी लोग उनके पास जा रहे हैं।' जमालि के मन में भी जिज्ञासा उत्पन्न हुई। वह अपने परिवार के साथ भगवान् के समवसरण में गया। भगवान् के पास धर्म सुन जमालि सम्बुद्ध हो गया। वह बोला—'भंते ! आपके प्रवचन में मेरी श्रद्धा निर्मित हुई है। आपने जो कहा वह सत्य है, असंदिग्ध है। भंते ! मेरे मन में आत्म-दर्शन की भावना प्रबल हो गई है। मैं अब मुनि बनना चाहता हूं।' भगवान् ने कहा—'जैसी तुम्हारी इच्छा हो वैसा करो।'

भगवान् स्वतन्त्रता के प्रवक्ता थे। वे किसी पर किसी प्रकार का दबाव नहीं डालते थे। उनका स्वीकृति-सूत्र था 'यथासुखम्'। भगवान् ने 'यथासुखम्' कहकर जमालि को दीक्षित होने की स्वीकृति दी। जमालि माता-पिता और पत्नियों की स्वीकृति प्राप्त कर मुनि बन गया। उसके साथ पांच सौ क्षत्रियकुमार दीक्षित हुए। वह ग्यारह अंगसूत्रों का अध्ययन कर 'आचारज्ञ' और तपस्या की आराधना कर तपस्वी हो गया।

एक बार जमालि भगवान् के पास आया। उसने कहा—'भंते ! मैं पांच सौ श्रमणों के साथ जनपद-विहार करना चाहता हूं। आप मुझें आज्ञा दें।' भगवान् मौन रहे। जमालि ने फिर पूछा। भगवान् फिर मौन रहे। जमालि ने भगवान् की अनुमति प्राप्त किए बिना ही जनपद-विहार के लिए प्रस्थान कर दिया।

जमालि पांच सौ श्रमणों के साथ जनपद-विहार करता हुआ श्रावस्ती पहुंचा। वह कोष्ठक चैत्य में ठहरा हुआ था। असंतुलित और अव्यवस्थित भोजन के कारण उसे पित्त-ज्वर हो गया। उसका शरीर दाह से जलने लगा। उसने श्रमणों से

कहा —'बिछौना बिछा दो।' श्रमण बिछौना बिछाने लगे। जमालि शारीरिक वेदना से अभिभूत हो रहा था। उसने आतुर स्वर में पूछा—'क्या बिछौना बिछा चुके ?'

श्रमणों ने कहा—'भंते ! बिछाया नहीं, बिछा रहे हैं।' श्रमणों का उत्तर सुन जमालि के मन में तर्क उठा—'भगवान् महावीर क्रियमाण को कृत कहते हैं। जो किया जा रहा है, उसे किया हुआ कहते हैं। किन्तु यह सिद्धान्त परीक्षण की कसौटी पर सही नहीं उतर रहा है। मैं प्रत्यक्ष अनुभव कर रहा हूं—जो बिछौना बिछाया जा रहा है, वह बिछा हुआ नहीं है। यदि बिछा हुआ होता तो मैं उस पर सो जाता।' जमालि ने श्रमणों को आमंत्रित कर अपने मन का तर्क उनके सामने रखा। कुछ श्रमणों को जमालि का तर्क बहुत अच्छा लगा। कुछ श्रमणों ने उसे अस्वीकार कर दिया। जमालि महावीर के संघ से मुक्त होकर स्वतन्त्र विहार करने लगा। कुछ शिष्य जमालि के साथ रहे और कुछ उसे छोड़ भगवान् के पास चले गए।

जमालि स्वस्थ हो गया। वह श्रावस्ती से प्रस्थान कर चम्पा में आया। भगवान् महावीर उसी नगरी के पूर्णभद्र चैत्य में विहार करते थे। जमालि भगवान् के पास आया। भगवान् के सामने खड़ा रहकर वह बोला—'आपके अनेक शिष्य अ-केवली (असर्वज्ञ) रहकर अ-केवली-विहार कर रहे हैं, किन्तु मैं अ-केवली-विहार नहीं कर रहा हूं। मैं केवली (सर्वज्ञ) होकर केवली-विहार कर रहा हूं।'

जमालि की गर्वोक्ति सुनकर भगवान् के प्रधान शिष्य गौतम ने कहा—'जमालि ! केवली का ज्ञान पर्वत, स्तम्भ या स्तूप से आवृत नहीं होता। तुम यदि केवली हो, तुम्हारा ज्ञान यदि अनावृत है तो मेरे इन दो प्रश्नों का उत्तर दो'—

१. लोक शाश्वत है या अशाश्वत ?

२. जीव शाश्वत है या अशाश्वत ?

जमालि गौतम के प्रश्न सुन शंकित हो गया। वह गौतम के आशय को समझने का प्रयत्न करता रहा पर वह समझ में नहीं आया, तब मौन रहा।

भगवान् ने जमालि को सम्बोधित कर कहा—'जमालि ! मेरे अनेक शिष्य ऐसे हैं जो अ-केवली होते हुए भी इन प्रश्नों का उत्तर देने में समर्थ हैं। फिर भी वे तुम्हारी भांति अपने आपको केवली होने की घोषणा नहीं करते।

'जमालि ! लोक शाश्वत है। यह लोक कभी नहीं था, कभी नहीं है और कभी नहीं होगा—ऐसा नहीं है। इसलिए मैं कहता हूं, यह लोक शाश्वत है।

'जमालि ! यह लोक विविध कालचक्रों से गुजरता है, इसलिए मैं कहता हूं कि यह लोक अशाश्वत है।

'जमालि ! जीव कभी नहीं था, कभी नहीं है और कभी नहीं रहेगा—ऐसा नहीं है। इसलिए मैं कहता हूं, यह जीव शाश्वत है।

'जमालि ! यह जीव कभी मनुष्य होता है, कभी तिर्यंच, कभी देव और कभी नारक। यह विविध योनिचक्रों में रूपांतरित होता रहता है। इसलिए मैं कहता हूं, यह जीव अशाश्वत है।

'जमालि ! तुम नय के सिद्धान्त को नहीं जानते इसलिए तुम नहीं बता सके कि लोक शाश्वत है या अशाश्वत, जीव शाश्वत है या अशाश्वत।

'जमालि ! तुम नय के सिद्धान्त को नहीं जानते, इसलिए तुम क्रियमाण कृत के सिद्धान्त में दिग्मूढ़ हो गए।

'जमालि ! मैंने दो नयों का प्रतिपादन किया है—

१. निश्चयनय—वास्तविक सत्यस्पर्शी दृष्टिकोण।

२. व्यवहारनय—व्यावहारिक सत्यस्पर्शी दृष्टिकोण।

'मैंने क्रियमाण के सिद्धान्त का निरूपण निश्चय नय के आधार पर किया है। उसके अनुसार क्रियाकाल और निष्ठाकाल अभिन्न होते हैं। प्रत्येक क्रिया अपने क्षण में कुछ निष्पन्न करके ही निवृत्त होती है। यदि क्रियाकाल में कार्य निष्पन्न न हो तो वह क्रिया के निवृत्त होने पर किस कारण से निष्पन्न होगा ? वस्त्र का पहला तन्तु यदि वस्त्र नहीं है तो उसका अन्तिम तन्तु वस्त्र नहीं हो सकता। अन्तिम तन्तु का निर्माण होने पर कहा जाता है कि वस्त्र निर्मित हो गया। यह स्थूल दृष्टि है, व्यवहार नय है। वास्तविक दृष्टि यह है कि तन्तु-निर्माण के प्रत्येक क्षण ने वस्त्र का निर्माण किया है। यदि पहले तन्तु के क्षण में भी वस्त्र का निर्माण नहीं होता तो अन्तिम तन्तु के क्षण में भी वस्त्र का निर्माण नहीं हो पाता।'

भगवान् ने नयों की व्याख्या कर जमालि को समझाया पर उसने अपना आग्रह नहीं छोड़ा। वह सदा के लिए महावीर के संघ से मुक्त होकर अपने सिद्धान्त को फैलाता रहा।[1] यह घटना भगवान् के केवली होने के चौदहवें वर्ष में घटित हुई।[2] संघ की स्थापना का भी यह चौदहवां वर्ष था। तेरह वर्षों तक संघ में कोई भेद नहीं हुआ। चौदहवें वर्ष में यह संघ-भेद का सूत्रपात हुआ। भगवान् का व्यक्तित्व इतना विराट् था कि जमालि द्वारा संघ में भेद डालने का तीव्र प्रयत्न करने पर भी उसका व्यापक प्रभाव नहीं हुआ।

प्रियदर्शना जमालि की पत्नी थी। वह जमालि के साथ ही भगवान् के पास दीक्षित हुई थी। उसके पास साध्वियों का समुदाय था। उसने जमालि का साथ दिया। वह भगवान् के संघ से अलग हो गई। एक बार वह अपने साध्वी-समुदाय के साथ विहार करती हुई श्रावस्ती पहुंची। वहां ढंक नाम का कुम्हार था। वह उसकी भांडशाला में ठहरी। वह भगवान् महावीर का उपासक था। वह तत्त्व को

1. भगवई, ९।१५६-२३४; आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० ४१६-४१९।
2. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० ४१९ : चोद्दस वासाणि···उप्पण्णोत्ति।

जानता था। उसने एक दिन साध्वी प्रियदर्शना की चादर पर एक अग्निकण फेंका। चादर जलने लगी। साध्वी प्रियदर्शना ने भावावेश में कहा—'आर्य ! यह क्या किया ? मेरी चादर जल गई।' ढंक बोला—'चादर जली नहीं, वह जल रही है। जमालि के मतानुसार चादर के जल चुकने पर ही कहा जा सकता है कि चादर जल गई। अभी आपकी चादर जल रही है, फिर आप क्यों कहती हैं कि मेरी चादर जल गई ?'

ढंक के तर्क ने साध्वी प्रियदर्शना के मानस पर गहरी चोट की। उसका विचार परिवर्तित हो गया। वह अपने साध्वी-समुदाय के साथ पुनः भगवान् महावीर के संघ में सम्मिलित हो गई।[1]

---

१. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० ४१८ : साविय णं पियदंसणा···पण्णवेति।
···ताहे गता सहस्सपरिवारा सामिं उवसंपज्जित्ताणं विहरति।

४५

अहिंसा के हिमालय पर हिंसा का वज्रपात

भगवान् महावीर श्रावस्ती के कोष्ठक चैत्य में ठहरे हुए थे। उनके ज्येष्ठ शिष्य गौतम आहार की एषणा के लिए नगरी में गए। उन्होंने लोगों से सुना कि गोशालक अपने आपको 'जिन' (तीर्थंकर) कहता है।

गौतम भगवान् के पास पहुंचे। उन्होंने भगवान् से कहा—'मैंने आज श्रावस्ती में सुना है कि गोशालक अपने आपको 'जिन' कहता है। क्या यह ठीक है, भंते? मैं उनके जीवन का इतिवृत्त जानना चाहता हूं।'

भगवान् ने कहा—गोशालक मंखलि और भद्रा का पुत्र है। मैं दूसरा चातुर्मास नालन्दा के बाहर तन्तुवाय-शाला में बिता रहा था। उस समय गोशालक भी वहीं आकर ठहरा। मैंने एक मास का उपवास किया। पारण के लिए मैं गृहपति विजय के घर गया। उसने बड़े आदर के साथ मुझे आहार दिया। उसके आहार-दान की जनता में बहुत प्रशंसा हुई। वह गोशालक के कानों तक पहुंची। वह मेरी ओर आकृष्ट हो गया। उसने मुझसे कहा—'आप मेरे धर्माचार्य हैं। मैं आपका अंतेवासी हूं। आप यह स्वीकार करें।' मैंने यह स्वीकार नहीं किया।

दूसरे मासिक उपवास का पारण मैंने गृहपति आनन्द और तीसरे मासिक उपवास का पारण मैंने सुनन्द के घर किया। चौथे मासिक उपवास का पारण करने के लिए मैं नालन्दा के निकटवर्ती 'कोल्लाग सन्निवेश' में गया। वहां बहुल नाम का ब्राह्मण रहता था। उसके घर मुझे आहार-दान मिला। गोशालक मुझे खोजता-खोजता कोल्लाग सन्निवेश के बाहर पहुंच गया। वहां पण्यभूमि में मुझे मिला। उसने मुझसे कहा—'आप मेरे धर्माचार्य हैं। मैं आपका अंतेवासी हूं। आप यह स्वीकार करें।' इस बार मैंने यह स्वीकार कर लिया। अब हम दोनों साथ-साथ रहने लगे। छह वर्ष तक हम साथ रहे, फिर अलग हो गए।'

गौतम ने भगवान् से सुना वह कुछ लोगों को बताया। उनकी बात आगे

फैली। वह फैलती-फैलती गोशालक के कानों तक पहुंच गई। उसे वह बात प्रिय नहीं लगी। उसका मन प्रज्वलित हो गया।

एक दिन भगवान् के शिष्य आनन्द नामक श्रमण आहार की एषणा के लिए श्रावस्ती में जा रहे थे। गोशालक ने उन्हें देखा। उन्हें बुलाकर कहा—'आनन्द ! यहां आओ और एक दृष्टान्त सुनो।' आनन्द गोशालक के पास चले गए। वे सुनने की मुद्रा में खड़े हो गए। गोशालक कहने लगा—'पुराने जमाने की बात है। कुछ व्यापारी माल लेकर दूर देश जा रहे थे। रास्ते में जंगल आ गया। वे भोजन-पानी की व्यवस्था कर जंगल में चले। कुछ दूर जाने पर उनके पास का जल समाप्त हो गया। आसपास में न कोई गांव और न कोई जलाशय। वे प्यास से आकुल होकर चारों ओर जल खोजने लगे। खोजते-खोजते उन्होंने चार बांबियां देखीं। एक बांबी को खोदा। उसमें जल निकला—शीतल और स्वच्छ। व्यापारियों ने जल पिया और अपने बर्तन भर लिये। कुछ व्यापारियों ने कहा—अभी तीन बांबियां बाकी हैं। इन्हें भी खोद डालें। पहली से जलरत्न निकला है। सम्भव है दूसरी से स्वर्णरत्न निकल आए। उनका अनुमान सही निकला। उन्होंने दूसरी बांबी को खोदा, उसमें सोना निकला। उनका मन लालच से भर गया। अब वे कैसे रुक सकते थे ? उन्होंने तीसरी बांबी की भी खुदाई की। उसमें रत्नों का खजाना मिला। उनका लोभ सीमा पार कर गया। वे परस्पर कहने लगे—पहली में हमें जल मिला, दूसरी में सोना और तीसरी में रत्न। चौथी में सम्भव है और भी मूल्यवान् वस्तु मिले। उनमें एक वणिक् अनुभवी और सबका हितैषी था। उसने कहा—'हमें बहुत मिल चुका है। अब हम लालच न करें। चौथी बांबी को ऐसे ही छोड़ दें। हो सकता है इसमें कुछ और ही निकले।' उसके इस परामर्श पर किसी ने ध्यान नहीं दिया। उन व्यापारियों के हाथ चौथी बांबी को तोड़ने आगे बढ़े। जैसे ही उन्होंने बांबी को तोड़ने का प्रयत्न किया, एक भयंकर फुफकार से वातावरण कांप उठा। एक विशालकाय सर्प बाहर आया और बांबी के शिखर पर चढ़ गया। वह दृष्टिविष था—उसकी आंखों में जहर था। उसने सूर्य की ओर देखा, फिर अपलक आंखों से उन व्यापारियों के सामने देखा। उसकी आंखों से इतनी तीव्र विष-रश्मियां निकलीं कि वे सब के सब व्यापारी वहीं भस्म हो गए। एक वही व्यापारी बचा जिसने सबको रोका था।

आनन्द ! तुम्हारे धर्माचार्य पर भी यही दृष्टान्त लागू होता है। उन्हें बहुत मान-सम्मान, पूजा-प्रतिष्ठा मिली है। फिर भी वे संतुष्ट नहीं हैं। वे कहते हैं—गोशालक मेरा शिष्य है। वह जिन नहीं है। तुम जाओ और अपने धर्माचार्य को सावधान कर दो, अन्यथा मैं जाऊंगा और उनकी वही दशा करूंगा जो दृष्टि-विष सर्प ने उन व्यापारियों की की थी। सिर्फ तुम बच पाओगे।'

आनन्द के मन में एक हलचल-सी पैदा हो गई। वे हालाहला कुम्भकारी की

भांडशाला से निकलकर शीघ्र भगवान् के पास आए। उन्होंने गोशालक के साथ हुई सारी बातचीत भगवान् के सामने रखी। वे भगवान् की शक्ति को जानते थे, फिर भी उनके मन में एक प्रकंपन पैदा हो गया। वे कंपित स्वर में बोले—'भंते! क्या गोशालक अपनी तैजस शक्ति से भस्म करने में समर्थ है?'

भगवान् ने कहा—'वह समर्थ है पर अर्हत् को भस्म नहीं कर सकता। उन्हें केवल परितप्त कर सकता है। आनन्द! तुम जाओ और सभी श्रमणों को सावधान कर दो कि यदि गोशालक यहां आए तो कोई उससे वाद-विवाद न करे, पूर्व घटना की स्मृति न दिलाए और उसका तिरस्कार न करे।'

आनन्द ने सब श्रमणों को भगवान् के आदेश की सूचना दे दी। वे अपना काम पूरा कर भगवान् के पास आ रहे थे, इतने में आजीवक संघ के साथ गोशालक वहां आ पहुंचा। उसने आते ही कहा—'ठीक है आयुष्मान् काश्यप! तुमने मेरे बारे में यह कहा—गोशालक मेरा शिष्य है। पर मैं तुम्हारा शिष्य नहीं हूं। जो तुम्हारा शिष्य था वह मर चुका। आयुष्मान् काश्यप! मैं सात शरीरान्त प्रवेश कर चुका हूं—

१. सातवें मनुष्य भव में मैं उदायी कुंडियान था। राजगृह नगर के बाहर मण्डिकुक्ष-चैत्य में उदायी कुंडियान का शरीर छोड़कर मैंने ऐणेयक के शरीर में प्रवेश किया और बाईस वर्ष उसमें रहा।

२. उद्दंडपुर नगर के चन्द्रावतरण-चैत्य में ऐणेयक का शरीर छोड़ा और मल्लराम के शरीर में प्रवेश किया। बीस वर्ष उसमें रहा।

३. चम्पा नगर के अंगमन्दिर-चैत्य में मल्लराम का शरीर छोड़कर मंडित के शरीर में प्रवेश किया और अठारह वर्ष उसमें रहा।

४. वाराणसी नगरी में काममहावन में माल्यमंडित का शरीर छोड़कर रोह के शरीर में प्रवेश किया और उन्नीस वर्ष उसमें रहा।

५. आलभिया नगरी के पत्तकलाय-चैत्य में रोह के शरीर का त्याग कर भरद्वाज के शरीर में प्रवेश किया और अठारह वर्ष उसमें रहा।

६. वैशाली नगरी के कोडिन्यायन-चैत्य में गौतम-पुत्र अर्जुन के शरीर में प्रवेश कर सतरह वर्ष उसमें रहा।

७. श्रावस्ती में हालाहला की भांडशाला में अर्जुन के शरीर को छोड़कर इस गोशालक के शरीर में प्रवेश किया। इस शरीर में सोलह वर्ष रहने के पश्चात् सर्व दुःखों का अन्त करके मुक्त हो जाऊंगा।

इस प्रकार आयुष्मान् काश्यप! एक सौ तेईस वर्ष में मैंने सात शरीरान्त-परावर्तन किया है।'

गोशालक की बात सुनकर भगवान् बोले—'गोशालक! यह ठीक वैसे ही है, जैसे कोई चोर भाग रहा है। पकड़ने वाले लोग उसका पीछा कर रहे हैं। उसे

छिपने के लिए कोई गढा, दरी, गुफा, दुर्ग, पहाड़, निम्नस्थल या विषमस्थल नहीं मिल रहा है। उस समय वह एकाध ऊन के रेशे, सन के रेशे, रुई के रेशे या तृण के अग्रभाग से अपने को ढंककर—ढंका हुआ न होने पर भी—वह मान ले कि मैं ढंका हुआ हूं। तुम दूसरे न होते हुए भी 'मैं दूसरा हूं' कहकर अपने आपको छिपाना चाहते हो। गोशालक ! ऐसा मत करो। ऐसा करना उचित नहीं है।'

भगवान् महावीर की बात सुनकर गोशालक क्रुद्ध हो गया। उसने भगवान् से अनेक आक्रोशपूर्ण बातें कहीं। फिर बोला—'मुझे लगता है अब तुम नष्ट हो गए, विनष्ट हो गए, भ्रष्ट हो गए। इसमें कोई संदेह नहीं तुम नष्ट, विनष्ट और भ्रष्ट—तीनों एक साथ हो गए। पता नहीं आज तुम बच पाओगे या नहीं। अब मेरे हाथों तुम्हारा अप्रिय होने वाला है।'

गोशालक दो क्षण मौन रहा। उस समय भगवान् महावीर का पूर्वदेशीय शिष्य सर्वानुभूति नाम का अनगार उठा। उसका भगवान् के प्रति अत्यन्त धर्मानुराग था इसलिए वह अपने को रोक नहीं सका। वह गोशालक के पास जाकर बोला—'गोशालक ! कोई व्यक्ति किसी श्रमण या ब्राह्मण के पास एक भी धार्मिक वचन सुनता है, वह उसे वन्दना करता है, उसकी उपासना करता है। फिर भगवान् महावीर ने तो तुम्हें प्रव्रजित किया, बहुश्रुत किया और तुम उन्हीं के साथ ऐसा व्यवहार कर रहे हो ? गोशालक ! ऐसा मत करो। ऐसा करना उचित नहीं है।'

सर्वानुभूति की बात सुन गोशालक उत्तेजित हो उठा। उसने अपनी तैजस शक्ति का प्रयोग किया और सर्वानुभूति को, भगवान् के देखते-देखते, भस्म कर दिया।

सर्वानुभूति को भस्म कर गोशालक फिर भगवान् को कोसने लगा। उस समय अयोध्या से प्रव्रजित सुनक्षत्र नाम का अनगार उठा। उसने गोशालक को समझाने का प्रयत्न किया। सुनक्षत्र की बातें सुन गोशालक फिर उत्तेजित हो गया। उसने फिर तैजस शक्ति का प्रयोग किया और सुनक्षत्र को भस्म कर डाला।

अब भगवान् स्वयं बोले—'गोशालक ! मैंने तुम्हें प्रव्रजित किया, बहुश्रुत किया और तुम मेरे ही साथ ऐसा व्यवहार कर रहे हो ? गोशालक ! ऐसा मत करो। ऐसा करना उचित नहीं है।'

भगवान् का प्रयत्न अनुकूल परिणाम नहीं ला सका। गोशालक और अधिक क्षुब्ध हो गया। वह सात-आठ चरण पीछे हटा। उसने पूरी शक्ति लगा भगवान् पर तैजस शक्ति का प्रयोग किया। उस आकस्मिक प्रयोग ने भगवान् के शिष्यों को हतप्रभ-सा कर दिया। वातावरण में भयानक सन्नाटा छा गया। चारों ओर धूआं और आग की लपटें उछलने लगीं। दूर-दूर के लोग एक साथ चीत्कार कर उठे।

उस आग ने भगवान् के शरीर में घुसने का प्रयत्न किया पर वह घुस नहीं सकी। वह भगवान् के शरीर के पास चक्कर काटती रही। उससे भगवान् का शरीर झुलस गया। वह शक्ति आकाश में उछली और लौटकर गोशालक के शरीर को प्रज्वलित करती हुई उसी में प्रविष्ट हो गई।

गोशालक ने कहा—'आयुष्मान् काश्यप ! तुम मेरे तप-तेज से दग्ध हो चुके हो। अब तुम पित्तज्वर और दाह से पीड़ित होकर छह मास के भीतर असर्वज्ञदशा में ही मर जाओगे।'

भगवान् बोले—'गोशालक ! मैं छह मास के भीतर नहीं मरूंगा। अभी सोलह वर्ष तक जीवित रहूंगा।'

इधर कोष्ठक-चैत्य में यह संलाप चल रहा था और उधर श्रावस्ती के राजमार्गों और बाजारों में इसी की चर्चा हो रही थी। कोई अपने मित्र से कह रहा था—'आज महावीर और गोशालक—दोनों तीर्थंकरों के बीच संलाप हो रहा है।' कोई कह रहा था—'महावीर के सामने गोशालक क्या टिकेगा ?' कोई कह रहा था—'ऐसी बात नहीं है। गोशालक भी बहुत शक्तिशाली है। यह बराबर की भिड़न्त है, देखें क्या होता है।' जितनी टोलियां, उतनी ही बातें। कोई टोली महावीर का समर्थन कर रही थी और कोई गोशालक का।

संवाद पहुंचा कि गोशालक ने अपने तप-तेज से महावीर के दो साधुओं को भस्म कर दिया। लोग गोशालक की जय-जयकार करने लगे। फिर संवाद पहुंचा कि गोशालक ने महावीर को भस्म करने का प्रयत्न किया पर वह कर नहीं सका। उसकी तैजस शक्ति लौटकर उसी के शरीर में चली गई। वह आकुल-व्याकुल हो गया। लोग महावीर की जय-जयकार करने लगे। जन-साधारण चमत्कार देखता है। वह धर्म को नहीं देखता। यदि महावीर में रागात्मक प्रवृत्ति होती तो वे अपने दो शिष्यों को कभी नहीं जलने देते। उनमें जब रागात्मक प्रवृत्ति थी तब उन्होंने गोशालक को नहीं जलने दिया। वैश्यायन तपस्वी ने गोशालक पर तैजस शक्ति का प्रयोग किया। उस समय भगवान् महावीर ने शीतल तैजस शक्ति से उसकी शक्ति को निर्वीर्य बना दिया। पर अब महावीर वीतराग हो चुके थे। अब वे धर्म की उस भूमिका पर पहुंच चुके थे जहां उनके सामने जीवन और मृत्यु का भेद समाप्त हो चुका था, स्व और पर का भेद मिट चुका था। वे शक्तिप्रयोग की भूमिका से ऊपर उठ चुके थे। उनके सामने केवल धर्म ही था, चमत्कार कतई नहीं। जो लोग चिंतनशील थे, उन पर दो मुनियों को जलाने के संवाद का बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। वे धर्म को रागात्मक प्रवृत्तियों से बचने का साधन मानते थे। वे मानते थे कि धर्म सार्वभौम प्रेम है। उसकी मर्यादा में कोई किसी का शत्रु होता ही नहीं। धर्म के क्षेत्र में रागात्मक प्रवृत्तियां घुस आती हैं, तब धर्म के नाम पर संघर्ष प्रारम्भ हो जाते हैं। भगवान् महावीर ने अपनी वीतरागता तथा गोशालक

की शक्ति को स्वयं झेलकर संघर्ष को समाप्त कर दिया। गोशालक शान्त होकर अपने स्थान पर चला गया। वातावरण जैसे उत्तेजित हुआ, वैसे ही शान्त हो गया।

भगवान् श्रावस्ती से विहार कर मेंढिय ग्राम पहुंचे। वहां शाणकोष्ठक-चैत्य में ठहरे। भगवान् के शरीर में पित्तज्वर और दाह का भयंकर प्रकोप हो गया। साथ-साथ रक्तातिसार भी हो गया। भगवान् के रोग की चर्चा सुन चारों वर्णों के लोग कहने लगे—भगवान् महावीर गोशालक के तप-तेज से पराभूत हो गए हैं। गोशालक की भविष्यवाणी सही होगी। वे छह मास में मर जाएंगे, ऐसा प्रतीत हो रहा है। यह चर्चा दूर-दूर तक फैली। शाणकोष्ठक-चैत्य के पास ही मालुयाकच्छ था। वहां भगवान् महावीर का अंतेवासी सिंह नाम का अनगार तप और ध्यान की साधना कर रहा था। यह चर्चा उसके कानों तक पहुंची। वह मानसिक व्यथा से अभिभूत हो गया। वह आतापनभूमि से उतरा और मालुयाकच्छ में आकर जोर-जोर से रोने लगा।

भगवान् महावीर ने कुछ श्रमणों को बुलाकर कहा—'तुम जाओ, मालुयाकच्छ में मेरा अंतेवासी सिंह नाम का अनगार मेरी मृत्यु की आशंका से आशंकित होकर रो रहा है। उसे यहां बुलाकर ले आओ।' श्रमणों ने भगवान् महावीर को वंदना की। वे वहां से चले और मालुयाकच्छ में पहुंचे। उन्होंने देखा सिंह अनगार सिसक-सिसक कर रो रहा है। वे सिंह को सम्बोधित कर बोले—'सिंह ! तुम्हें भगवान् बुला रहे हैं।' उसे थोड़ा आश्वासन मिला। वह कुछ संभला। वह आए हुए श्रमणों के साथ भगवान् के पास पहुंचा। भगवान् बोले—'सिंह ! तू मेरे रोग का संवाद सुन मेरी मृत्यु की आशंका से आशंकित हो गया। तेरे मन में संशय पैदा हो गया कि कहीं गोशालक की बात सच न हो जाए। तू संशय से अभिभूत होकर रोने लग गया। क्यों, सच है न ?'

'भंते ! ऐसा ही हुआ।'

'सिंह ! तू चिंता को छोड़। आशंका को मन से निकाल दे। मैं अभी सोलह वर्ष तक तुम्हारे बीच रहूंगा।'

भगवान् की वाणी सुन सिंह का चित्त हर्षोत्फुल्ल हो गया। उसका चेहरा खिल उठा। उसने भगवान् के रोग पर चिंता प्रकट की। भगवान् से दवा लेने का अनुरोध किया। भगवान् ने कहा— 'काल का परिपाक होने पर रोग अपने आप शान्त हो जाएगा।' सिंह ने कहा—'नहीं, भंते ! कुछ उपाय कीजिए।' भगवान् ने कहा—'सिंह ! तुम गृहपत्नी रेवती के घर जाओ। उसने मेरे लिए कुम्हड़े का पाक तैयार किया है। वह तुम मत लाना। उसने अपने घर के लिए विजौरापाक बनाया है, वह ले आओ।' सिंह रेवती के घर गया। रेवती ने मुनि को वन्दना की और आने का प्रयोजन पूछा। सिंह ने सारी बात बता दी। रेवती ने आश्चर्य की मुद्रा में

कहा—'भंते ! मेरे मन की गुह्य बात किसने बताई ?' 'भगवान् महावीर ने'—सिंह ने उत्तर दिया। रेवती ने भगवान् के ज्ञान को वन्दना की और बिजौरापाक मुनि को दिया। वह उसे ले भगवान् के पास गया। भगवान् ने उसे खाया। रोग थोड़े समय में शान्त हो गया। भगवान् पूर्ण स्वस्थ हो गए। भगवान् के स्वास्थ्य का संवाद पाकर श्रमण तुष्ट हुए, श्रमणियां तुष्ट हुईं, श्रावक तुष्ट हुए, श्राविकाएं तुष्ट हुईं और क्या, समूचा लोक तुष्ट हो गया।[1]

---

१. देखें—भगवती शतक पन्द्रहवां।

४६

निर्वाण

भगवान् महावीर जितने अंतर् में सुन्दर थे, उतने ही बाहर में सुन्दर थे। उनका आन्तरिक सौन्दर्य जन्म-लब्ध था और साधना ने उसे शिखर तक पहुंचा दिया। उनका शारीरिक सौन्दर्य प्रकृति-प्राप्त था और स्वास्थ्य ने उसे शतगुणित और चिरजीवी बना दिया। भगवान् अपने जीवन-काल में बहुत स्वस्थ रहे। उन्होंने अपने जीवन में एक बार चिकित्सा की। वह भी किसी रोग के कारण नहीं की। गोशालक की तैजस शक्ति से उनका शरीर झुलस गया था, तब उन्होंने औषधि का प्रयोग किया। इस घटना को छोड़कर उन्होंने कभी औषधि नहीं ली। उनके स्वास्थ्य के मूल आधार तीन थे—

१. आहार-संयम।

२. शरीर और आत्मा के भेदज्ञान की सिद्धि।

३. राग-द्वेष की ग्रन्थि का विमोचन।

भोजन की अधिक मात्रा, शारीरिक और मानसिक तनाव—ये शरीर को अस्वस्थ बनाते हैं। भगवान् इन सबसे मुक्त थे, इसलिए वे सदा स्वस्थ रहे।

भगवान् गृहवास में भी स्वाद पर विजय पा चुके थे। उनके भोजन की दो विशेषताएं थीं—मित मात्रा और मित वस्तुएं। भगवान् के साधनाकाल में उपवास के दिन अधिक हैं, भोजन के दिन कम। इन उपवासों ने उनके शरीर में रासायनिक परिवर्तन कर दिया। उपवास की लम्बी शृंखला के कारण उनका शरीर कृश अवश्य हुआ, किन्तु उनकी रोग-निरोधक क्षमता इतनी बढ़ गई कि कोई रोग उस पर आक्रमण नहीं कर सका। आयुर्वेद के आचार्यों ने लंघन को बहुत महत्त्वपूर्ण बताया है। अश्विनीकुमार योगी का रूप बनाकर घूम रहे थे। वे वाग्भट के पास पहुंच गए। उन्होंने वाग्भट से पूछा—

'वैद्य! मुझे उस औषधि का नाम बताओ जो भूमि और आकाश में उत्पन्न

नहीं है, पथ्य, रसशून्य और सर्वशास्त्र-सम्मत है।'[1]

वाग्भट ने उत्तर की भाषा में कहा—

'आयुर्वेद के आचार्यों ने लंघन को परम औषध बतलाया है। वह भूमि और आकाश में उत्पन्न नहीं है, पथ्य, रसशून्य और सर्वशास्त्र सम्मत है।'[2]

आयुर्वेद का लंघन यदि परम औषधि है तो उपवास चरम औषधि है। जैन आचार्यों ने लंघन और उपवास में बहुत अन्तर बतलाया है। लंघन का अर्थ केवल अनाहार है किन्तु उपवास का अर्थ बहुत गहरा है। केवल आहार न करना ही उपवास नहीं है। उसका अर्थ है आत्मा की सन्निधि में रहना, चित्तातीत चेतना का उदय होना। इस दशा में रोग की संभावना ही नहीं हो सकती।

भगवान् ने साधना-काल में कुछ महीनों तक रूक्ष और अरस भोजन के प्रयोग किए। शरीरशास्त्रियों का मत है कि पूरे तत्त्व न मिलने पर शरीर रुग्ण हो जाता है। पर भगवान् कभी रुग्ण नहीं हुए। चेतना के उच्च विकास ने शरीर की आंतरिक क्रिया पूरी तरह बदल दी। उनका प्रभु पूर्णभाव से जागृत हो गया। फिर यह देह-मन्दिर कैसे स्वस्थ, सुन्दर और सशक्त नहीं रहता ?

कैवल्य प्राप्त होने पर भगवान् की साधना सम्पन्न हो गई। फिर उन्होंने नैरंतरिक उपवास नहीं किए ! उपवास अपने आप में कोई लक्ष्य नहीं है। वह लक्ष्य-पूर्ति का एक साधन है। लक्ष्य की पूर्ति होने पर साधन असाधन बन गया।

स्कन्दक परिव्राजक भगवान् के पास गया। उस समय भगवान् प्रतिदिन आहार करते थे। इससे उनका शरीर बहुत पुष्ट, दीप्तिमान् और अलंकार के विना भी विभूषित जैसा लग रहा था। वह भगवान् के शारीरिक सौन्दर्य को देखकर मुग्ध हो गया।

श्वेताम्बर मानते हैं कि केवली होने के बाद भी भगवान् आहार करते थे। दिगम्बर मानते हैं कि केवली होने के बाद भगवान् आहार नहीं करते थे। वास्तविकता क्या है, यह नहीं कहा जा सकता। सिद्धान्ततः दोनों वास्तविकता से परे नहीं हैं। कैवल्य और आहार में कोई विरोध नहीं है। इसलिए भगवान् आहार करते थे—यह श्वेताम्बर मान्यता अयथार्थ नहीं है। शक्ति-संपन्न योगी खाए बिना भी शरीर धारण कर सकता है। इसलिए भगवान् आहार नहीं करते थे—यह दिगम्बर मान्यता भी अयथार्थ नहीं है।

भगवान् बहत्तरवें वर्ष में चल रहे थे। उस अवस्था में भी वे पूर्ण स्वस्थ थे। वे

---

१. अभूमिजमनाकाशं, पथ्यं रसविवर्जितम्।
सम्मतं सर्वशास्त्राणां, वद वैद्य ! किमौषधम् ?

२. अभूमिजमनाकाशं, पथ्यं रसविवर्जितम्।
पूर्वाचार्यैः समाख्यातं, लंघनं परमौषधम्॥

राजगृह से विहार कर अपापा पुरी में आए। वहां की जनता और राजा हस्तिपाल ने भगवान् के पास धर्म का तत्त्व सुना। भगवान् के निर्वाण का समय बहुत समीप आ रहा था। भगवान् ने गौतम को आमंत्रित कर कहा—'गौतम ! पास के गांव में सोमशर्मा नाम का ब्राह्मण है। उसे धर्म का तत्त्व समझाना है। तुम वहां जाओ और उसे सम्बोधि दो।' गौतम भगवान् का आदेश शिरोधार्य कर वहां चले गए।

भगवान् ने दो दिन का उपवास किया। वे दो दिन-रात तक प्रवचन करते रहे।[1] भगवान् ने अपने अंतिम प्रवचन में पुण्य और पाप के फलों का विशद विवेचन किया।[2] भगवान् प्रवचन करते-करते ही निर्वाण को प्राप्त हो गए। उस समय रात्रि चार घड़ी शेष थी।[3]

वह ज्योति मनुष्य लोक से विलीन हो गई जिसका प्रकाश असंख्य लोगों के अन्तःकरण को प्रकाशित कर रहा था। वह सूर्य क्षितिज के उस पार चला गया जो अपने रश्मिपुंज से जन-मानस को आलोकित कर रहा था।

मल्ल और लिच्छवि गणराज्यों ने दीप जलाए। कार्तिकी अमावस्या की रात जगमगा उठी। भगवान् का निर्वाण हुआ उस समय क्षणभर के लिए समूचे प्राणी-जगत् में सुख की लहर दौड़ गई।

ईसा पूर्व ५९९ (विक्रम पूर्व ५४२) में भगवान् का जन्म हुआ।
ईसा पूर्व ५६९ (विक्रम पूर्व ५१२) में भगवान् श्रमण बने।
ईसा पूर्व ५५७ (विक्रम पूर्व ५००) में भगवान् केवली बने।
ईसा पूर्व ५२७ (विक्रम पूर्व ४७०) में भगवान् का निर्वाण हुआ।

---

१. सौभाग्यपंचम्यादि पर्वकथा संग्रह, पत्र १००।
२. समवाओ, ५५।४।
३. कल्पसूत्र, सूत्र १४७; सुबोधिका टीका—चतुर्घटिकावशेषायां रात्रौ।

४७

परम्परा

सोमशर्मा ब्राह्मण प्रतिबुद्ध हो गया। गौतम अपने कार्य में सफल होकर भगवान् के पास आ रहे थे। उनका मन प्रसन्न था। वे सोच रहे थे—'मैं भगवान् को अपने उद्देश्य में सफल होने की बात कहूंगा। उन्हें इसका पता है, फिर भी मैं अपनी ओर से बताऊंगा।' वे अपनी कल्पना का ताना-बाना बुन रहे थे। इतने में उन्हें संवाद मिला कि भगवान् महावीर का निर्वाण हो गया।

उनकी वाणी मौन, पैर स्तब्ध और शरीर निश्चेष्ट हो गया। उन्हें भारी आघात लगा। उन्होंने कल्पना भी नहीं की थी कि जीवन भर शरीर के साथ छाया की भांति भगवान् के साथ रहने वाला गौतम निर्वाण के समय उनसे बिछुड़ जाएगा। उन्हें भगवान् के शारीरिक वियोग पर जितना दुःख हुआ, उससे भी अधिक दुःख इस बात का हुआ कि वे निर्वाण के समय भगवान् के पास नहीं रह सके। वे भावावेश में भगवान् को उलाहना देने लगे—'भंते! आपने मेरे साथ विश्वासघात किया। आपने मुझे अंतिम समय में सोमशर्मा को प्रतिबोध देने क्यों भेजा? यह कार्य चार दिन बाद भी किया जा सकता था। लगता है, मेरा अनुराग एकपक्षीय था। मैं आपसे अनुराग कर रहा था, आप मुझसे अनुराग नहीं कर रहे थे। भला एकपक्षीय अनुराग कब तक चल सकता है? एक दिन उसे टूटना ही पड़ता है। आपने मेरे चिरकालीन सम्बन्ध को कच्चे धागे की भांति तोड़ डाला। आप चले गए। मैं पीछे रह गया।'

कुछ क्षणों के लिए गौतम भान भूल गए। उनकी अन्तरात्मा जागृत हुई। वे संभले। उन्होंने सोचा—मैं वीतराग को राग की भूमिका पर लाने का प्रयत्न कर रहा हूं। क्यों नहीं मैं उनकी भूमिका पर चला जाऊं? गौतम की दिशा बदल गई। वे वीतराग के पथ पर चल पड़े। सही दिशा, सही पथ और दीर्घकालीन साधना—सबका योग मिला। गौतम ध्यान के उच्च शिखर पर पहुंचे। उनका राग क्षीण

हुआ। वे केवली हो गए। उन्हें महावीर के जीवनकाल में जो नहीं मिला, वह उनके निर्वाण के बाद मिल गया।

अग्निभूति, वायुभूति, अचलभ्राता, मेतार्य और प्रभास—इन पांच गणधरों का भगवान् से पहले निर्वाण हो चुका था। व्यक्त, मंडित, मौर्यपुत्र और अकंपित—इन चार गणधरों का निर्वाण भगवान् के निर्वाण के कुछ महीनों बाद हुआ। इन्द्रभूति भगवान् के पश्चात् साढ़े बारह वर्ष और सुधर्मा साढ़े बीस वर्ष जीवित रहे। ये दोनों पचास वर्ष तक गृहवास में रहे। भगवान् का निर्वाण हुआ तब ये ८० वर्ष के थे। गौतम का निर्वाण ९२ वर्ष की तथा सुधर्मा का निर्वाण १०० वर्ष की अवस्था में हुआ।

भगवान् महावीर तीर्थंकर थे। वे परम्परा के कारण हैं, पर परम्परा में नहीं हैं। तीर्थंकर की परम्परा नहीं होती। वह किसी का शिष्य नहीं होता और उसका शिष्य तीर्थंकर नहीं होता। इस दृष्टि से भगवान् महावीर के धर्म-शासन में प्रथम आचार्य सुधर्मा हुए। वे भगवान् के उत्तराधिकारी नहीं थे। भगवान् ने अपना उत्तराधिकार किसी को नहीं सौंपा। भगवान् के धर्म-संघ के अनुरोध पर सुधर्मा ने धर्म-शासन का सूत्र संभाला।

गौतम भगवान् के सबसे ज्येष्ठ शिष्य थे। उनकी श्रेष्ठता भी अद्वितीय थी। पर भगवान् के निर्वाण के तत्काल बाद वे केवली हो गये। इसलिए वे आचार्य नहीं बने। केवली किसी का अनुसरण नहीं करता। वह जनता को यह नहीं कहता कि महावीर ने ऐसा कहा, इसलिए मैं यह कह रहा हूं। उसकी भाषा यह होती है कि मैं ऐसा देख रहा हूं, इसलिए यह कह रहा हूं। भगवान् महावीर का धर्म-शासन चलाना था। उनकी अनुभूति वाणी को फैलाने का गुरुतर दायित्व संभालने में सुधर्मा सक्षम थे, इसलिए धर्म-संघ ने उन्हें आचार्यपद पर स्थापित किया।

बौद्ध पिटकों में मिलता है कि भगवान् महावीर के निर्वाण के बाद उनके धर्म-संघ में फूट पड़ गयी। मज्झिमनिकाय में लिखा है—

'एक बार भगवान् शाक्य जनपद के समागम में विहार कर रहे थे। पावा में कुछ समय पूर्व ही निग्गंठ नातपुत्त की मृत्यु हुई थी। उनकी मृत्यु के अनन्तर ही निग्गंठों में दो पक्ष हो गए। लड़ाई, कलह और विवाद होने लगा। निग्गंठ एक दूसरे को वचन-बाणों से पीड़ित करते हुए कह रहे थे—तू इस धर्म-विनय को नहीं जानता, मैं इसको जानता हूं। तू इस धर्म-विनय को कैसे जान सकेगा? तू मिथ्या प्रतिपन्न है, मैं सम्यग्-प्रतिपन्न हूं। मेरा कथन हितकारी है, तेरा कथन अहितकारी है। पूर्व कथनीय बात तूने पीछे कही और पश्चात् कथनीय बात पहले कही। तेरा वाद आरोपित है। तू वाद में पकड़ा जा चुका है। अब तू उससे छूटने का प्रयत्न कर। यदि तू समर्थ है तो इस वाद को समेट ले। उस समय नातपुत्तीय निग्गंठों में युद्ध-सा हो रहा था।'

निग्गंठ नातपुत्त के श्वेत वस्त्रधारी गृहस्थ शिष्य भी नातपुत्तीय निग्गंठों में वैसे ही विरक्तचित्त हैं, जैसे कि वे नातपुत्त के दुराख्यात, दुष्प्रवेदित, अनैर्यानिक अनृ-उपशम-संवर्तनिक, अ-सम्यक्-संबुद्ध-प्रवेदित, प्रतिष्ठा-रहित, भिन्नस्तूप, आश्रय रहित धर्म विनय में थे।

चुन्द समणुद्देश पावा में वर्षावास समाप्त कर सामगाम में आयुष्मान् आनन्द के पास आए और उन्हें निग्गंठ नातपुत्त की मृत्यु तथा निग्गंठों में हो रहे विग्रह की विस्तृत सूचना दी। आयुष्मान् आनन्द बोले—आवुस चुन्द ! भगवान् के दर्शन के लिए यह कथा भेंट रूप है। आओ, हम भगवान् के पास चलें और उन्हें निवेदित करें।'

दोनों भगवान् के पास आए और अभिवादन कर एक ओर बैठ गए। आनन्द ने सारा घटना-वृत्त भगवान् बुद्ध को सुनाया।

जैन आगमों में उक्त घटना का कोई उल्लेख नहीं है। भगवान् महावीर के जीवनकाल में संघर्ष की दो घटनाएं घटित हुई थीं। भगवान् ५६ वर्ष के थे उस समय भगवान् के शिष्य जमालि ने संघ-भेद की स्थिति उत्पन्न की थी। जमालि के साथ पांच सौ श्रमण थे। उनमें से कुछेक जमालि का समर्थन कर रहे थे और कुछ उसका विरोध कर रहे थे। हो सकता है, उस घटना की स्मृति और काल की विस्मृति ने इस घटना को जन्म दिया हो।

भगवान् जब ५८ वर्ष के थे, उस समय उनके शिष्य गौतम और भगवान् पार्श्व के शिष्य केशी में वाद हुआ था। उसमें धर्म, वेशभूषा आदि अनेक विषयों पर चर्चा हुई थी। बहुत संभव है कि पिटकों में यही घटना काल की विस्मृति के साथ उल्लिखित हुई हो।

४८

जीवन का विहंगावलोकन

१. कर्तृत्व के मूलस्रोत

१. से वीरिएणं पडिपुण्णवीरिए।[1]
—भगवान् वीर्य से परिपूर्ण थे।

२. खेयण्णए से कुशले मेधावी।[2]
—भगवान् आत्मज्ञ, कुशल और मेधावी थे।

३. अणंतणाणी य अणंतदंसी।[3]
—भगवान् अनन्तज्ञानी और अनन्तदर्शी थे।

४. गंथा अतीते अभए अणाऊ।[4]
—भगवान् सब ग्रन्थों से अतीत, अभय और अनायु थे।

५. वइरोयणिंदे व तमं पगासे।[5]
—भगवान् सूर्य की भांति अंधकार को प्रकाश में बदल देते थे।

---

१. सूयगडो : १।६।६।
२. सूयगडो : १।६।३।
३. सूयगडो : १।६।३।
४. सूयगडो : १।६।५।
५. सूयगडो : १।६।६।

२. श्रमण जीवन का ज्ञानपूर्वक स्वीकार

६. किरियाकिरियं वेणइयाणुवायं,
अण्णाणियाणं पडियच्च ठाणं ।
से सव्ववायं इह वेयइत्ता,
उवट्ठिए सम्म स दीहरायं ।।[1]

—भगवान् क्रियावाद, अक्रियावाद, विनयवाद और अज्ञानवाद—इन वादों को जानकर फिर मोक्ष-साधना में उपस्थित हुए। साधना का संकल्प अवस्थित हो जाता है, उसका भंग नहीं हो सकता। साधना के जिस तल पर पहुंच हो जाती है, उसके नीचे नहीं उतरा जा सकता, प्रगति के बाद प्रतिगति नहीं हो सकती। इस सिद्धान्त के अनुसार भगवान् आजीवन मोक्ष के लिए समर्पित हो गए।

३. तप और ध्यान

७. उवहाणवं दुक्खखयट्ठयाए।[2]
—भगवान् ने पूर्व-अर्जित दुःखों को क्षीण करने के लिए तपस्या की।

८. अणुत्तरं झाणवरं झियाइ।[3]
—भगबान् ने सत्य की प्राप्ति के लिए ध्यान किया।

९. अदु पोरिसिं तिरियभित्तिं, चक्खु मासज्ज अंतसो झाई।[4]
—भगवान् ने प्रहर-प्रहर तक तिरछी भित्ति पर आंख टिकाकर ध्यान किया।

१०. मीसीभावं पहाय से झाई।[5]
—भगवान् जन-संकुल स्थानों को छोड़कर एकान्त में ध्यान करते थे।

---

१. सूयगडो : १।६।२७।
२. सूयगडो : १।६।२८।
३. सूयगडो : १।६।१६।
४. आयारो : ६।१।५।
५ आयारो : ६।१।७।

११. अविझाति से महावीरे, आसणत्थे अकुक्कुए झाणं।
उड्ढमहेतिरियं च, लोए झायइ समाहिमपडिन्ने ॥[1]
—भगवान् विविध आसनों में स्थिर होकर ध्यान करते थे। वे ऊर्ध्व-लोक, अधोलोक और तिर्यक् लोक को ध्येय बनाकर ध्यान करते थे।

४. मौन

१२. पुट्ठो वि णाभिभासिंसु।[2]
—भगवान् पूछने पर भी प्रायः नहीं बोलते थे।

१३. रीयइ माहणे अबहुवाई।[3]
—भगवान् बहुत नहीं बोलते थे। अनिवार्यता होने पर कुछेक शब्द बोलते थे।

१४. अयमंतरंसि को एत्थ? अहमंसित्ति भिक्खू आहट्टु।[4]
—'यहां भीतर कौन है?' ऐसा पूछने पर भगवान् उत्तर देते—'मै भिक्षु हूं।'

५. निद्रा

१५. णिद्दंपि णो पगामाए, सेवइ भगवं उट्ठाए।
जग्गावती य अप्पाणं, ईसिं साई यासी अपडिन्ने ॥[5]
—भगवान् विशेष नींद नहीं लेते थे। वे बहुत वार खड़े-खड़े ध्यान करते तब भी अपने आपको जागृत रखते थे। वे समूचे साधना-काल में बहुत थोड़े सोए। साढ़े बारह वर्षों में मुहूर्त्त भर भी नहीं सोए।

१६. णिक्खम्म एगया राओ, बहिं चंकमिया मुहुत्तागं।[6]
—कभी-कभी नींद सताने लगती तब भगवान् चंक्रमण कर उस पर विजय पा लेते। वे निरन्तर जागरूक रहने का प्रयत्न करते।

---

१. आयारो : ९।१।१४।
२. आयारो : ९।१।७।
३. आयारो : ९।२।१०।
४. आयारो : ९।२।१२।
५. आयारो : ९।२।५।
६. आयारो : ९।२।६।

साढे बारह वर्षों में केवल कुछेक मिनटों की नींद लेना सामान्य प्रकृति अनुकूल नहीं लगता। पर योगी के लिए यह असम्भव नहीं है। जो योगी अपनी चेतना को चिर-जागृत कर लेता है, जिसका सूक्ष्म शरीर सक्रिय हो जाता है, उसको नींद की आवश्यकता नहीं होती है या कम होती है। शारीरिक परिवर्तन से भी कभी-कभी ऐसी घटनाएं घटित हो जाती हैं। आरमाण्ड जैक्विस लुहरवेट का जन्म ईसवी सन् १७६१ में फ्रांस में हुआ था। वे दो वर्ष के थे तब उनके सिर पर कोई वस्तु गिरी। चोट गहरी लगी। उन्हें अस्पताल ले जाया गया। वे कई दिनों तक मूर्च्छित रहे। कुछ दिनों के उपचार के बाद उनकी चेतना वापस आई। चोट से कोई शारीरिक परिवर्तन हो गया। उनकी नींद समाप्त हो गई। उन्हें नींद लाने वाली औषधियां दी गई, पर नींद नहीं आई।

नींद शरीर की सामान्य प्रकृति है। किन्तु चेतना की चिर-जागृति और शारीरिक परिवर्तन के द्वारा उस प्रकृति में परिवर्तन होना सम्भावित है और काल के अविरल प्रवाह में समय-समय पर ऐसा हुआ भी है।

६. आहार

१७. मायण्णे असणपाणस्स।[१]

—भगवान् भोजन और पानी की मात्रा को जानते थे और उनका मात्रा के अनुरूप ही प्रयोग करते थे।

१८. ओमोयरियं चाएति, अपुट्ठेवि भगवं रोगेहिं।[२]

—भगवान् स्वस्थ होने पर भी कम खाते थे। रोग से स्पृष्ट मनुष्य अधिक नहीं खा सकते। भगवान् रुग्ण नहीं थे, फिर भी अधिक नहीं खाते थे।

१९. णाणुगिद्धे रसेसु अपडिन्ने।[३]

—भगवान् सरस भोजन में आसक्त नहीं थे।

२०. अदु जावइत्थ लूहेणं, ओयण-मंथु-कुम्मासेणं।[४]

—भगवान् भोजन के विविध प्रयोग करते थे। एक बार उन्होंने रूक्ष भोजन का प्रयोग किया। वे कोरे ओदन, मंथु और कुल्माष खाते रहे।

---

१. आयारो : ६।२।२०।
२. आयारो : ६।४।१।
३. आयारो : ६।१।२०।
४. आयारो : ६।४।४।

२१. एयाणि तिन्नि पडिसेवे, अट्ठ मासे य जावए भगवं ।[1]
—भगवान् ने आठ मास तक उक्त तीन वस्तुओं के आधार पर जीवन चलाया ।

२२. अपिइत्थ एगया भगवं, अद्धमासं अदुवा मासं पि ?[2]
२३. अवि साहिए दुवे मासे, छप्पि मासे अदुवा अपिवित्ता ।।[3]
—भगवान् उपवास में पानी भी नहीं पीते थे । एक बार उन्होंने एक पक्ष तक पानी नहीं पिया । एक मास, दो मास और छह मास तक भी पानी पिए बिना रहे ।

सामान्य धारणा है कि खान-पान के बिना जीवन नहीं चलता । खाए बिना मनुष्य कुछ दिन रह सकता है पर पानी पिए बिना लम्बे समय तक नहीं रहा जा सकता । पर भगवान् महावीर ने छह मास तक भोजन-जल न लेकर यह प्रमाणित कर दिया कि मनुष्य संकल्प और प्राणशक्ति के आधार पर भोजन और जल के बिना लम्बे समय तक जीवित रह सकता है ।

७. देहासक्ति विसर्जन

२४. पुट्ठे वा से अपुट्ठे वा, णो से सातिज्जति तेइच्छं ।[4]
—भगवान् रोग से स्पृष्ट होने या न होने पर चिकित्सा की इच्छा नहीं करते थे ।

२५. दुक्खसहे भगवं अपडिन्ने ।[5]
—भगवान् कष्टों को सहन करते थे ।

२६. अचले भगवं रीइत्था ।[6]
—भगवान् चंचलता से मुक्त होकर विहार करते थे ।

---

१. आयारो : ९।४।५ ।
२. आयारो : ९।४।५ ।
३ आयारो : ९।४।६ ।
४. आयारो : ९।४।१ ।
५. आयारो : ९।३।१२ ।
६. आयारो : ९।३।१३ ।

२७. अच्छिं पि णो पमज्जिया, णोवि य कंडूयये मुणी गायं ।[1]
—भगवान् अक्षि का प्रमार्जन नहीं करते थे, शरीर को खुजलाते भी नहीं थे।

२८. पसारित्तु बाहुं परक्कमे, णो अवलंबिया ण कंधंसि ।[2]
—भगवान् शिशिर ऋतु में भी भुजाओं को फैलाकर रहते थे। वे भुजाओं से वक्ष को ढांक कर नहीं रहते।

२९. जंसिप्पेगे पवेयंति, सिसिरे मारुए पवायंते ।
तंसिप्पेगे अणगारा, हिमवाए णिवायमेसंति ॥
संघाडिओ पविसिस्सामो, एहा य समादहमाणा ।
पिहिया वा सक्खामो, अतिदुक्खं हिमगसंफासा ॥
तंसि भगवं अपडिण्णे, अहे वियडे अहियासए दविए ।
णिक्खम्म एगदा राओ, चाएइ भगवं समियाए ॥[3]
—शिशिर की ठंडी हवा में जब लोग कांपते थे, कुछ मुनि भी बर्फीली हवाओं के चलने पर गर्म स्थानों को खोजते थे, संघाटियों में सिमटकर रहते थे, अग्नि तपते थे और किवाड़ बन्द कर बैठते थे, उस समय भगवान् खुले स्थान में रहकर ध्यान करते थे—न कोई आवरण और न कोई प्रावरण।

८. सहिष्णुता

३०. कुक्कुरा तत्थ हिंसिंसु णिवतिंसु ॥
अप्पे जणे णिवारेइ, लूसणए सुणए दसमाणे ।
छुछुकारंति आहंसु, समणं कुक्कुरा डसंतुत्ति ॥
एलिक्खए जणे भुज्जो, बहवे वज्जभूमि फरुसासी ।
लट्ठिं गहाय णालीयं, समणा तत्थ एव विहरिंसु ॥
एवं पि तत्थ विहरंता, पुट्ठपुव्वा अहेसि सुणएहिं ।
संलुंचमाणा सुणएहिं, दुच्चरगाणि तत्थ लाढेहिं ॥[4]
—लाट देश में भगवान् को कुत्ते काटने आते। कुछ लोग कुत्तों को हटाते। कुछ लोग उन्हें काटने के लिए प्रेरित करते। उस प्रदेश में घूमने वाले श्रमण

लाठी रखते, फिर भी उन्हें कुत्ते काट खाते। भगवान् के पास न लाठी थी, न कोई बचाव। वे अपने आत्मबल के सहारे वहां परिव्रजन कर रहे थे।

३१. अह गामकंटए भगवं, ते अहियासए अभिसमेच्चा।[१]

—भगवान् को लोग गालियां देते। भगवान् उन्हें कर्मक्षय का हेतु मानकर सह लेते।

३२. हयपुव्वो तत्थ दंडेण, अदुवा मुट्ठिणा अदु कुंताइ-फलेणं।
अदु लेलुणा कवालेणं, हंता हंता बहवे कंदिसु॥[२]

—लाढ देश में कुछ लोग भगवान् को दंड, मुष्टि, भाले, फलक, ढेले और कपाल से आहत करते थे।

३३. मंसाणि छिन्नपुव्वाइं।[३]

—कुछ लोग भगवान् के शरीर का मांस काट डालते।

३४. उट्ठुभंति एगया कायं।[४]

—कुछ लोग भगवान् पर थूक देते।

३५. अहवा पंसुणा अवकिरिंसु।[५]

—कुछ लोग भगवान् पर धूल डाल देते।

३६. उच्चालइय णिहणिंसु।[६]

—कुछ लोग मखौल करते और भगवान् को उठाकर नीचे गिरा देते।

३७. अदुवा आसणाओ खलइंसु।[७]

—भगवान् आसन लगाकर ध्यान करते। कुछ लोगों को बड़ा विचित्र लगता। वे आकर भगवान् का आसन भंग कर देते। भगवान् इन सबको वैसे सहन करते मानो शरीर से उनका कोई सम्बन्ध न हो।

---

१. आयारो : ६।३।७।
२. आयारो : ६।३।१०।
३. आयारो : ६।३।११।
४. आयारो : ६।३।११।
५. आयारो : ६।३।११।
६. आयारो : ६।३।१२।
७. आयारो : ६।३।१२।

९. समत्व या प्रेम

३८. पुढविं च आउकायं, तेउकायं च वाउकायं च।
पणगाइं बीयहरियाइं, तसकायं च सव्वसो णच्चा ॥
एयाइं संति पडिलेहे, चित्तमंताइं से अभिण्णाय।
परिवज्जिया ण विहरित्था, इति संखाए से महावीरे ॥[१]
—भगवान् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, पनक, बीज, हरियाली और त्रस—इन सबको चेतन-युक्त जानकर इन्हें किसी प्रकार क्लान्त नहीं करते थे।

३९. अविसाहिए दुवे वासे, सीतोदं अभोच्चा णिक्खंते।[२]
—भगवान् गृहस्थ जीवन के अंतिम दो वर्षों में सजीव जल नहीं पीते थे। उनके अन्तःकरण में करुणा या प्रेम का स्रोत प्रवाहित होने लग गया था।

१०. अध्यात्म

४०. गच्छइ णायपुत्ते असरणाए।[३]
—भगवान् कष्टों से बचने के लिए किसी की शरण में नहीं जाते थे। समय-समय पर उन्हें मनुष्य, तिर्यंच आदि कष्ट देते। कुछ व्यक्ति उन्हें कष्ट से बचाने के लिए अपनी सेवाएं समर्पित करने का अनुरोध करते। पर भगवान् ऐसे हर अनुरोध को ठुकरा देते। उनका मत था कि किसी की शरण में रहकर अपने आपको नहीं पाया जा सकता। अध्यात्म दूसरों की शरण में जाने की स्वीकृति नहीं देता। अध्यात्म का पहला लक्षण है अपने आप में शरण की खोज।

४१. एगत्तगए पिहियच्चे।[४]
—भगवान् अकेले थे। उनका शरीर ढंका हुआ था। भगवान् गृहस्थ जीवन में भी अकेले रहने का अभ्यास कर चुके थे। अध्यात्म सबके बीच रहने पर भी अपने आपको अकेला अनुभव करने की दृष्टि, मति और धृति देता है। अध्यात्म का दूसरा लक्षण है—अकेलापन। अध्यात्म का

---

१. आयारो : ९।१।१२,१३।
२. आयारो : ९।१।११।
३. आयारो : ९।१।१०।
४. आयारो : ९।१।११।

तीसरा लक्षण है—संवरण—ढांकना। भौतिक दृष्टि वाला व्यक्ति अपनी शारीरिक प्रचेष्टाओं, इन्द्रियों और मन को ढंककर नहीं रख सकता।

४२. से अहिण्णायदंसणे संते।[1]

—भगवान् का दर्शन समीचीन था। शान्ति उनके कण-कण में विराजमान थी।

अध्यात्म का चौथा लक्षण है—सम्यग दर्शन। भगवान् विश्व के सभी पदार्थों, विचारों और घटनाओं को अनेकान्तदृष्टि से देखते थे। इसलिए सत्य उन्हें सहजभाव से उपलब्ध हो जाता। जिसे सत्य उपलब्ध होता है, उसे अशान्ति नहीं होती। अध्यात्म का पांचवां लक्षण है—शान्ति।

४३. राइं दिवं पि जयमाणे, अप्पमत्ते समाहिए झाति।[2]

—भगवान रात और दिन—हर क्षण जागरूक रहते थे। अप्रमाद (सतत जागरण) अध्यात्म का छठा लक्षण है। अध्यात्म का सातवां लक्षण है—समाधि।

११. धर्म की मौलिक आज्ञाएं

४४. से णिच्च णिच्चेहि समिक्ख पण्णे, दीवे व धम्मं समियं उदाहु।[3]

—भगवान् ने कैवल्य प्राप्त कर विश्व को नित्य और अनित्य—दोनों दृष्टियों से देखा और धर्म का प्रतिपादन किया। उस धर्म की मूल आज्ञाएं इस प्रकार हैं—

४५. सव्वे पाणा ण हंतव्वा।[4]

—किसी प्राणी को आहत मत करो।

४६. सव्वे पाणा ण अज्जावेयव्वा।[5]

—किसी प्राणी पर शासन मत करो। उसे पराधीन मत करो।

---

१. आयारो : ६।१।११।
२. आयारो : ६।२।४।
३. सूयगडो : १।६।४
४. आयारो : ४।१।
५. आयारो : ४।१।

४७. सव्वे पाणा ण परिघेतव्वा ।[१]
—किसी प्राणी का परिग्रह मत करो—उन्हें दास-दासी मत बनाओ।

४८. सव्वे पाणा ण परितावेयव्वा ।[२]
—किसी प्राणी को परितप्त मत करो ।

४९. सव्वे पाणा ण उद्दवेयव्वा ।[३]
—किसी प्राणी के प्राणों का वियोजन मत करो ।

५०. कोहो ण सेवियव्वो ।[४]
—क्रोध का सेवन मत करो ।

५१. लोभो ण सेवियव्वो ।[५]
—लोभ का सेवन मत करो ।

५२. न भाइयव्वं ।[६]
—भय मत करो—व्याधि, जरा और मौत से भी मत डरो ।

५३. हासं न सेवियव्वं ।[७]
—हास्य मत करो ।

५४. न···पावगं किंचि वि झायव्वं ।[८]
—बुरा चिंतन मत करो ।

५५. ण मुसं बूया ।[९]
असत्य मत बोलो ।

---

१. आयारो : ४।१ ।
२. आयारो : ४।१ ।
३. आयारो : ४।१ ।
४. पण्हावागरणाइं ७।१८ ।
५. पण्हावागरणाइं ७।१९ ।
६. पण्हावागरणाइं, ७।२० ।
७. पण्हावागरणाइं, ७।२१ ।
८. पण्हावागरणाइं, ६।१८ ।
९. सूयगडो १।८।२० ।

५६. वंभचेरं चरियव्वं ।[1]
—ब्रह्मचर्य का आचरण करो ।

५७. णिव्वाणं संधए ।[2]
—निर्वाण का संधान करो ।

५८. अदिण्णं पि य णातिए ।[3]
—अदत्त मत लो—चोरी मत करो ।

५९. अप्पणो गिद्धिमुद्धरे ।[4]
—आसक्ति को छोड़ो—संग्रह मत करो ।

६०. साहरे हत्थपाए य, मणं सव्विंदियाणि य ।[5]
—हाथ, पैर, मन और इन्द्रियों का अपने आप में समाहार करो ।

१२. भगवान् का निर्वाण

६१. अणुत्तरग्गं परमं महेसी, असेसकम्मं स विसोहइत्ता ।
सिद्धिं गतिं साहमणंत पत्ते, णाणेण सीलेण य दंसणेण ।[6]
—भगवान् ज्ञान, दर्शन और शील के द्वारा अशेप कर्मो का विशोधन कर सिद्धि को प्राप्त हो गए । इस लोक में उससे परम कुछ नहीं है ।

---

१. पण्हावागरणाइं ६।३ ।
२. सूयगडो : १।११।३६
३. सूयगडो : १।८।२०
४. सूयगडो : १।८।१३
५. सूयगडो : १।८।१७
६. सूयगडो : १।६।१७

वंदना

१. हत्थीसु एरावणमाहु णाते, सीहो मिगाणं सलिलाण गंगा।
पक्खीसु या गरुलं वेणुदेवे, णिव्वाणवादीणिह णायपुत्ते।[१]

जैसे—हाथियों में ऐरावत,
पशुओं मे सिह,
नदियों में गंगा,
पक्षियों में वेणुदेव गरुड़ श्रेष्ठ हैं,
वैसे ही निर्वाणवादियों में महावीर श्रेष्ठ हैं।

२. जोहेसु णाए जह वीससेणे, पुप्फेसु वा जह अरविंदमाहु।
खत्तीण सेट्ठे जह दंतवक्के, इसीण सेट्ठे तह वद्धमाणे॥[२]

जैसे—योद्धाओं में वासुदेव,
पुष्पों में अरविन्द,
क्षत्रियों में दंतवाक्य श्रेष्ठ है,
वैसे ही ऋषियों में महावीर श्रेष्ठ हैं।

३. थणितं व सद्दाण अणुत्तरं उ, चंदे व ताराण महाणुभावे।
गंधेसु वा चंदणमाहु सेट्ठं, एवं मुणीणं अपडिण्णमाहु॥[३]

---

१. सूयगडो : १।६।२१ वंदनाकार सुधर्मा (भगवान् के सहचारी)
२. सूयगडो : १।६।२२।
३. सूयगडो : १।६।१९।

जैसे—शब्दों में मेघ का गर्जन,
ताराओं में चन्द्रमा,
गंध वस्तुओं में चन्दन श्रेष्ठ है,
वैसे ही मुनियों में महावीर श्रेष्ठ हैं।

४. जहा सयंभू उदहीण सेट्ठे, णागेसु वा धरणिंदमाहु सेट्ठं।
खोओदए वा रस वेजयंते, तहोवहाणे मुणि वेजयंते ॥
जैसे—समुद्रों में स्वयम्भू,
नागदेवों में धरणेन्द्र,
रसों में इक्षु रस श्रेष्ठ है,
वैसे ही तपस्वियों में महावीर श्रेष्ठ हैं।

५. वणेसु या णंदणमाहु सेट्ठं, णाणेण सीलेण य भूतिपण्णे।[२]
जैसे—वनों में नन्दनवन श्रेष्ठ है,
वैसे ही ज्ञान और शील से महावीर श्रेष्ठ हैं।

६. दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं, सच्चेसु या अणवज्जं वयंति।
तवेसु वा उत्तम बंभचेरं, लोगुत्तमे समणे णायपुत्ते ॥[३]
जैसे—दानों में अभयदान,
सत्य में निरवद्य वचन,
तप में ब्रह्मचर्य श्रेष्ठ है,
वैसे ही श्रमणों में महावीर श्रेष्ठ हैं।

७. निव्वाणसेट्ठा जह सव्वधम्मा, ण णायपुत्ता परमत्थि णाणी।[४]
जैसे—धर्मों में निर्वाणवादी धर्म श्रेष्ठ है,
वैसे ही ज्ञानियों में महावीर श्रेष्ठ हैं। उनसे अधिक कोई ज्ञानी नहीं है।

---
१. सूयगडो : १।६।२०।
२. सूयगडो : १।६।१८।
३. सूयगडो : १।६।२३।
४. सूयगडो : १।६।२४।

८. कोहं च माणं च तहेव मायं, लोभं चउत्थं अज्झत्तदोसा।
एत्ताणि चत्ता अरहा महेसी, ण कुव्वई पाव ण कारवेइ ॥[१]
—भगवान् क्रोध, मान, माया और लोभ—इन चारों अध्यात्म दोषों को नष्ट कर अर्हत हो चुके थे। वे पाप न करते थे और न करवाते थे।

निक देवपुत्र भगवान् महावीर का उपासक था। उसने भगवान बुद्ध के सामने भगवान् महावीर की स्तुति में यह गाथा कही—

९. जेगुच्छी निपको भिक्खु, चातुयाम सुसंवुतो।
दिट्ठं सुतं च आचिक्खं, न हि नून किब्बिसी सिया ॥[२]
पापों से घृणा करने वाले, चतुर् भिक्षु,
चारों यामों में सुसंवृत रहने वाले,
देखे-सुने को कहते हुए,
उनमें भला क्या पाप हो सकता है ?

१०. जयइ जगजीवजोणी-वियाणओ जगगुरु जगाणंदो।
जगणाहो जगबंधू, जयइ जगपियामहो भगवं ॥[३]
—जगत् की जीव योनियों को जानने वाले, जगद्गुरु, जगत् को आनन्द देने वाले, जगन्नाथ, जगद्बन्धु और जगत् पितामह भगवान् महावीर की जय हो।

११. जयइ सुयाणं पभवो, तित्थयराणं अपच्छिमो जयइ।
जयइ गुरू लोगाणं, जयइ महप्पा महावीरो ॥[४]
—श्रुत के मूलस्रोत, चरम तीर्थंकर, लोकगुरु महात्मा महावीर की जय हो।

१२. सो जयइ जस्स केवलणाणुज्जलदप्पणम्मि लोयालोयं।
पुढ पदिविंवं दीसइ, वियसियसयवत्तगब्भगउरो वीरो ॥[५]
—जिसके केवलज्ञान रूपी उज्ज्वल दर्पण में लोक और अलोक प्रतिविम्व की भांति दीख रहे हैं, जो विकसित कमल-गर्भ के समान उज्ज्वल और तप्त स्वर्ण के समान पीत वर्ण है, उस भगवान् महावीर की जय हो।

---

१. सूयगडो : १।६।२६।
२ संयुक्तनिकाय, भाग १, पृ० ६५।
३. नंदी, गाथा १। वंदनाकार—देववाचक।
४. नंदी, गाथा २। वंदनाकार—देववाचक।
५. जयधवला, ३ : मंगलाचरण। वंदनाकार—आचार्य वीरसेन।

१३. तिस्रः सत्तमगुप्तयस्तनुमनोभाषानिमित्तोदयाः,
पंचेर्यादिसमाश्रयाः समितयः पञ्च व्रतानीत्यपि ।।
चारित्रोपहितं त्रयोदशतयं पूर्वं न दृष्टं परैः,
आचारं परमेष्ठिनो जिनपतेर्वीरान् नमामो वयम् ।।[1]
—तीन गुप्तियां—मन की गुप्ति, वचन की गुप्ति और काया की गुप्ति, पांच समितियां—गमन की समिति, भाषा की समिति, आहार की समिति, उपकरण की समिति और उत्सर्ग की समिति,
पांच महाव्रत—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इस तेरह प्रकार के चारित्र-धर्म का, जो पूर्ववर्ती तीर्थंकरों द्वारा प्रतिपादित नहीं था, प्रतिपादन किया, उस महावीर को हम नमस्कार करते हैं।

१४. देहज्योतिषि यस्य मज्जति जगद् दुग्धाम्बुराशाविव,
ज्ञानज्योतिषि च स्फुटत्यतितरां ओंभूर्भुवः स्वस्त्रयी ।
शब्दज्योतिपि यस्य दर्पण इव स्वार्थाश्चकासत्यमी,
स श्रीमानमरार्चितो जिनपतिर्ज्योतिस्त्रयायास्तु नः ।।[2]
—क्षीर समुद्र में मज्जन की भांति जिसकी देहज्योति में जगत् मज्जन करता है, जिसकी ज्ञानज्योति में त्रिलोकी स्फूर्त होती है, दर्पण में प्रतिबिम्ब की भांति जिसकी शब्दज्योति में पदार्थ प्रतिभाषित होते हैं वह देवार्चित महावीर हमें तीनों ज्योतियों की उपलब्धि का मार्गदर्शन दे।

१५. पन्नगे च सुरेन्द्रे च, कौशिके पादसंस्पृशि ।
निर्विशेषमनस्काय, श्रीवीरस्वामिने नमः ।।[3]
—इन्द्र चरणों में नमस्कार कर रहा था और चंडकौशिक नाग पैर को डस रहा था। उन दोनों के प्रति जिसका मन समान था उस महावीर को मैं नमस्कार करता हूं।

---

१ चारित्र भक्ति, श्लोक ७। वंदनाकार—आचार्य पूज्यपाद।
२. तत्वानुशासन प्रशस्ति श्लोक २५६। वंदनाकार—आचार्य रामसेन।
३ योगशास्त्र १/२। वंदनाकार—आचार्य हेमचन्द्र।

१६. निशि दीपोम्बुधौ द्वीपं, मरौ शाखी हिमे शिखी।
कलौ दुरापः प्राप्तोऽयं, त्वत्पादाब्जरजःकणः ॥[१]
—रात्रि में भटकते व्यक्ति को दीप, समुद्र में डूबते व्यक्ति को द्वीप, जेठ की दुपहरी में मरु में धूप से संतप्त व्यक्ति को वृक्ष और हिम में ठिठुरते व्यक्ति को अग्नि की भांति तुम्हारे चरण-कमल का रजकण इस कलिकाल में प्राप्त हुआ है।

१७. युगान्तरेषु भ्रान्तोस्मि, त्वद्दर्शनविनाकृतः।
नमोस्तु कलये यत्र, त्वद्दर्शनमजायत ॥[२]
—प्रभो ! तुम्हारा दर्शन प्राप्त नहीं हुआ तब मैं युगों तक भटकता रहा। इस कलिकाल को मेरा नमस्कार है। इसी में मुझे तुम्हारा दर्शन प्राप्त हुआ है।

१८. इयं विरुद्धं भगवन् !, तव नान्यस्य कस्यचित्।
निर्ग्रन्थता परा या च, या चोच्चैश्चक्रवर्तिता ॥[३]
—भगवान् तुम्हारे जीवन में दो विरुद्ध बातें मिलती हैं– उत्कृष्ट निर्ग्रन्थता और उत्कृष्ट चक्रवर्तित्व।

१९. शमोद्भुतोद्भुतं रूपं, सर्वात्मसु कृपाद्भुता।
सर्वाद्भुतनिधीशाय, तुभ्यं भगवते नमः ॥[४]
—प्रभो ! तुम्हारी शान्ति अद्भुत है, अद्भुत है तुम्हारा रूप। सब जीवों के प्रति तुम्हारी कृपा अद्भुत है। तुम सब अद्भुतों की निधि के ईश हो। तुम्हें नमस्कार हो।

२०. अनाहूतसहायस्त्वं, त्वमकारणवत्सलः।
अनभ्यर्थितसाधुस्त्वं, त्वमसम्बन्धबान्धवः ॥[५]
—भगवन् ! तुम अनामंत्रित सहायक हो, अकारण वत्सल हो, अभ्यर्थना न करने पर भी हितकर हो, सम्बन्ध न होने पर भी बन्धु हो।

---

१. वीतरागस्तव ६/६।
२. वीतरागस्तव, ६।७।
३. वीतरागस्तव, १०।६।
४. वीतरागस्तव, १०।८।
५. वीतरागस्तव १३।१।

२१. तथा परे न रज्यन्ते, उपकारपरेऽपरे।
यथापकारिणि भवान्, अहो। सर्वमलौकिकम् ॥[1]
—भगवन् ! दूसरे लोग उपकार करने वालों पर भी वैसी करुणा प्रदर्शित नहीं करते जैसी तुमने अपकार करने वालों पर प्रदर्शित की। यह सब अलौकिक है।

२२. एकोहं नास्ति मे कश्चिन्, न चाहमपि कस्यचित्।
त्वदंह्रिशरणस्थस्य, मम दैन्यं न किंचन ॥[2]
—मैं अकेला हूं। मेरा कोई नहीं है। मैं भी किसी का नहीं हूं। फिर भी तुम्हारे चरण की शरण में स्थित हूं, इसलिए मेरे मन में किंचित् भी दीनता नहीं है।

२३. तव चेतसि वर्तेहं, इति वार्तापि दुर्लभा।
मच्चित्ते वर्तसे चेत्त्वमलमन्येन केनचित् ॥[3]
—मैं तुम्हारे चित्त में रहूं, यह बात दुर्लभ है। तुम मेरे चित्त में रहो, यह हो जाए तो फिर मुझे और कुछ नहीं चाहिए।

२४. वीतराग ! सपर्यातः, तवाज्ञापालनं परम्।
आज्ञाराद्धा विराद्धा च, शिवाय च भवाय च ॥
आकालमियमाज्ञा ते, हेयोपादेयगोचरा।
आस्रवः सर्वथा हेय, उपादेयश्च संवरः ॥[4]
—वीतराग ! तुम्हारी पूजा करने की अपेक्षा तुम्हारी आज्ञा का पालन करना अधिक महत्त्वपूर्ण है। आज्ञा की आराधना मुक्ति के लिए और उसकी विराधना बंधन के लिए होती है। तुम्हारी शाश्वत आज्ञा है कि हेय और उपादेय का विवेक करो। आश्रव (बन्धन का हेतु) सर्वथा हेय है और संवर (बन्धन का निरोध) सर्वथा उपादेय है।

---

१. वीतरागस्तव १४।५।
२. वीतरागस्तव १७।७।
३. वीतरागस्तव १६।१।
४. वीतरागस्तव १६।४।

२५. सर्वान्तवत्तद्गुणमुख्यकल्पं, सर्वान्तशून्यं च मिथोनपेक्षम्।
सर्वापदामन्तकरं निरन्तं, सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ॥[1]
—जिसमें मुख्य की अर्पणा और गौण की अनर्पणा के कारण सबका निश्चय होता है और जहां परस्पर निरपेक्ष वस्तु निश्चयशून्य होती है, वह सब आपदाओं का अन्त करने वाला तुमारा तीर्थ ही सर्वोदय है—सबका उदय करने वाला है।

२६. बन्धुर्न नः स भगवानरयोपि नान्ये,
साक्षान्न दृष्टतर एकतमोऽपि चैषाम्।
श्रुत्वा वचः सुचरितं च पृथग् विशेषं,
वीरं गुणातिशयलोलतया श्रिताः स्मः ॥[2]
—महावीर हमारे भाई नहीं हैं और कणाद आदि हमारे शत्रु नहीं हैं। हमने किसी को भी साक्षात् नहीं देखा है किन्तु महावीर के आचारपूर्ण वचन सुनकर हम उनके अतिशय गुणों में मुग्ध हो गए और उनकी शरण में आ गए।

२७. नास्माकं सुगतः पिता न रिपवस्तीर्थ्या धनं नैव तै-
र्दत्तं नैव तथा जिनेन संहृतं किंचित् कणादादिभिः।
किन्त्वेकान्तजगद्धितः स भगवान् वीरो यतश्चामलं,
वाक्यं सर्वमलोपहर्तृ च यतस्तद्भक्तिमन्तो वयम् ॥[3]
—तीर्थंकर हमारा पिता नहीं है और कणाद आदि हमारे शत्रु नहीं हैं। तीर्थंकर ने हमें कोई धन नहीं दिया है और कणाद आदि ने हमारे धन का अपहरण नहीं किया है। किन्तु महावीर एकान्ततः जगत् के लिए हितकर हैं। उनके अमल वाक्य सब मलों को क्षीण करने वाले हैं, इसलिए हम महावीर के भक्त हैं।

२८. पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद् वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः ॥[4]
—महावीर के प्रति मेरा पक्षपात नहीं है और कपिल आदि के प्रति मेरा द्वेष नहीं है। जिसका वचन युक्तियुक्त है, उसे मैं स्वीकार करता हूं।

---

१. युक्त्यनुशासन ६१। वन्दनाकार—आचार्य समन्तभद्र।
२. लोकतत्त्वनिर्णय। ३२ वन्दनाकार—आचार्य हरिभद्र।
३. लोकतत्त्वनिर्णय ३३।
४. लोकतत्त्वनिर्णय ३८।

२९. क्वचिन्नियतिपक्षपातगुरु गम्यते ते वच.।
स्वभावनियताः प्रजाः समयतंत्रवृत्ताः क्वचित् ॥
स्वयंकृतभुजः क्वचित् परकृतोपभोगाः पुन-
र्न चाविशदवाददोषमलिनोऽस्यहो विस्मयः ॥[1]

—महावीर प्रभो ! तुम्हारा वचन कहीं नियति का पक्षपात कर रहा है, कहीं जनता को स्वभाव से अनुशासित बता रहा है, कहीं कालतंत्र के अधीन कर रहा है, कहीं लोगों को स्वयंकृत कर्म भुगतने वाले और कहीं परकृत कर्म भुगतने वाले बता रहा है। फिर भी आश्चर्य हैकि तुम विरुद्धवाद के दोष से मलिन नहीं हो।

३०. उदधाविव सर्वसिन्धवः, समुदीर्णास्त्वयि सर्वदृष्टयः।
न च तासु भवानुदीक्ष्यते, प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधिः ॥[2]

—जैसे समुद्र में सारी नदियां मिलती हैं, वैसी ही तुम्हारे दर्शन में सारी दृष्टियां मिली हुई हैं। भिन्न-भिन्न दृष्टियों में तुम नहीं दीखते जैसे नदियों में समुद्र नहीं दीखता।

३१. स्वत एव भवः प्रवर्तते, स्वत एव प्रविलीयते पि च।
स्वत एव च मुच्यते भवात्, इति पश्यंस्त्वमिवाभवो भवेत्।[3]

—यह आत्मा स्वयं भव का प्रवर्तन करता है, स्वयं उसमें विलीन होता है और स्वयं ही उससे मुक्त होता है, यह देखते हुए तुम अभव हो गए।

३२. यत्र तत्र समये यथा तथा, योसि सोस्यभिधया यया तया।
वीतदोपकलुषः स चेद् भवान्, एक एव भगवान् नमोस्तु ते ॥[4]

—जिस किसी समय में, जिस किसी रूप में, जो कोई जिस किसी नाम से प्रसिद्ध हो, यदि वह वीतराग है तो वह तुम एक ही हो। बाह्य के विभिन्न रूपों में अभिन्न मेरे भगवान् ! तुम्हें नमस्कार हो।

---

१. द्वात्रिंशिका ३।८। वंदनाकार—सिद्धसेन दिवाकर।
२. द्वात्रिंशिका ४।१५।
३. द्वात्रिंशिका ४।२६।
४. अयोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका २९। वंदनाकार—आचार्य हेमचन्द्र।

३३. न श्रद्धयैव त्वयि पक्षपातो, न द्वेषमात्रादरुचिः परेषु ।
यथावदाप्तत्व परीक्षया तु, त्वामेव वीरप्रभुमाश्रिताः स्मः ॥[1]
—श्रद्धा के कारण तुम्हारे प्रति मेरा पक्षपात नहीं है। द्वेष के कारण दूसरों के प्रति अरुचि नहीं है। मैंने आप्तत्व की परीक्षा की है। उसी के आधार पर मेरे प्रभो महावीर ! मैं तुम्हारी शरण में आया हूं।

३४. न विद्युद् यच्चिन्हं न च तत इतोऽभ्रे भ्रमति यो,
न सौवं सौभाग्यं प्रकटयितुमुच्चैः स्वनति च ।
पराद् यांचावृत्या मलिनयति नाङ्गं क्वचिदपि,
सतां शान्तिं पुष्यात् सदपि जिनतत्वाम्बुदवरः ॥[2]
—जिसमें बिजली की चमक नहीं है, जो आकाश में इधर-उधर नहीं घूमता, जो अपना सौभाग्य प्रकट करने के लिए जोर-जोर से गर्जारव नहीं करता, जो दूसरे के सामने याचना का हाथ फैलाकर अपने अंग को कभी भी मलिन नहीं करता, वह महावीर के तत्त्व का जलधर सत्यनिष्ठ लोगों की शान्ति को पुष्ट करे।

३५. यः स्याद्वादी वदनसमये योप्यनेकान्तदृष्टिः,
श्रद्धाकाले चरणविषये यश्च चारित्रनिष्ठः ।
ज्ञानी ध्यानी प्रवचनपटुः कर्मयोगी तपस्वी,
नानारूपो भवतु शरणं वर्धमानो जिनेन्द्रः ॥[3]
—जो बोलने के समय स्याद्वादी, श्रद्धाकाल में अनेकान्तदर्शी, आचरण की भूमिका में चरित्रनिष्ठ, प्रवृत्तिकाल में ज्ञानी, निवृत्तिकाल में ध्यानी, बाह्य के प्रति कर्मयोगी और अन्तर् के प्रति तपस्वी है, वह नानारूपधर भगवान् वर्द्धमान मेरे लिए शरण हो।

३६. अदृश्यो यदि दृश्यो न, भक्तेनापि मया प्रभो !
स्याद्वादस्ते कथं तर्हि, भावी मे हृदयङ्गमः ।[4]
—प्रभो ! मै तुम्हारा भक्त हूं। तुम अदृश्य हो। किन्तु मेरे लिए तुम यदि दृश्य नहीं बनते हो तो तुम्हारा स्याद्वाद मेरे हृदयंगम कैसे होगा ?

---

१. अयोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका ३१ ।
२. जैन सिद्धान्त दीपिका, प्रशस्ति श्लोक २ । वंदनाकर—आचार्य तुलसी ।
३. वीतरागाष्टक ४ । वंदनाकार—मुनि नथमल ।
४. वीतरागाष्टक ४ । वंदनाकार—मुनि नथमल ।

३७. त्वदास्यलासिनी नेत्रे, त्वदुपास्तिकरौ करौ।
त्वद्गुणश्रोत्रिणी श्रोत्रे, भूयास्तां सर्वदा मम ॥[1]
—मेरे नेत्र तुम्हारे मुख को सदा निहारते रहें। मेरे हाथ तुम्हारी उपासना में संलग्न और मेरे कान तुम्हारे गुणों को सुनने में सदा लीन रहें।

३८. कुण्ठापि यदि सोत्कण्ठा, त्वद्गुणग्रहणं प्रति।
ममैषा भारती तर्हि, स्वस्त्यै तस्यै किमन्यया ॥[2]
—मेरी वाणी कुंठित होने पर भी तुम्हारे गुणों को गाने के लिए उत्कंठित है तो उसका कल्याण है। मुझे दूसरी नहीं चाहिए।

३९. तव प्रेष्योस्मि दासोस्मि, सेवकोस्म्यस्मि किङ्करः।
ओमिति प्रतिपद्यस्व, नाथ ! नातः परं ब्रुवे ॥[3]
—मैं तुम्हारा प्रेष्य हूं, दास हूं, सेवक हूं, किंकर हूं। तुम इसे स्वीकार कर लो। उससे आगे मेरी कोई मांग नहीं है।

४०. वाक्गुप्तेस्त्वत्स्तुतौ हानिः, मनोगुप्तेस्तव स्मृतौ।
कायगुप्तेः प्रणामे ते, काममस्तु सदापि नः ॥[4]
—प्रभो ! तुम्हारी स्तुति करने में वचनगुप्ति की हानि होती है। तुम्हारी स्मृति करने में मनोगुप्ति की हानि होती है। तुम्हें प्रणाम करने में कायगुप्ति की हानि होती है। प्रभो ! ये भले हों, मैं तुम्हारी स्तुति, स्मृति और वंदना सदा करूंगा।

---

१. वीतरागस्तव २०।६।
२. वीतरागस्तव : २०।७।
३. वीतरागस्तव : २०।८।
४. महापुराण ७६।२। वंदनाकार—आचार्य जिनसेन।

परिशिष्ट

१. परम्परा-भेद
२. चातुर्मास
३. विहार और आवास-स्थल
४. जीवनी के प्रामाणिक स्रोतों का निर्देश
५. घटना-क्रम
६. नामानुक्रम

१

परम्परा-भेद

दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्पराओं में भगवान् महावीर के जीवनवृत्त विषयक आम्नाय-भेद इस प्रकार हैं—

	श्वेताम्बर	दिगम्बर
१.	भगवान् महावीर की माता त्रिशला चेटक की बहन थी।	भगवान् महावीर की माता त्रिशला चेटक की पुत्री थी।
२.	राजकुमार महावीर का विवाह वसंतपुर नगर के महासामंत समरवीर की पुत्री यशोदा के साथ हुआ।[1]	राजकुमार महावीर के सामने कलिंग नरेश जितशत्रु की पुत्री यशोदा के साथ विवाह करने का प्रस्ताव आया पर उन्होंने विवाह नहीं किया।
३.	दीक्षा के पूर्व भगवान् के माता-पिता दिवंगत हो चुके थे।	दीक्षा के समय भगवान् के माता-पिता विद्यमान थे।
४.	भगवान् महावीर का प्रथम धर्मोपदेश वैशाख शुक्ला ११, मध्यम पावापुरी में हुआ।	भगवान् महावीर का प्रथम धर्मोपदेश श्रावण कृष्णा १, विपुलाचल पर्वत पर हुआ।
५.	भगवान् महावीर वाणी द्वारा उपदेश देते थे।	भगवान् महावीर दिव्य ध्वनि द्वारा उपदेश देते थे।
६.	भगवान् महावीर केवली होने के पश्चात् भी आहार करते थे।	भगवान् महावीर केवली होने के पश्चात् आहार नहीं करते थे।
७.	भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् प्रथम आचार्य सुधर्मा हुए।	भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् प्रथम आचार्य गौतम हुए।

१. मैंने इस पुस्तक में 'यशोदा' जितशत्रु की पुत्री थी, इस मान्यता को स्वीकार किया है।

चातुर्मास

भगवान् महावीर ने कुल बयालीस चातुर्मास किए। उनमें प्रथम बारह छद्मस्थ अवस्था में और शेष तीस केवली अवस्था में किए थे।

१. अस्थिकग्राम
२. नालन्दा
३. चम्पा
४. पृष्ठचम्पा
५. भद्दियानगर
६. भद्दियानगर
७. आलंभिया
८. राजगृह
९. वज्रभूमि
१०. श्रावस्ती
११. वैशाली
१२. चम्पा
१३. राजगृह
१४. वैशाली
१५. वाणिज्यग्राम
१६. राजगृह
१७. वाणिज्यग्राम
१८. राजगृह
१९. राजगृह
२०. वैशाली
२१. वाणिज्यग्राम
२२. राजगृह
२३. वाणिज्यग्राम
२४. राजगृह
२५. मिथिला
२६. मिथिला
२७. मिथिला
२८. वाणिज्यग्राम
२९. राजगृह
३०. वाणिज्यग्राम
३१. वैशाली
३२. वैशाली
३३. राजगृह
३४. नालन्दा
३५. वैशाली
३६. मिथिला
३७. राजगृह
३८. नालन्दा
३९. मिथिला
४०. मिथिला
४१. राजगृह
४२. पावा

१. राजगृह में ११ वर्षावास
२. वैशाली में ६ वर्षावास
३. मिथिला में ६ वर्षावास
४. वाणिज्यग्राम में ६ वर्षावास
५. नालन्दा में ३ वर्षावास
६. चम्पा में २ वर्षावास
७. भद्दियानगर में २ वर्षावास

शेष छह स्थानों में एक-एक वर्षावास ।

विहार और आवास-स्थल

पहला वर्ष

कुंडग्राम
ज्ञातखंडवन
कर्मारग्राम
कोल्लाग सन्निवेश
मोराक सन्निवेश
दूईज्जंतग आश्रम
अस्थिकग्राम

दूसरा वर्ष

मोराक सन्निवेश
दक्षिण वाचाला
कनकखल आश्रमपद
उत्तर वाचाला
श्वेताम्बी
सुरभिपुर
थूणाक सन्निवेश
राजगृह
नालन्दा

तीसरा वर्ष

कोल्लाग सन्निवेश
सुवर्णखल
ब्राह्मणग्राम
चम्पा

चौथा वर्ष

कालाय सन्निवेश
पत्तकालाय
कुमाराक सन्निवेश
चौराक सन्निवेश
पृष्ठचम्पा

पाचवां वर्ष

कयंगला सन्निवेश
श्रावस्ती
हलेद्दुक ग्राम
नंगला ग्राम (वासुदेव मंदिर में)
आवर्त्त (वलदेव मंदिर में)

चौराक सन्निवेश
कलंबुकासन्निवेश
लाढ देश
पूर्णकलश ग्राम
भद्दिया नगरी

छठा वर्ष

कदली समागम
जम्बूसंड
तम्बाय सन्निवेश
कूपिय सन्निवेश
वैशाली (कम्मारशाला में)
ग्रामाक सन्निवेश
(विभेलक यक्ष-मंदिर में)
शालीशीर्ष
भद्दिया नगरी

सातवां वर्ष

मगध के विभिन्न भाग
आलंभिया

आठवां वर्ष

कुंडाक सन्निवेश (वासुदेव के मंदिर में)
मद्दन्न सन्निवेश (बलदेव के मंदिर में)
बहुसालगग्राम (शालवन के उद्यान में)
लोहार्गला
पुरिमताल (शकटमुख उद्यान में)
उन्नाग
गोभूमि
राजगृह

नवां वर्ष

लाढ (राढ-देश)
वज्रभूमि
सुम्हभूमि

दसवां वर्ष

सिद्धार्थपुर
कूर्मग्राम
सिद्धार्थपुर
वैशाली
वाणिज्यग्राम
श्रावस्ती

ग्यारहवां वर्ष

सानुलट्ठिय सन्निवेश
दृढ़भूमी
पेढाल ग्राम (पोलाश चैत्य में)
वालुका
सुयोग
सुच्छेता
मलय
हस्तिशीर्ष
तोसलिगांव
मोसलि
सिद्धार्थपुर
वज्रगाम
आलंभिया
सेयविया
श्रावस्ती
कौशाम्बी
वाराणसी
राजगृह
मिथिला
वैशाली (समरोद्यान के बलदेव मंदिर में)

बारहवां वर्ष

सुंसुमारपुर
भोगपुर
नन्दग्राम

मेंढियग्राम
कौशाम्बी
सुमंगल
सुच्छेता
पालक
चम्पा (यज्ञशाला में)

तेरहवां वर्ष

जंभियग्राम
मेंढियग्राम
छम्माणि
मध्यमपावा
जंभियग्राम
राजगृह

चौदहवां वर्ष

ब्राह्मणकुण्ड ग्राम (बहुशाल के चैत्य में)
विदेह जनपद
वैशाली

पन्द्रहवां वर्ष

वत्सभूमि
कौशाम्बी
कौशल जनपद
श्रावस्ती
विदेह जनपद
वाणिज्यग्राम

सोलहवां वर्ष

मगध जनपद
राजगृह

सत्रहवां वर्ष

चम्पा
विदेह जनपद
वाणिज्यग्राम

अठारहवां वर्ष

बनारस
आलभिका
राजगृह

उन्नीसवां वर्ष

मगध जनपद
राजगृह

बीसवां वर्ष

वत्स जनपद
आलंभिया
कौशाम्बी
वैशाली

इक्कीसवां वर्ष

मिथिला
काकन्दी
श्रावस्ती
अहिच्छत्रा
राजपुर
कांपिल्य
पोलासपुर
वाणिज्यग्राम

बाईसवां वर्ष

मगध जनपद
राजगृह

तेईसवां वर्ष

कयंगला

श्रावस्ती
वाणिज्यग्राम

चौवीसवां वर्ष

ब्राह्मणकुंडग्राम (बहुशाल चैत्य)
वत्स जनपद
मगध जनपद
राजगृह

पचीसवां वर्ष

चम्पा
मिथिला
काकन्दी
मिथिला

छब्बीसवां वर्ष

अंग जनपद
चम्पा
मिथिला

सत्ताईसवां वर्ष

वैशाली
श्रावस्ती
मेंढियग्राम (सालकोष्ठक चैत्य)

अठाईसवां वर्ष

कौशल-पांचाल
श्रावस्ती
अहिच्छत्रा
हस्तिनापुर
मोकानगरी
वाणिज्यग्राम

उनतीसवां वर्ष

राजगृह

तीसवां वर्ष

चम्पा
पृष्ठचम्पा
विदेह
वाणिज्यग्राम

इकतीसवां वर्ष

कौशल-पांचाल
साकेत
श्रावस्ती
कांपिल्य
वैशाली

बत्तीसवां वर्ष

विदेह जनपद
कौशल जनपद
काशी जनपद
वाणिज्यग्राम
वैशाली

तेतीसवां वर्ष

मगध
राजगृह
चम्पा
पृष्ठचम्पा
राजगृह

चौंतीसवां वर्ष

राजगृह (गुणशील चैत्य में)
नालन्दा

पैंतीसवां वर्ष

विदेह जनपद
वाणिज्यग्राम
कोल्लाग सन्निवेश
वैशाली

छत्तीसवां वर्ष

कोशल जनपद
पांचाल जनपद
सूरसेन जनपद
साकेत
कांपिल्यपुर
सौर्यपुर
मथुरा
नन्दीपुर
विदेह जनपद
मिथिला

सैंतीसवां वर्ष

मगध जनपद
राजगृह

अड़तीसवां वर्ष

मगध जनपद
राजगृह
नालन्दा

उनतालीसवां वर्ष

विदेह जनपद
मिथिला

चालीसवां वर्ष

विदेह जनपद
मिथिला

इकतालीसवां वर्ष

मगध जनपद
राजगृह

बयालीसवां वर्ष

राजगृह
पावा

४

जीवनी के प्रामाणिक स्रोतों का निर्देश

१ १. उत्तरज्झयणाणि, २३।७५-७८ :

अन्धयारे तमे घोरे चिट्ठन्ति पाणिणो बहू।
को करिस्सइ उज्जोयं सव्वलोगंमि पाणिणं ?॥
उग्गओ विमलो भाणू सव्वलोगप्पभंकरो।
सो करिस्सइ उज्जोयं सव्वलोगंमि पाणिणं॥
भाणू य इइ के वुत्ते ? केसी गोयममब्बवी।
केसिमेवं बुवंतं तु गोयमो इणमब्बवी॥
उग्गओ खीणसंसारो सव्वन्नू जिणभक्खरो।
सो करिस्सइ उज्जोयं सव्वलोगंमि पाणिणं॥

२ १. कल्पसूत्र, सूत्र ३३-४७ :

…तं रयणि च णं सा तिसला खत्तियाणि…एयारूवे ओराले चोद्दस महासुमिणे पासित्ता णं पडिबुद्धा।…पेच्छइ नाणुज्जलणग अंबरं व कत्थइ पयंतं अइवेगचंचलं

३ २. कल्पसूत्र, सूत्र ६४-७८ :

…खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! अट्ठंगम

पैंतीसवां वर्ष

विदेह जनपद
वाणिज्यग्राम
कोल्लाग सन्निवेश
वैशाली

छत्तीसवां वर्ष

कोशल जनपद
पांचाल जनपद
सूरसेन जनपद
साकेत
कांपिल्यपुर
सौर्यपुर
मथुरा
नन्दीपुर
विदेह जनपद
मिथिला

सैंतीसवां वर्ष

मगध जनपद
राजगृह

अड़तीसवां वर्ष

मगध जनपद
राजगृह
नालन्दा

उनतालीसवां वर्ष

विदेह जनपद
मिथिला

चालीसवां वर्ष

विदेह जनपद
मिथिला

इकतालीसवां वर्ष

मगध जनपद
राजगृह

बयालीसवां वर्ष

राजगृह
पावा

पारए विविहसत्थकुसले सुविणलक्खणपाढए सद्दावेह ।
···विपुलं जीवियारिहं पीइदाणं दलइत्ता पडिविसज्जेइ ।

४ १. (क) कल्पसूत्र, सूत्र ९६-१०० :

नगरगुत्तीए सद्दावेत्ता एवं वयासी।···उस्सुंकं, उक्करं, उक्किट्ठं अदेज्जं, अमेज्जं, अभडप्पवेसं, अडंडकोडंडिमं अधरिमं···एवं वा विहरइ।

(ख) कल्पसूत्र, टिप्पनक पृ० १२, १३ :

···'माणुम्माण' इह मानं—रस-धान्यविषयम् उन्मानं-तुलारूपम्। 'उस्सुंकं' उच्छुल्कम्, शुल्कं तु विक्रय-भाण्डं प्रति राजदेयंद्रव्यं मण्डपिकायामिति। 'उक्करं' ति उन्मुक्तकरम्, करस्तु गवादीन् प्रति प्रतिवर्ष राजदेयं द्रव्यम्। 'उक्किट्ठं' उत्कृष्टं—प्रधानम्, लभ्येऽप्याकर्षणनिषेधाद्वा। 'अदेज्जं' विक्रेयनिषेधेनाविद्यमानदातव्यं जनेभ्यः। 'अम्मेज्जं' विक्रेय-निषेधादेवाविद्यमानमातव्यं अमेयं देयमिति। 'अभड' अविद्यमानो भटानां—राजाज्ञादायिनां पुरुषाणां प्रवेशः कुटुम्बिगृहेषु यस्मिन्। 'अदंडकोदंडिमं' दण्डं—लभ्यद्रव्यम्, दण्ड एव कुदण्डेन निर्वृत्तं द्रव्यं कुदण्डिमम्, तन्नास्ति यस्मिन् तद् अदण्डकुदण्डिमम्। तत्र दण्डः—अपराधानुसारेण राजग्राह्यं द्रव्यम्, कूदण्डस्तु—कारणिकानां प्रज्ञापराधान्महत्यप्यपराधिनि अल्पं राजग्राह्यं द्रव्यमिति। 'अधरिमं' अविद्यमानधारणीय-द्रव्यम्, रिणमुत्कलनात्।

५ १. कल्पसूत्र, सूत्र ८५-८६ :

जं रयणिं च णं समणे भगवं महावीरे नायकुलंसि साहरिए तं रयणिं च णं नायकुलं हिरण्णेणं वड्ढित्ता···अईव अईव अभिवड्ढित्था। तए णं समणस्स भगवओ महावीरस्स···गोन्नं गुणनिप्फन्नं नामधिज्जं करिस्सामो वद्धमाणो त्ति।

२. आवश्यकचूर्णि, पूर्व भाग, पृ० २४६ :

भगवं च पमदवणे चेडरूवेहिं समं सुंकलिकडएण (सं०वृक्षक्रीडया) अभिरमति।···ताहे सामिणा अमूढेणं वामहत्थेणं सत्ततले उच्छूढो।

६ १. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २४६, २४७ :

अतिरेगअट्ठवासजाते भगवं...अम्मापिऊहिं लेहायरियस्स उवणीतो।...ताहे सक्को कन्तकतजनिपुणो पुच्छति (उद्घातपदपदार्थक्रमगुरुलाघवसमासविस्तरसंक्षेपविषयविभागपर्यायवचनाक्षेपपरिहारलक्षणया व्याख्यया व्याकरणार्थं) अक्खरादीण य पज्जाए भंगे गमे य पुच्छति, ताहे सामी वागरेति अणेगप्पगारं...तप्पभिति च णं एन्द्रं व्याकरणं संवुत्तं ते य विम्हिता,...तिणाणोवगतोत्ति।

७ २. आयारचूला, १५।२५ :

समणस्स णं भगवओ महावीरस्स अम्मापियरो पासावच्चिज्जा समणोवासगा यावि होत्था।

८ १. आयारचूला, १५।१६ :

समणे भगवं महावीरे कासवगोत्ते। तस्स णं इमे तिण्णि णामधेज्जा एवमाहिज्जंति, तं जहा—(१) अम्मापिउसंतिए "वद्धमाणे" (२) सहसम्मुइए "समणे" (३) "भीमं भयभेरवं उरालं अचेलयं परिसहं सहइ" त्ति कट्टु देवेहिं से णामं कयं "समणे भगवं महावीरे"।

२. आयारचूला, १५।१७ :

समणस्स णं भगवओ महावीरस्स पिया कासवगोत्तेणं। तस्स णं तिण्णि णामधेज्जा एवमाहिज्जंति, तं जहा—(१) सिद्धत्थे ति वा, (२) सेज्जंसे ति वा, (३) जसंसे ति वा।

३. आयारचूला, १५।१८ :

समणस्स णं भगवओ महावीरस्स अम्मा वासिट्ठ-सगोत्ता। तीसे णं तिण्णि णामधेज्जा एवमाहिज्जंति, तं जहा—(१) तिसला ति वा, (२) विदेहदिण्णा ति वा, (३) पियकारिणी ति वा।

४. आवस्सयचूर्णि, उत्तरभाग, पृ० १६४ :

[illegible]

५. आयारचूला, १५।१६-२१ :

समणस्स णं भगवओ महावीरस्स पित्तियए 'सुपासे' कासवगोत्तेणं।···जेट्ठे भाया 'णंदिवद्धणे' कासवगोत्तेणं।···जेट्ठाभइणी 'सुदंसणा' कासवगोत्तेणं।

१२ १. आयारचूला, १५।२५ :

समणस्स णं भगवओ महावीरस्स अम्मापियरो पासावच्चिज्जा समणोवासगा यावि होत्था। तेणं बहूइं वासाइं समणोवासग-परियागं पालइत्ता,···भत्तं पच्चक्खाइत्ता अपच्छिमाए मारणंतियाए सरीर-संलेहणाए सोसियसरीरा कालमासे कालं किच्चा तं सरीरं विप्पजहित्ता अच्चुए कप्पे देवत्ताए उववण्णा।

१३ १. आवश्यकचूर्णि पूर्वभाग पृ० २४६ :

भगवं अट्ठावीसतिवरिसो जातो, एत्थंतरे अम्मापियरा कालगता।

२. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग पृ० २४६ :

पच्छा सामिणंदिवद्धणसुपासपमुहं सयणं आपुच्छति।···ताहे सणियपज्जोयादयो कुमारा पडिगया, वा एस चक्किक्त्ति।

१७ १. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग पृ० २४६ :

पच्छा सामी णंदिवद्धणसुपासपमुहं सयणं आपुच्छति, समत्ता पतिन्नत्ति, ताहे ताणि बिगुणसोगाणि भणंति मा भट्टारगा! सव्वजगदपिता परमबंधू एक्कसराए चेव अणाहाणि होमुत्ति, इमेहिं कालगतेहिं तुब्भेहिं विणिक्खमवन्ति खते खारं पक्खेवं, ता अच्छह कंचि कालं जाव अम्हे विसोगाणि जाताणि।

१८ १. (क) आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग पृ० २४६ :

अम्हं परं विहिं संवत्सरेहिं रायदेविसोगो णासिज्जति।

(ख) आचारांगचूर्णि, पृ० ३०४ :

अम्हं परं विहिं संवच्छरेहिं रायदेविसोगा णासिज्जंति।

५. आयारचूला, १५।१९-२१ :

समणस्स णं भगवओ महावीरस्स पित्तियए 'सुपासे' कासवगोत्तेणं।...जेट्ठे भाया 'णंदिवद्धणे' कासवगोत्तेणं।...जेट्ठाभइणी 'सुदंसणा' कासवगोत्तेणं।

१२ १. आयारचूला, १५।२५ :

समणस्स णं भगवओ महावीरस्स अम्मापियरो पासावच्चिज्जा समणोवासगा यावि होत्था। तेणं बहूइं वासाइं समणोवासगपरियागं पालइत्ता,...भत्तं पच्चक्खाइत्ता अपच्छिमाए मारणंतियाए सरीर-संलेहणाए सोसियसरीरा कालमासे कालं किच्चा तं सरीरं विप्पजहित्ता अच्चुए कप्पे देवत्ताए उववण्णा।

१३ १. आवश्यकचूर्णि पूर्वभाग पृ० २४९ :

भगवं अट्ठावीसतिवरिसो जातो, एत्थंतरे अम्मापियरा कालगता।

२. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग पृ० २४९ :

पच्छा सामिणंदिवद्धणसुपासपमुहं सयणं आपुच्छति।...ताहे सणियपज्जोयादयो कुमारा पडिगया, वा एस चक्कित्ति।

१७ १. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग पृ० २४९ :

पच्छा सामी णंदिवद्धणसुपासपमुहं सयणं आपुच्छति, समत्ता पतिन्नत्ति, ताहे ताणि विगुणसोगाणि भणंति मा भट्टारगा! सव्वजगदपिता परमबंधू एक्कसराए चेव अणाहाणि होमुत्ति, इमेहिं कालगतेहिं तुब्भेहिं विणिक्खमवन्ति खते खारं पक्खेवं, ता अच्छह कंचि कालं जाव अम्हे विसोगाणि जाताणि।

१८ १. (क) आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग पृ० २४९ :

अम्हं परं बिहिं संवत्सरेहिं रायदेविसोगो णासिज्जति।

(ख) आचारांगचूर्णि, पृ० ३०४ :

अम्हं परं विहिं संवच्छरेहिं रायदेविसोगा णासिज्जंति।

१६ १. आयारो ९।१।११-१५ :

अविसाहिए दुवे वासे, सीतोदं अभोच्चा णिक्खंते।
एगत्तगए पिहियच्चे, से अहिण्णायदंसणे संते॥
पुढविं च आउकायं, तेउकायं च वाउकायं च।
पणगाइं बीय-हरियाइं, तसकायं च सव्वसो णच्चा॥
एयाइं संति पडिलेहे, चित्तमंताइं से अभिण्णाय।
परिवज्जिया ण विहरित्था, इति संखाए से महावीरे॥
अदु थावरा तसत्ताए, तसजीवा य थावरत्ताए।
अदु सव्वजोणिया सत्ता, कम्मुणा कप्पिया पुढो बाला॥
भगवं च 'एवं मन्नेसि', सोवहिए हु लुप्पती बाले।
कम्मं च सव्वसो णच्चा, तं पडियाइक्खे पावगं भगवं॥

२. आयारो, ९।१।११ :

'''एगत्तगए।

आचारांगचूर्णि, पृ० ३०४ :

एगत्तिगतो णाम णमे कोति णाहमवि कस्सइ।

२० १. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग पृ० २४९ :

ताहे पडिस्सुत्तं तो णवरं अच्छामि जति अप्पच्छंदेण भोयणादिकिरियं करेमि, ताहे समत्थितं, अतिसयत्वंपि ताव से कंचि कालं पसामो, एवं सयं निक्खमणकालं णच्चा अवि साहिए दुवे वासे सीतोदगमभोच्चा णिक्खंते, अप्फासुग आहारं राइभत्तं च अणाहारेतो बंभयारी असंजमवावाररहितो ठिओ, ण य फासुगेणवि ण्हातो' हत्थपादसोयणं आयमणं च, परं णिक्खमणमहाभिसेगे अप्फासुगेणं ण्हाणितो, ण य बंधवेहिवि अतिणेहं कतवं।

२३ १. आयारचूला, १५।३२ :

तओ णं समणे भगवं महावीरे दाहिणेणं दाहिणं वामेणं वामं पंचमुट्ठियं लोयं करेत्ता सिद्धाणं णमोक्कारं करेइ, करेत्ता, "सव्वं मे अकरणिज्जं पावकम्मं" ति कट्टु सामाइयं चरित्तं पडिवज्जई।

२. आयारचूला, १५।३४ :

तओ णं समणे भगवं महावीरे…एयारूवं अभिग्गहं अभिगिण्हइ —"बारसवासाइं वोसट्ठकाए चत्तदेहे जे केइ उवसग्गा उप्पज्जंति, तं जहा—दिव्वा वा, माणुसा वा, तेरिच्छिया वा, ते सव्वे उवसग्गे समुप्पण्णे समाणे 'अणाइले अव्वहिते अद्दीणमाणसे तिविह मणवयणकायगुत्ते' सम्मं सहिस्सामि खमिस्सामि अहियासइस्सामि ।"

२६ १. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २६८-२७० :

तए णं सामी अहासंनिहिए सव्वे नायए आपुच्छित्ता णायसंडबहिया चउब्भागऽवसेसाए पोरुसीए कंमारग्गामं पहावितो,…तत्थ एगो गोवो सो दिवसं बइल्ले वाहेत्ता गामसमीवं पत्तो,…ताहे सो आगतो पेच्छति तत्थेव निविट्ठे, ताहे आसुरुत्तो, एतेण दामएण हणामि, एतेण मम चोरिता एते बइल्ला, पभाए घेत्तुं वच्चीहामि ।

२. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग पृ० २७० :

ताहे सक्को भणति—भगवं ! तुब्भ उवसग्गबहुलं तो अहं बारस वासाणि वेयावच्चं करेमि, ताहे सामिणा भन्नति—नो खलु सक्का ! एवं भूअं वा ३ जं णं अरिहंता देविंदाण वा असुरिंदाण वा नीसाए केवलणाणं उप्पाडेंति उप्पाडेंसु वा ३ तवं वा करेंसु वा ३ सद्धिं वा वच्चिंसु वा ३, णण्णत्थ सएणं उट्ठाणकम्मबलविरियपुरिसक्कारपरक्कमेणं ।

२८ १. आयारो, ९।२।२,३ :

आवेसण-'सभा-पवासु,' पणियसालासु एगदा वासो ।
अदुवा पलियट्ठाणेसु, पलालपुंजेसु एगदा वासो ।।
आगंतारे आरामागारे, गामे णगरेवि एगदा वासो ।
सुसाणे सुण्णगारे वा, रुक्खमूले वि एगदा वासो ।।

३० १. आवश्यकचूर्णि पूर्वभाग, पृ० २७१, २७२ :

ताहे सामी विहरमाणो गतो मोरागं संनिवेसं, तत्थ दूइज्जंतगा णाम पासंडत्था, तेसिं तत्थ आवासा, तेसिं च कुलवती भगवतो

पितुमित्तो, ताहे सो सामिस्स सागतेणं उवगतो, ताहे सामिणा पुव्वपतोगेण तस्स सागतं दिन्नं, सो भणति—अत्थि घरं एत्थ कुमारवर ! अच्छाहि, तत्थ सामी एगंतराइं वसिऊण पच्छा गतो विहरति, तेण भणियं—विवित्ताओ वसहीओ, जदि वासारत्तो कीरति तो आगमेज्जाह. ताहे सामी अट्ठ उउबद्धिए मासे विहरित्ता वासावासे उवग्गे तं चेव दूइज्जंतगगामं एति, तत्थेगंमि मढे वासावासं ठितो, पढमपाउसे य गोरूवाणि चारिं अलभंताणि जुण्णाणि तणाणि खायंति, ताणि य घराणि उव्वेल्लेंति, पच्छा ते वारेंति, सामी णं वारेइ, पच्छा ते दूइज्जंतगा तस्स कुलवइस्स साहेंति, जहा एस एताणि ण वारेति, ताहे सो कुलवती तं अणुसासेति, भणति—कुमारवरा ! सउणीवि ताव णेड्डं रक्खति, तुमंपि वारेज्जासित्ति सप्पिवासं भणति, ताहे सामी अचियत्तोग्गहोत्ति निग्गतो, इमे य तेण पंच अभिग्गहा गहिता, तं जहाअचियत्तोग्गहे ण वसितव्वं, निच्चं वोसट्ठे काए मोणं च, पाणीसु भोत्तव्वं…गिहत्थो वंदियव्वो न अब्भुट्ठेयव्वोत्ति।

३२ १. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग पृ० २७३, २७४ :

एवं सो अट्ठितगामो जातो। तत्थ पुण वाणमंतरघरे जो रत्तिं परिवसति तत्थ सो सूलपाणी संनिहितो तं रत्तिं वाहेत्ता पच्छा मारेति,… इतो य तत्थ सामी आगतो दूइज्जंतगाण पासातो …ताहे गंता एगकोणे पडिमं ठितो,…ताहे सो वाणमंतरो जाहे सद्देण ण बीहेति ताहे हत्थिरूवेण उवसग्गं करेति पिसायरूवेण य, एतेहिवि जाहे ण तरति खोभेउं ताहे पभायसमए सत्तविहं वेयणं करेति।

३५ १. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग पृ० २७७, २७९ :

ताहे सामी उत्तरवाचालं वच्चति, तत्थ अंतरा कणकखलं णाम आसमपदं, दो पंथा उज्जुओ य वंको य, जो सो उज्जुओ सो कणगखलमज्झेण वच्चति, वंको परिहरंतो, सामी उज्जुएण पधाइतो।…भगवं च गंतूण तत्थ पडिमं ठितो, आसुरुत्तो ममं ण जाणसित्ति सूरिएणाज्झाइत्ता पच्छा सामिं पलोएति जाव सो ण उज्झति जहा अन्ने, एवं दो तिन्नि वारे, ताहे गंतूण डसति, डसित्ता सरति अवक्कमति मा मे उवरिं पडिहिति, तहवि ण

मरति एवं तिन्नि पलोएंतो अच्छति अमरिसेणं, तस्स तं रूवं पलोएंतस्स ताणि अच्छीणि विज्झाताणि···अन्नाओ य घयविक्किणियातो तं सप्पं घतेण मक्खंति, फरुसोति सो पिपीलियाहिं गहितो, तं वेयणं सम्मं अहियासेति, अद्धमासस्स कालगतो सहस्सारे उववन्नो ।

३७ १. (क) आयारो, ९।२।११,१२ :

स जणेहिं तत्थ पुच्छिसु, एगचरा वि एगदा राओ ।
अव्वाहिए कसाइत्था, पेहमाणे समाहिं अपडिण्णे ॥
अयमंतरंसि को एत्थ, अहमंसि त्ति भिक्खू आहट्टु ।
अयमुत्तमे से धम्मे तुसिणीए स कसाइए झाति ॥

(ख) आचारांगचूर्णि, पृ० ३१६ :

एगा चरंति एग चरा उब्भामिया, उब्भामगपुच्छत्ति, एत्थ को आगओ आसी पुरिसो वा ? इत्थि पुच्छति अहवा दोवि णं, जणाइ आगमं पुच्छंति—अत्थि एत्थ कोयी देवज्जओ कप्पडिओ वा ? तुसिणीओ अच्छइ, दट्ठुं वा भणंति—को तुमं ? तत्थवि मोणं अच्छति, ण तेसिं उब्भामइल्लाण वायं पि देति, पच्छा ते अच्चाहिते कम्मइ, एत्थ पुच्छिज्जंतो वि वायं ण देइत्तिकाऊणं रुस्संति पिट्टंति य, उब्भामिया य उब्भामगं सो ण साहतित्तिकाउं, किं आगतो आसि ? णागतोत्ति, अव्वाहिते कसाइय भणति—अक्खाहि धम्मे।···ते चेव एगचरा आगंतु दट्ठूणं भणंति—अयमंतरंसि, अयं अस्मिन् अंतरे अम्हसंतगे को एत्थं ? एवं वुत्तेहिं अह भिक्खुत्ति एवं वुत्तेवि रुस्सति, केण तव दिन्नं ? किं वा तुमं अम्ह विहारट्ठाणे चिट्ठसि ? अक्कोसेहिंति वा, कम्मारगस्स वा ठाओ सामिएण दिन्नो होज्जा, पच्छा रण्णो भण्णति को एस ? सामिट्ठितो, तुसिणोओ चिट्ठति ।

३८ १. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २९०, २९६ :

(क) भगवं चिंतेति—बहुं कम्मं निज्जरेयव्वं लाढाविसयं वच्चामि, ते अणारिया, तत्थ निज्जरेमि, तत्थ भगवं अत्थारियदिट्ठंतं हिदए करेति, ततो भगवं निग्गतो लाढाविसयं पविट्ठो ।

(ख) तत्थ अट्ठमं वासारत्तं चाउम्मासखमणं, विचित्ते य अभिग्गहे, बाहिं पारित्ता सरदे समतीए दिट्ठंतं करेति, सामी चिंतेति—बहुं कम्मं 'ण' सक्का णिज्जरेउं, ताहे सतेमेव अत्थारियदिट्ठंतं पडिकप्पेति, जहां एगस्स कुडंबियस्स साली जाता, ताहे सो कप्पडियपंथिए भणति—तुब्भं हियच्छितं भत्तं देमि मम लुणह, पच्छा भे जहासुहं वच्चह, एवं सो ओवातेण लुणावेति, एवं चेव ममेवि बहुं कम्मं अच्छति, एतं तडच्छारिएहिं णिज्जरावेयव्वंति अणारियदेसेसु, ताहे लाढावज्जभूमिं सुब्भभूमिं च वच्चति।

२. आयारो, ९।३।२ :

अह दुच्चर-लाढमचारी, वज्जभूमिं च सुब्भभूमिं च।
पंतं सेज्जं सेविंसु आसणगाणि चेव पंताइं॥

३. (क) आचारांगचूर्णि, पृ० ३१९ :

एवं तत्थ छम्मासे अच्छितो भगवं।

(ख) आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २९६

तत्थ य छम्मासे अणिच्चजागरियं विहरति।

(ग) आचारांगवृत्ति, पत्र २८२ :

तत्र चैवंविधे जनपदे भगवान् षण्मासावधि कालं स्थितवानिति।

४. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ २९० :

···लाढाविसयं पविट्ठो·· पच्छा ततो णीति, तत्थ पुन्नकलसो णाम अणारियगामो···एवं विहरंता भद्दियं णगरीं गता, तत्थ वासारत्ते चाउम्मासखमणेण अच्छति।

५. आचारांगचूर्णि, पृ० ३१८ :

अणगरजणवओ पायं सो विसओ, ण तत्थ नगरादीणि संति, लूसगेहिं सो कट्ठमुट्ठिप्पहारादिएहिं अणेगेहिं य लूसंति, एगे आहु—दंतेहिं खायंतेत्ति, किंच—अहा लूहदेसिए भत्ते, तद्देसे पाएण रुक्खाहारा तैलघृतविर्वजिता रूक्षा, भक्तदेस इति वत्तव्वे वंधाणुलोमओ उवक्कमकरणं, णेह गोवांगरससीरहिणि, रूक्षं गोवालहलवाहादीणं सीतकूरो, आमंतेणऊणं अंविलेण अलोणेण

एए दिज्जंति मज्झण्हे लुक्खएहिं, माससहाएहिं तं पिणाति प्रकामं, ण तत्थ तिला संति, ण गवीतो वहुगीतो, कप्पासो वा, तणपाउणातो ते, परुक्खाहारत्ता अतीव कोहणा, रुस्सिता अक्कोसादी य उवसग्गे करेंति।

१. आचारांगचूर्णि, पृ० ३२० :

कारणेण गाममणियंतियं गामब्भासंते लाढा पडिणिक्खमेत्तु लूसेंति, णग्गा तुमं किं अम्हं गामं पविससि ?

२. (क) आयारो, ६।३।८ :

...अलद्धपुव्व वि एगया गामो।

(ख) आचारांगचूर्णि, पृ० ३२० :

एगया कदायि, गामि पविट्ठेण णिवासो ण लद्धपुव्वो, जेण उवस्सतो ण लद्धो तेण गामो ण लद्धो चेव भवति।

३. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग पृ० २९६ :

तदा य किर वासारत्तो, तंमि जणवए केणइ दइवनिओगेण लेहट्ठो आसी वसहीवि न लब्भति।

४. आयारो, ६।३।३-६ :

लाढेहिं तस्सुवसग्गा, बहवे जाणवया लूसिंसु।
अह लूहदेसिए भत्ते कुक्कुरा तत्थ हिंसिसु णिवतिंसु॥
अप्पे जणे णिवारेइ, लूसणए सुणए दसमाणे।
छुछुकारंति आहंसु, समणं कुक्कुरा डसंतुत्ति॥
एलिक्खए जणे भुज्जो, वहवे वज्जभूमि फरुसासी।
लट्ठिं गहाय णालीयं, समणा तत्थ एव विहरिंसु॥
एवं पि तत्थ विहरंता, पुट्ठपुव्वा अहेसि सुणएहिं।
संलुंचमाणा सुणएहिं, दुच्चरगाणि तत्थ लाढेहिं॥

१. आयारो, ६।३।१०,११ :

हयपुव्वो तत्थ दंडेण, अदुवा मुट्ठिणा अदु 'कुंताइ-फलेणं।
अदु लेलुणा कवालेणं, हंता हंता बहवे कंदिसु॥
मंसाणि छिन्नपुव्वाइं, उट्ठुभंति एगयाकायं।
परीसहाइं लुंचिसु, अहवा पंसुणा अवकिरिंसु॥

२ (क) आयारो, ९।३।१२ :

उच्चालइय णिहणिंसु अदुवा आसणाओ खलइंसु।
वोसट्ठकाए पणयासी, दुक्खसहे भगवं अपडिण्णे ॥

(ख) आचारांगचूर्णि, पृ० ३२० :

केइ आसणातो खलयंति आयावणभूमीतो वा जत्थ वा अन्नत्थ ठिओ णिसण्णो वा, केति पुण एवं वेवमाणो हणेत्ता आसणातो वा खलित्ता पच्छा पाएसु पडितुं खमिति।

३. आचारांगाचूर्णि, पृ० ३२० :

जं लाढा तारिसेण रूवेण तज्जंति, बुवंति ते तु चिरु विघायण, तारिसे रूवे रज्जंति, सरिसासरिसु रमंति।

४५ १. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २८१, २८२ :

ततो भगवं उदगतीराए पडिक्कमित्तु पत्थिओ गंगामट्टियाए य तेण मधुसित्थेण लक्खणा दीसंति, तत्थ पूसो णाम सामुद्दो सो ताणि सोचित्ते लक्खणाणि पासति, ताहे—एस चक्कवट्टी एगागी गतो वच्चामिणं वागरेमि तो मम एत्तो भोगवत्ती भविस्सति, सेवामि णं कुमारत्ते। सामिवि थुणागसंनिवेसस्स वाहिं पडिमं ठितो, ···ततो सामी रायगिहं गतो।

४७ १, २. आयारो, ९।२।५ :

णिद्दं पि णो पगामाए, सेवइ भगवं उट्ठाए।
जग्गावती य अप्पाणं, ईसिं साई या सी अपडिण्णे ॥

३ आचारांगचूर्णि, पृ० ३१३ :

गिम्हे अतिणिद्दा भवति हेमंते वा जिघांसुरादिसु, ततो पुव्वरत्ते अवररत्ते वा पुव्वपडिलेहियउवासयगतो, तत्थ णिद्दाविमोयणहेतु मुहुत्तागं चंकमिओ, णिद्दं पविणेत्ता पुणो अंतो पविस्स पडिमागतो ज्झाइयवान्।

४८ २. आवश्यकचूर्णि पूर्वभाग पृ० २७४ :

सामी य देसूणचत्तारि जाये अतीव परितावितो समाणो पभायकाले मुहुत्तमेत्तं निद्दापमादं गतो, तत्थिमे दस महासुमिणे पासित्ताणं पडिवुद्धो, तं जहा—तालपिसाओ हतो १ सेयसउणो

चित्तकोइलो य दोवेते पज्जुवासंता दिट्ठा २-३ दामदुगं च सुरभिकुसुममयं ४ गोवग्गो य पज्जुवासंतो ५ पउमसरो विउद्धपंकओ ६ सागरो यमिणित्थिणोत्ति ७ सूरो य पइन्न-रस्सिमंडलो उग्गमतो ८ अंतेहिय मे माणुसुत्तरो वेढिओत्ति ९ मंदरं चारूढोमित्ति। १०।

४९ १. **आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, २९२-२९३ :**

सामी गामायं संनिवेसं एति, तत्थ उज्जाणे बिभेलओ णाम जक्खो, सो भगवतो पडिमं ठितस्स पूयं करेति, ततो सामी सालिसीसयं णाम गामो तहिं गतो, तत्थ उज्जाणे पडिमं ठितो, माहमासो य वट्टति, तत्थ कडपूयणा वाणमंतरी सामीं दट्ठूणं तेयं असहमाणी पच्छा तावसरूवं विउव्वित्ता वक्कलणियत्था जडाभारेण य सव्वं सरीरं पाणिएण ओल्लेत्ता दहंमि उवरिं ठिता सामिस्स अंगाणि धुणति वायं च विउव्वति, जदि पागतो सो फुट्टितो होन्तो, सा य किल तिविट्ठुकाले अंतेपुरिया आसि, ण य तदा पडियरियत्ति पदोसं वहति, तं दिव्वं वेयणं अहियासंतस्स भगवतो ओही विगसिओ सव्वं लोगं पासितु मारद्धो, सेसं कालं गब्भातो आढवेत्ता जाव सालिसीसं ताव सुरलोगप्पमाणे ओही एक्कारस य अंगा सुरलोगप्पमाणमेत्ता, जावतियं देवलोगेसु पेच्छिताइत्ता। सावि वंतरी पराजिता संता ताव उवसंता पूयं करेति।

५० १. **आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग पृ० ३०४, ३०५ :**

ततो सामी दढभूमीं गतो, तीसे बाहिं पेढालं नाम उज्जाणं, तत्थ पोलासं चेतियं, तत्थ अट्ठमेणं भत्तेण अप्पाणएण ईसिपब्भारगतेण, ईसिपब्भारगतो नाम ईसिं ओणओ काओ, एगपोग्गलनिरुद्धदिट्ठि अणिमिसणयणो तत्थ वि जे अचित्त-पोग्गला तेसु दिट्ठिं निवेसेति, सचित्तेहिं दिट्ठी अप्पाइज्जति,··· इतो य संगमको···अज्जेव णं अहं चालेमेत्ति···सो आगतो। ···जहा जहा उवसग्गं करेति तहा तहा सामी अतीव ज्झाणेण अप्पाणं भावेति, जहा—तुमए चेव कतमिणं, ण सुद्धचारिस्स दिस्सए दंडो। जाहे ण सक्को ताहे विच्चुए विउव्वति, ते खायंति। तह वि ण सक्का, ताहे णउले विउव्वति, ते तिक्खाहिं दाढाहिं दसंति, खंडखंडाइ च अवणेंति, पच्छा सप्पे

विसरोससंपन्ने उग्गविसे डाहजरकारए···न सक्को एस मारेउंति अणुलोमे करेमि।

५१. १. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा ५२८-५३६, दीपिका पत्र १०७-१०८ :

जो य तवो अणुचिण्णो, वीरवरेणं महाणुभावेणं ।
छउमत्थकालियाए, अहकम्म कित्तइस्सामि ॥
नव किर चाउम्मासे, छक्किर दोमासिए उवासीय।
बारस य मासियाइं, बावत्तरि अद्धमासाइं॥
एगं किर छम्मासं, दो किर तेमासिए उवासीय।
अड्ढाइज्जा दुवे, दो चेव दिवड्ढमासाइं॥
भद्दं च महाभद्दं, पडिमं तत्तो अ सव्वओभद्दं।
दो चत्तारि दसेव य दिवसे ठासीय अणुबद्धं॥
गोयरमभिग्गहजुयं, खमण छम्मासियं च कासीय।
पंचदिवसेहिं ऊणं, अव्वहियो वच्छनयरीए॥
दस दो य किर महप्पा, ठाइ मुणी एगराइए पडिमे।
अट्ठमभत्तेण जई, एक्केक्कं चरमराईयं॥
दो चेव य छट्ठसए, अउणातीसे उवासिया भगवं।
न कयाइ निच्चभत्तं, चउत्थभत्तं च से आसि॥
बारस वासे अहिए, छट्ठं भत्तं जहण्णयं आसि।
सव्वं च तवोकम्मं, अपाणयं आसि वीरस्स॥
तिण्णि सए दिवसाणं, अउणावण्णं तु पारणाकालो।
उक्कुडुयनिसेज्जाणं, ठियपडिमाणं सए बहुए॥

५२ १. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २७० :

ततो वीयदिवसे छट्ठपारणए कोल्लाए सन्निवेसे घतमधुसंजुत्तेणं परमन्नेणं वलेण माहणेण पडिलाभितो।

३. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २७९ :

पच्छा सामी उत्तरवाचालं गतो तत्थ पक्खखमणपारणए अतिगतो, तत्थ णागसेणेण गाहावतिणा खीरभोयणेण पडिलाभितो।

५३ १. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २८३, २८४ :

ताहे सामी बंभणागामं पत्तो, तत्थ णंदो उवणंदो य दोन्नि भातरो,

गामस्य दो पाडगा, तत्थ एगस्स एगो इतरस्सवि एगो, तत्थ सामी णंदस्स पाडगं पविट्ठो णंदघरं च तत्थ दवि दोसीणेण य पडिलाभितो णंदेण ।

३. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० ३००, ३०१ :

पच्छा तासु सम्मत्तासु आणंदस्स गाहावतिस्स घरे बहुलियाए दासीए महाणसिणीए भायणाणि खणीकरेंतीए दोसीणं छड्डेउकामाए सामी पविट्ठो, ताहे भन्नति किं भगवं ! एतेण अट्ठो ? सामिणा पाणी पसारितो, ताए परमाए सद्धाए दिन्नं ।

४. आयारो, ९।४।४, ५, १३ :

आयावई य गिम्हाणं, अच्छइ उक्कुडुए अभिवाते ।
अदु जावइत्थ लूहेणं ओयण-मंथु-कुम्मासेणं ।।४।।
एयाणि तिण्णि पडिसेवे, अट्ठ मासे य जावए भगवं ।
अपिइत्थ एगया भगवं, अद्धमासं अदुवा मासं पि ।।५।।
अवि सूइयं वा सुक्कं वा, सीयपिंडं पुराणकुम्मासं ।
अदु बक्कसं पुलागं वा, लद्धे पिंडे अलद्धए दविए ।।१३।।

५५ १. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २६८ :

तए णं सामी अहासंनिहिए सव्वे नायए आपुच्छित्ता णायसंडबहिया चउब्भागऽवसेसाए पोरुसीए कंमारग्गामं पहावितो ...सामी पालीए जा वच्चति ताव पोरुसी मुहुत्तावसेसा जाता, संपत्तो य तं गामं, तस्स बाहिं सामी पडिमं ठितो ।

२. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० ३०१ :

ईसिपब्भारगतो नाम ईसिं ओणओ काओ, एगपोग्गल-निरुद्धदिट्ठी अणिमिसणयणो तत्थवि जे अचित्तपोग्गला तेसु दिट्ठिं निवेसेति, सचित्तेहिं दिट्ठी अप्पाइज्जति, जहा दुव्वाए, जहासंभवं सेसाणिवि भासियव्वाणि । अहापणिहितेहिं गत्तेहिं सव्विंदिएहिं गुत्तेहिं दोवि पादे साहट्टु वग्घारियपाणी एगराइयं महापडिमं ठितो ।

५६ १. (क) आयारो, ९।१।५ :

अदु पोरिसिं तिरियं भित्तिं, चक्खुमासज्ज अंतसो झाइ ।

(ख) आचारांगचूर्णि, पृ० ३००, ३०१ :

पुणतो तिरियं पुणं भित्ति, सण्णित्ता दिट्ठी, को अत्थो ? पुरतो संकुडा अंतो वित्थडा सा तिरियभित्तिसंठिता वुच्चति, सगडुद्धिसंठिता वा, जतिवि ओहिणा वा पासति तहावि सीसाणं उद्देसतो तहा करेति जेण निरु भति दिट्ठि, ण य णिच्चकालमेव ओधीणाणोवओगो अत्थि,···यदुक्तं भवति—पुरओ अंतो मज्झे यातीति पश्यति, तदेव तस्स ज्झाणं जं रिउवयोगो अणिमिसाए दिट्ठीए वद्धेहिं अच्छीहिं, तं एवं वद्धअच्छी जुगंतरणिरिक्खणं दट्ठुं।

३. आवश्यकनियुक्ति, गाथा ४९८

दढभूमीए वहिआ, पेढालं नाम होइ उज्जाणं।
पोलास चेइयंमि, ठिएगराईमहापडिमं ॥

५७ १. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० ३०० :

ततो साणुलट्ठितं णाम गामं गतो, तत्थ भद्दं पडिमं ठाति, केरिसिया भद्दा ?, पुव्वाहुत्तो दिवसं अच्छति, पच्छा रत्ति दाहिणहुत्तो अवरेण दिवसं उत्तरेण रत्तिं, एवं छट्ठेण भत्तेण णिट्ठिता। तहवि ण चेव पारेति, अपारितो चेव महाभद्दं ठाति सा पुण पुव्वाए दिसाए अहोरत्तं, एवं चउसुवि चत्तारि अहोरत्ता एवं दसमेण णिट्ठिता। ताहे अपारितो चेव सव्वातोभद्दं पडिमं ठाति, सा पुण सव्वतोभद्दा इंदाए अहोरत्तं, पच्छा अग्गेयाए, एवं दससुवि दिसासु सव्वासु, विमलाए जाइं उड्ढलोतियाणि दव्वाणि ताणि झाति, तमाए हिट्ठिल्लाइं, चउरो दो दिवसा दो रातिओ, अट्ठ चत्तारि दिवसा चत्तारि रातीतो, वीसं दस दिवसा दस राईओ, एवं एसा दसहिं दिवसेहिं वावीसइमेण णिट्ठाति।

२. (ख) आयारो, ९।४।१४ :

अवि झाति से महावीरे, आसणत्थे अकुक्कुए झाणं।
उड्ढमहे तिरियं च, पेहमाणो समाहिमपडिण्णे ॥

३. आचारांगचूर्णि, पृ० ३२४ :

उड्ढं अहेयं तिरियं च, सव्वलोए झायति समितं, उड्ढलोए जे अहेवि तिरिएवि, जेहिं वा कम्मादाणेहिं उड्ढं गमति एवं अहे तिरियं च, अहे संसारं संसारहेउं च कम्मविपागं च ज्झायति,

एवं मोक्खं मोक्खहेऊ मोक्खसुहं च ज्झायति, पेच्छमाणो आयसमाहिं परसमाहिं च अहवा नाणादिसमाहिं।

५८ १. (क) **आचारांगचूर्णि, पृ० ३२४ :**

आसणं उक्कुडुओ वा वीरासणेणं वा।

(ख) **आचारांगवृत्ति, पत्र २८३ :**

'आसनात्' गोदोहिकोत्कटुकासनवीरासनादिकात्।

५९ १. (क) **आचारांगचूर्णि, पृ० २९९ :**

स हि भगवां दिव्वेहिं गोसीसाइएहिं चंदणेहिं चुन्नेहिं य वासेहि य पुप्फेहि य वासितदेहोऽपि णिक्खमणाभिसेगेण य अभिसित्तो विसेसेणं इंदेहिं चंदणादिगंधेहिं वा वासितो, जओ तस्स पव्वइयस्सवि सओ चत्तारि साधिगे मासे तहावत्थो, ण जाति, आगममग्गसिरा आरद्ध चत्तारि मासा सो दिव्वो गंधो न फिडिओ, जओ से सुरभिगंधेणं भमरा मधुकरा य पाणजातीया बहवो आगमेंति दूराओवि, पुप्फितेवि लोहकंदादिवणसंडे चइत्ता, दिव्वेहिं गंधेहिं आगरिसिता …आरुसित्ताणं तत्थ हिंसिसु।

(ख) **आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, २६८, २६९ :**

स हि भगवान् दिव्वेहिं…अतो से सुरभिगंधेणं भमरा मधुकरा य…विंधंति य।

२. (क) **आचारांगचूर्णि, पृ० ३०० :**

जे वा अजितेंदिया ते गंधे अग्घात तरुणइत्ता तं गंधमुच्छिता भगवंतं भिक्खायरियाए हिंडतं गामाणुगामं दूइज्जंतं अणुगच्छंता अणुलोमं जायंति देहि अम्हवि एतं गंधजुतिं, तुसिणीए अच्छमाणे पडिलोमा उवसग्गे करेंति, देहि वा, किं वा पिच्छंसित्ति, एवं पडिमाट्ठियंपि उवसग्गेंति।

(ख) **आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २६९ :**

जे वा अजितिदिया…उवसग्गेंति।

६० १. (क) **आवश्यकचूर्णि,पूर्वभाग, पृ ०२६९, ३१० :**

एवं इत्थियाओऽवि तस्स भगवतो गातं रयस्वेदमलेहि विरहितं निस्साससुगंधं च मुहं अच्छीणि य निसग्गेण चेव नीलुप्पलपला-

सोवमाणि व्रीयअंसुविरहियाणि दट्ठुं भणंति सामि—कहिं तुब्भे वसहिं उवेह ? पुच्छंति भणंति अन्नमन्नाणि।

(ख) आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० ३१० :

ताहे अवितित्ता कामाणं मेथुणसंपगिद्धा य मोहभरिया पइरिक्कं काऊण पत्तेयं पत्तेयं मधुरेहि य मिगारएहि य कलुणेहि य उवसग्गेहि उवसग्गेउं पवत्ता यावि होत्था।...अम्हे अणाहा अवयक्खितुं. तुज्झ चलणओवायकारिया गुणसंकर ! अम्हे तुम्हे विहूणा ण समत्था जीवितुं खणंपि, किं वा तुज्झ इमेण गुणसमुदएण ?...एवं सप्पणयमधुराइं पुणो कलुणगाणि जंपमाणीओ सरभसउवगूहिताइं विव्वोयविलसिताणि य विहसितसकडक्खदिट्ठुणिस्ससितभणितउवललितललितधियमणपणयखिज्जियपसादिताणि य पकरेमाणीओवि जाहे न सक्का ताहे जामेव दिसं पाउब्भूया जाव पडिगता।

६१ १. आचारांगचूर्णि, पृ० ३०३ :

से तंति चोएन्तो अच्छति, भगवं च हिंडमाणो आगतो, सो तं आगतं पेच्छेत्ता भणइ—भगवं देवेज्जगा ! इमं ता सुणेहि, अमुगं कलं वा पेच्छाहि। तत्थवि मोणेणं चेव गच्छति।

२. आचारांगचूर्णि, पृ० ३०३ :

णट्टं णच्चंते, तं पुण इत्थी पुरिसो वा णच्चति।

६३ २. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २९० :

ततो भगवं निग्गतो लाढाविसयं पविट्ठो।...तत्थ पुन्नकलसा णाम अणारियगामो, तत्थंतरा दो तेणा लाढाविसयं पविसितुकामा, ते अवसउणो एतस्सेव वहाए भवतुत्तिकट्टु असि कड्ढिऊणं सीसं छिंदामीत्ति पहाविता।

४. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २९२ :

सामीवि वेसालिं गतो, तत्थ कम्मारसालाए अणुन्नवेत्ता पडिमं ठितो, सा साहारणा, जे साधीणा ते अणुन्नविता, अन्नदा तत्थ एगो कम्मारो छम्मासा पडिभग्गतो, आढत्तो सोभणतिधिकरणे आयोज्जाणि गहाय आगतो, सामिं च पडिमं ठितं पासति, अमंगलंति सामिं आहणामित्ति चम्मट्ठेण पहावितो।

६४ २. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २९९ :

भगवंपि वेंसालिं णगरिं संपत्तो, तत्थ सखो णाम गणराया, सिद्धत्थरन्नो मित्तो, सो तं पूजेति, पच्छा वाणियग्गामं पधावितो, तत्थंतरा गंडइता णदी, तं सामी णावाए उत्तिन्नो, ते णाविया सामिं भणंति—देहि मोल्लं, एवं वाहंति, तत्थ संखरन्नो भाइणेज्जो चित्तो णाम दूइक्काए गएल्लओ णावाकडएण एति, ताहे तेण मोइतो महितो य।

६७ १. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ०२७३, २७५:

तत्थ [अत्थियगामे] सामी आगतो⋯एगकोणे पडिमं ठितो⋯ तत्थ य उप्पलो नाम पच्छाकडो परिव्वाओ पासावच्चिज्जो नेमित्तिओ⋯उप्पलो वि सामिं दट्ठुं पहट्ठो वंदति, ताहे भणति सामी ! तुब्भेहिं अंतिमरातीए दस सुमिणा दिट्ठा, तेसिं इमं फलंति—जो तालपिसाओ हतो तमचिरेण मोहणिज्जं उम्मूलेहिसि १, जो य सेयसउणो तं सुक्कज्झाणं झाहिसि २, जो विचित्तो तं कोइलो दुवालसंगं पन्नवेहिसि ३, गोवग्गफलं च ते चउव्विहो समणसंघो भविस्सति ४, पउमसरो चउव्विह देवसंघातो भविस्सति ५, जं च सागरं तिन्नो तं संसारमुत्तरिहिसि ६, जो य सूरो तमचिरा केवलणाणं ते उप्पज्जिहिति ७, जं च अंतेहिं माणुसुत्तरो वेढितो तं ते निम्मलजसकित्तिपयाया सयले तिहुयणे भविस्सति ८, जं च मंदरसमारूढोसि तं सीहासणत्थो सदेवमणुयासुराए परिसाए धम्मं पन्नवेहिसित्ति९, दाम दुगं पुण ण जाणामि। सामी भणति—'हे उप्पला ! जं णं तुमं न याणासि तं अहं दुविहमगाराणगारियं धम्मं पन्नवेहा मित्ति १०। ततो वंदित्ता गतो।

२. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ०३००:

ताहे वाणियगामं गतो, तस्स बाहिं पडिमं ठितो, तत्थ आणंदो नाम समणोवासगो छट्ठं छट्ठेण आतावेति, तस्य य ओहिन्नाणं उप्पन्नं, जाव तित्थगरं पेच्छति, तं वंदति णमंसति भणति य—अहो सामी परीसहा अधियासिज्जंति वागरेति य जहा एच्चिरेण कालेणं तुब्भं केवलणाणं उप्पज्जिहिति पूजेति य।

६९ १. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २७४, २७७ :

पच्छा सरदे निग्गओ मोरायं नाम सन्निवेसं गओ, तत्थ सामी वहिं उज्जाणे ठिओ, तत्थ य मोराгए सन्निवेसे अच्छंदगा नामं पासंडत्था, तत्थ एगो अच्छंदओ तत्थ गामे अच्छइ, सो पुण तत्थ गामे कोंटलवेंटलेण जीवति, सिद्धत्थगो एकल्लओ अच्छंतओ अद्धिर्ति करेति वहुसंमोइतो य, भगवतो य पूयं अपेच्छंतो, ताहे सो वोलेंतं गोहं सद्दावेत्ता वागरेति, जहिं पधावितो जं जिमितो ज पंथे दिट्ठं जे य सुविणगा दिट्ठा, ताहे सो आउट्टो गामं गंतुं मित्तपरिजिताण परिकहेति, सव्वहिं गामे फुसितं एस देवज्जतो उज्जाणे अतीतवट्टमाणाणागतं जाणति, ताहे अन्नोऽवि लोओ आगतो, सव्वस्स वागरेति, लोगो तहेव आउट्टो महिमं करेति सो लोगेण अविरहितो अच्छति, ताहे सो लोगो भणई—एत्थ अच्छंदओ नाम जाणंतओ,सिद्धत्थो भणति से ण किंचि जाणति, ताहे लोगो गंतुं भणति—तुमं ण किंचि जाणसि, देवज्जतो जाणति, सो लोगमज्झे अप्पाणं ठाविउकामो भणति—एह जामो, जदि मज्झ जाणति, ताहे लोगेण परिवारितो एति, भगवतो पुरतो ट्ठितो, तणं गहाय भणति—किं एतं छिज्जिहिति ? जई भणिहिइ तो ण छिंदिस्सं, अह भणिहिति णवि तो छिंदिस्सामि ।

···एवं तस्स (अच्छंदगस्स) उड्डाहो जातो जहा तस्य कोऽवि भिक्खंपि ण देति, ताहे सो अप्पसागारियं आगतो भणति—भगवं ! तुब्भे अण्णत्थवि जुज्जह, अहं कहिं जामि ? ताहे अचियत्तग्गहो त्ति काऊण सामी निग्गतो ।

७१ १. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २८०,२८१:

ततो सुरभिपुरं गतो, तत्थ गंगा उत्तरियव्विया, तत्थ सिद्धजत्तो णाम णाविओ, खेमिलो नेमित्तियो, तत्थ य णावाए लोगो विलग्गति, तत्थ य कोसिएण महासउणेण वासितं, तत्थ सो नेमित्तिओ वागरेति—जारिसं सउणेण भणियं तारिसं अम्हेहि मारणंतियं पावियव्वं, किं पुण इमस्स महरिसिस्स पभावेण मुच्चीहामो, सा य णावा पहाविता,···सो संवट्टगवातं विउव्वित्ता णावं उब्बोलेतुं इच्छति···ततो सामीवि उत्तिन्नो ।

७२ २. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २८८ :

ताहे सामी हलेदुता णाम गामो तं गतो, तत्थ महतिमहप्पमाणो हलेदुगरुक्खो, तत्थ सावत्थीओ अन्नो लोगो एंतो तत्थ वसति सत्थनिवेसो, तत्थ सामी पडिमं ठितो, तेहिं सत्थिएहिं रत्ति सीयकाले अग्गी जालिओ, ते पभाए संते उट्ठेत्ता गया, सो अग्गी तेहिं न विज्झाविओ, सो डहंतो २ सामिस्स पासं गतो, सो भगवं परितावेति, गोसालो भणति—भगवं णासह एस अग्गी एइ, सामिस्स पादा दड्ढा, गोसालो णट्ठो।

७३ १. आयारो ९।२।१३-१६ :

जंसिप्पेगे पवेयंति, सिसिरे मारुए पवायंते।
तंसिप्पेगे अणगारा, हिमवाए णिवायमेसंति ।।
संघाडिओ पविसिस्सामो, एहा य समादहमाणा।
पिहिया वा सक्खामो, अतिदुक्खं हिमग-संफासा ।।
तंसि भगवं अपडिण्णे, अहे वियडे अहियासए दविए।
णिक्खम्म एगदा राओ, चाइए भगवं समियाए ।।
एस विही अणुक्कंतो, माहणेण मईमया।
'अपडिण्णेण वीरेण, कासवेण महेसिणा ।।

७६ २. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २७९, २८०:

पच्छा सेयवियं गतो, तत्थ पएसी राया समणोवासए, सो महेति सक्कारेति, ततो सुरभिपुरं वच्चति, तत्थ अंतराए णेज्जगा रायाणो पंचहिं रहेहिं एंति पएसिस्स रन्नो पासं, तेहिं तत्थ गतेहिं सामी पूतितो य वंदितो य।

७७ १. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २९४, २९५ :

ततो पुरिमतालं एति, तत्थ वग्गुरो णाम सेट्ठी, तस्स भारिया वंज्झा अवियाउरी जाणुकोप्परमाता, देवसतोवाइयाणि काउं परिसंता, अन्नया मगडमुहे उज्जाणियाए गताणि, तत्थ पासंति जुन्नदेउलं सडितपडितं, तत्थ मल्लिसामिणो पडिमा, तं णमंसति तेहिं भणितं—जदि अम्ह दारओ वा दारिया वा पयाति ता एतं देउलं करेमो, एतब्भत्ताणि य होमो, एवं णमंसित्ता गयाणि तत्थ य अहासन्निहियाए वाणमंतरी देवयाए पाडिहेरं कतं,

आहूतो गब्भो, जं चेव आहूतो तं चेव देवउलं काउमारद्धाणि अतीव पूजं तिसंज्झं करेंति, पव्वइया य अल्लियंति, एवं सो सावओ जातो। इतो य सामी विहरमाणो सगडमुहस्स उज्जाणस्स णगरस्स य अंतरा पडिमं ठितो।···वग्गुरो य तं कालं ण्हातो ओल्लपडसाडओ सपरिजणो महता इड्ढीए विविहकुसुमहत्थगतो तं आयतणमच्चतो जाति, तं च वितिवयमाणं ईसाणिंदो पासति, भणति य—भो ! वग्गुरा ! तुब्भं पच्चक्खतित्थगरस्स महिमं ण करेसि, तो पडिमं अच्चतो जासि, जा एस महतिमहावीरवद्धमाणसामी जगनाहेति लोगपुज्जेति, सो आगतो मिच्छादुक्कडं काउं खामेति महिम करेति।

७७ ३. (क) आयारो. ९।१।५:

अदु पोरिसिं तिरियं भित्तिं, चक्खुमासज्ज अंतसो झाइ।
अह चक्खु-भीया महिया तं "हंता हंता" बहवे कंदिसु॥

(ख) आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २९९ :

भगवं पि वेनालि णगरिं संपत्तो, तत्थ संखो णाम गणराया, सिद्धत्थरन्नो मित्तो, सो तं पूजेति।

७८ १. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २८६,२८७ :

ताहे सामी ततो चोरागसन्निवेसं गता, तत्थ चारियत्तिकाऊण ओलवालगं अगडे पज्जिज्जंति, पुणो य उत्तरिज्जंति, तत्थ ताव पढमं गोसालो, सामी ण ताव, तत्थ य सोमाजयंतीओ उप्पलस्स भगिणीओ पासावच्चिज्जाओ दो परिव्वाइयातो ण तरंति पव्वज्जं काऊण ताहे परिव्वाइयत्तं करेति, ताहे सुतं—कोवि दो जणा ओवालए पज्जिज्जिंति, ताओ पुण जाणंति—जहा चरिमतित्थयरो पव्वतितो, तो ताओ तत्थ गताओ जाव पेच्छंति, ताहि मोइओ, ते य ओद्धंसिया—अहो विणस्सिउकामत्थ, तेहिं भएण खमिता, महितो य।

२. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ०-२९०:

पच्छा ते लंबुग गता, तत्थ दो पच्चंतिया भायरो मेहो य कालहत्थी य, सो कालहत्थी चोरेहिं समं उद्धाइयो, इमे य दुयगे पेच्छति, ते भणंति—के तुब्भे ?, सामी तुसिणीओ अच्छति, ते

तत्थ हम्मंति ण य साहेंतित्ति, तेण ते बंधिऊण महल्लस्स भातुगस्स पेसिया, तेण जं चेव भगवं दिट्ठो तं चेव उट्ठेत्ता पूतितो खामितो य, तेण सामी कुंडग्गामे दिट्ठेल्लओ, ततो मुक्को समाणो…।

७६ २. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २६१,२६२ :

ततो पच्छा कूविया थामं संनिवेसो, तत्थ गता तेहिं चारियत्ति-काऊण घेप्पंति, तत्थ वज्झंति पिट्टिज्जंति य, तत्थ लोग-समुल्लावो अपडिरूवो देवज्जतो रूवेण य जोव्वणेणय चारियोत्ति गहिओ, तत्थ विजया पगब्भा य दोन्नि पासंतेवासिणीओ, परिव्वाइया सोऊण लोगस्स तित्थगरो इतो वच्चामो ता पुलंएमो, को जाणति होज्जा ?, ताहिं मोतितो दुरप्पा ! ण जाणह चरिमतित्थकरं सिद्धत्थरायसुतं, अज्ज भे सक्को उवालभतित्ति ताहे मुक्का खामिया य।

४. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २९४ :

ततो निग्गता गता लोहग्गलं रायहाणिं, तत्थ जियसत्तू राया, सो य अन्नेण राइणा समं विरुद्धो, तस्स चारपुरिसेहिं गहिता पुच्छिज्जंता ण साहंति, तत्थ य चारियत्ति रन्नो अत्थाणीवर-गतस्स उवट्ठाविता, तत्थ उप्पलो अट्ठियग्गामतो, सो य पुव्वामेव अतिगतो, सो य ते आणिज्जंते दट्ठूण उट्ठितो तिक्खुतो वंदति, पच्छा सो भणति—ण एस चरितो, एस सिद्धत्थरायसुतो धम्मवरचक्कवट्टी, एस भगवं, लक्खणाणि से पेच्छह, तत्थ सक्कारेऊण मुक्को।

८१ १. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० ३१२ :

तादे सामी तोसलिं गतो, वाहिं पडिमं ठितो, सो देवो चिंतेति—एस ण पविसति, तो एत्थवि से ठियस्स करेमि, ताहे खुड्डगरूवं विउव्वित्ता संधिं छिंदति, उवगरणेहिं गहिएहिं, वत्तीए तत्थ गहितो, सो भणति—मा मं हणह, अहं किं जाणामि ? आय-रितेण अहं पेसितो। कहिं सो ? एस वाहिं असुगउज्जाणे, तत्थ हम्मति वज्झति य, मारिज्जतुत्ति वज्झो णीणिओ, तत्थ भूतिलो नाम इंदजालितो, तेण सामी कुंडग्गामे दिट्ठतो, ताहे सो मोएति, साहति य जहा—एस रायसिद्धत्थपुत्तो, मुक्को खामितो य।

३. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० ३१३ :

ततो भगवं मोसलिं गतो, वाहिं पडिमं ठितो, इमो खुड्डगरूवं विउव्वित्ता खत्तं खणति, तत्थवि तहेव घेप्पति, बंधिऊणं मारिज्जइत्ति, तत्थ सुमागधो णाम रट्ठिओ सामिस्स पितुवयंसो, सो मोएति।

५. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० ३१३ :

ततो भगवं तोसलिं गतो, तत्थवि वाहिं पडिमं ठितो, तत्थवि देवो खुड्डुरूवं विउव्वित्ता संधिमग्गं सोहेति, पडिलेहेति य, सामिस्स पासे सव्वाणि खत्तोवकरणाणि विगुव्वति, ताहे सो खुड्डुओ गहितो, तुमं कीस एत्थ सोहेसि ? सो साहति—मम धम्मायरियो रत्तिं मा कंटए भज्जावेंहिति, सो रत्ति खणओ णीहिति, सो कहिं ? कहितो, गता, दिट्ठो सामी, ताणि य परिपेरंतेण पासति, गहितो, आणीतो, ताहे उक्कलंवितो, एक्कसिं रज्जू छिन्नो, एवं सत्त वारा छिन्नो, ताहे सिट्ठं तस्स तोसलियस्स खत्तियस्स, सो भणति—मुयह एस अचोरो, निद्दोसो।

८७. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० ३१६, ३१७ :

ततो कोसंबिं गतो। तत्थ य सयाणिओ राया, तस्स मिगावती देवी, तच्चायादी णाम धम्मपाढओ, सुगुत्तो अमच्चो, णंदा से महिला सा समणोवासिया, सा सड्ढत्ति मिगावतीए वयंसिया, तत्थेव णगरे घणावहो सेट्ठी, तस्स मूला भारिया, एवं ते सकम्मसंपउत्ता अच्छंति। सामी य इमं एतारूवं अभिग्गहं अभिगेण्हति, चउव्विहं—दव्वतो ४, दव्वतो—कुंमासे सुप्पकोणेणं, खित्तओ एलुगं विक्खंभइत्ता, कालओ नियत्तेसु भिक्खायरेसु, भावतो जदि रायधूया दासत्तणं पत्ता णियल-वद्धा मुंडियसिरा रोयमाणी अब्भत्तट्ठिया, एवं कप्पति, सेसं ण कप्पति, कालो य पोसबहुलपाडिवओ।

९१ १. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० ३१६-३२० :

ततो कोसंबिं गतो। तत्थ य सयाणिओ राया,···एयं संगोवाहि जाव सामिस्स नाणं उप्पज्जति, एसा पढमा सिस्सिणी सामिस्स, ताहे कण्णंतेपुरं छूढा संवड्ढति, छम्मासा तदा पंचहिं दिवसेहिं ऊणगा जद्दिवसं सामिणा भिक्खा लद्धा, सावि मूला लोगेणं अंबाडिता हीलिया य।

९३ १. **आयारचूला, १५।३८, ३९ :**

तओ णं समणस्स भगवओ महावीरस्स एएणं विहारेणं विहरमाणस्स बारसवासा विइक्कंता, तेरसमस्स य वासस्स परियाए वट्टमाणस्स जे से गिम्हाणं दोच्चे मासे चउत्थे पक्खे—वइसाहसुद्धे, तस्सणं वइसाहसुद्धस्स दसमी पक्खेणं, सुव्वएणं दिवसेणं, विजएणं मुहुत्तेणं, हत्थुत्तराहिं णक्खत्तेणं जोगोवगतेणं, पाईणगामिणीए छायाए, वियत्ताए पोरिसीए, जंभियगामस्स णगरस्स वहिया णईए उजुवालियाए उत्तरे कूले, सामागस्स गाहावइस्स कट्टकरणंसि, वेयावत्तस्स चेइयस्स उत्तरपुरत्थिमे दिसीभाए, सालरुक्खस्स अदूरसामंते, उक्कुडुयस्स, गोदोहियाए आयावणाए आयावेमाणस्स छट्ठेणं भत्तेणं अपाणएणं, उड्ढंजाणुअहोसिरस्स, धम्मज्झाणोवगयस्स, झाणकोट्ठोवगयस्स सुक्कज्झाणंतरियाए वट्टमाणस्स, निव्वाणे, कसिणे, पडिपुण्णे, अव्वाहए, णिरावरणे, अणंते, अणुत्तरे, केवलवरणाणदंसणे समुप्पण्णे।

से भगवं अरिहं जिणे जाए, केवली सव्वण्णू सव्वभावदरिसी, सदेवमणुयासुरस्स लोयस्स पज्जाए जाणइ, तं जहा—आगतिं गतिं ठितिं चयणं उववायं भुत्तं पीयं कडं पडिसेवियं आवीकम्मं रहोकम्मं लवियं कहियं मणोमाणसियं सव्वलोए सव्वजीवाणं सव्वभावाइं जाणमाणे पासमाणे, एवं च विहरइ।

२. **आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० ३२४ :**

ताहे सामी तत्थ मुहुत्तं अच्छति जाव देवा पूयं करेंति, एस केवलकप्पो किर जं उप्पन्ने नाणे मुहुत्तमेत्तं अच्छियव्वं।

९४ १. **आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग पृ० ३२३, ३२४ :**

वइसाहसुद्धदसमीए···केवलवरनाणदंसणे समुप्पन्ने।···एवं जाव मज्झिमाए णगरीए महसेणवणं उज्जाणं संपत्तो। तत्थ देवा वितियं समोसरणं करेंति, महिमं च सुरुग्गमणे, एगं जत्थ नाणं बितियं इमं चेव।

१०७ १. **उत्तरज्झयणाणि, २६।१२ :**

पढमं पोरिसिं सज्झायं बीयं झाणं झियायई।
तइयाए भिक्खायरियं पुणो चउत्थीए सज्झायं॥

१०६ १. (क) आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २७१ :

ता केई इच्छति—सपत्तो धम्मो पन्नवेयव्वोत्ति तेण पढमपारणगे परपत्ते भुत्तं, तेणं परं पाणिपत्ते।

(ख) आचारांगचूर्णि, प० ३०६ :

तहा सपत्तं तस्स पाणिपत्तं, सेसं परपत्तं, तत्थ ण भुंजितं, तो केइ इच्छंति—सपत्तो धम्मो पण्णवेयव्वुत्ति तेण पढमपारणं परपत्ते भुत्तं, तेण परं पाणिपत्ते।

३. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २७१ :

गोसालेण किर तंतुवायसालाए भणियं—अहं तव भोयणं आणामि, गिहिपत्ते काउं, तंपि भगवया नेच्छियं।

४. (क) आचारांगचूर्णि, पृ० ३०६ :

उप्पण्णनाणस्स लोहज्जो आणेति।

(ख) आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २७१ :

उप्पन्नणाणस्स उ लोहज्जो आणेति—
धन्नो सो लोहज्जो खंतिखमो पवरलोहसरिवन्नो।
जस्स जिणो पत्ताओ इच्छइ पाणीहिं भोत्तुं जे॥
(गणधर सुधर्मा का अपर नाम 'लोहार्य' था—'तेण वि लोहज्जस्स य लोहज्जेण य सुधम्मणामेण'—जंबूदीवपण्णत्ती १-१०।)

११० १. दसवेआलियं, ६।३।३ :

राइणिएसु विणयं पउंजे, डहरा वि य जे परियायजेट्ठा।
नियत्तणे वट्टइ सच्चवाई, ओवायवं वक्ककरे स पुज्जो॥

२. उपदेशमाला, श्लोक १५, १६ :

वरिससयदिक्खियाए, अज्जाए अज्जदिक्खिओ साहू।
अभिगमण - वंदण - नमंसणेण विणएण सो पुज्जो॥
धम्मो पुरिसप्पभवो, पुरिसवरदेसिओ पुरिसजिट्ठो।
लोए वि पहू पुरिसो, किं पुण लोगुत्तमे धम्मे॥

११२ १. **नायाधम्मकहाओ, १।१५२-१५४ :**

जद्दिवसं च णं मेहे कुमारे मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वइए, तस्स णं दिवसस्स पच्चावरण्हकालसमयंसि समणाणं निग्गंथाणं अहाराइणियाए सेज्ज-संथारएसु विभज्जमाणेसु मेहकुमारस्स दारमूले सेज्जा-संथारए जाए यावि होत्था।

तए णं समणा निग्गंथा पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि वायणाए पुच्छणाए परियट्टणाए धम्माणुजोगचिंताए य उच्चारस्स वा पासवणस्स वा अइगच्छमाणा य निग्गच्छमाणा य अप्पेगइया मेहं कुमारं हत्थेहिं संघट्टेंति अप्पेगइया पाएहिं संघट्टेंति अप्पेगइया सीसे संघट्टेंति अप्पेगइया पोट्टे संघट्टेंति अप्पेगइया कायंसि संघट्टेंति अप्पेगइया ओलंडेंति अप्पेगइया पाय-रय-रेणु-गुंडियं करेंति। एमहालियं च रयणिं मेहे कुमारे नो संचाइए खणमवि अच्छिं निमीलित्तए।

तए णं तस्स मेहस्स कुमारस्स अयमेयारूवे अज्झत्थिए चिंतिए पत्थिए मणोगए संकप्पे समुप्पज्जित्था—···तं सेयं खलु मज्झ कल्लं पाउप्पभायाए रयणीए जाव उट्ठियम्मि सूरे सहस्सरस्सिम्मि दिणयरे तेयसा जलंते समणं भगवं महावीरं आपुच्छित्ता पुणरवि अगारमज्झावसित्तए त्ति कट्टु एवं संपेहेइ···।

२. **नायाधम्मकहाओ, ८।१८**

खणलवतवच्चियाए, वेयावच्चे समाहीए ॥२॥
....।
एएहिं कारणेहिं, तित्थयरत्तं लहइ सो उ ॥३॥

३. **ठाणं, ४।४१२ :**

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—आतवेयावच्चकरे णाममेगे णो परवेयावच्चकरे, परवेयावच्चकरे णाममेगे णो आतवेयावच्चकरे, एगे आतवेयावच्चकरेवि परवेयावच्चकरेवि, एगे णो आतवेयावच्चकरे णो परवेयावच्चकरे।

११४ १. **ब्रह्मसूत्र, अ० २, पा० १, अधि० ३, सू० ११, शांकरभाष्य :**

प्रसिद्धमाहात्म्यानुमतानामपि तीर्थकराणां कपिलकण-भुक्प्रभृतीनां परस्परविप्रतिपत्तिदर्शनात्।

११८ १. उत्तरज्झयणाणि, ३२।५ :

न वा लभेज्जा निउणं सहायं, गुणाहियं वा गुणओ समं वा।
एक्को वि पावाइ विवज्जयन्तो, विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो ।।

११९ १. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २७० :

ततो वीयदिवसे छट्ठपारणए कोल्लाए संनिवसे घतमधुसंजुत्तेणं परमन्नेणं वलेण माहणेण पडिलाभितो ।

१२१ १. आवश्यकचूर्णि पूर्वभाग, पृ० ३२०, ३२१ :

ततो सामी चंप नगरिं गतो, तत्थ सातिदत्तमाहणस्स अग्गिहोत्तवसहिं उवगतो, तत्थ चाउम्मासं खमति, तत्थ पुण्णभद्दमाणिभद्दा दुवे जक्खा रत्तिं पज्जुवासंति, चत्तारिवि मासे रत्तिं रत्तिं पूयं करेंति, ताहे सो माहणो चिंतेति—किं एस जाणति तो णं देवा महेंति ? ताहे विन्नासणनिमित्तं पुच्छति—को ह्यात्मा ? भगवानाह—योऽहं मित्यभिमन्यते, स कीदृक् ? सूक्ष्मोऽसौ, किं तत्सूक्ष्मं ? यन्न गृह्णीमः, ननु शब्दगंधानिलाः किम् ? न, ते इन्द्रियग्राह्याः, तेन ग्रहणमात्मा, ननु ग्राहयिता हि सः ।

१२२ २. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग. पृ० २८३ :

ततो सामी रायगिहं गतो, तत्थ णालंदाए वाहिरियाए तंतुवायसालाए एगदेसंसि अहापडिरूवं उग्गहं अणुन्नवेत्ता पढमं मासक्खमणं विहरति, एत्थंतरा मंखली एति ।

…ताहे सामी तेण (गोसालेण) समं वासावगमाओ सुवन्नखलयं वच्चति, तत्थंतरा गोवालगा वइयाहिंतो खीरं गहाय महल्लीए थालीए णवएहिं चाउलेहिं पायसं उवक्खडेंति, ताहे गोसालो भणति—एह एत्थ भुंजामो, ताहे सिद्धत्थो भणति—एस निम्माणं चेव ण गच्छति, एस उरुभज्जिहित्ति, ताहे सो असद्दहंतो ते गोवए भणइ—एस देवज्जतो तीताणागतजाणतो भणति—एस थाली भज्जिहिति, तो पयत्तेण सारवेह, ताहे पयत्तं करेंति, वंसविदलेहि य थाली वद्धा, तेहिं अतिबहुया तंदुला छूढा, सा फुट्टा पच्छा गोवा जं जेण कभल्लं आसाइतं सो तत्थ चेव पजिमितो, तेण ण लद्धं, ताहे सुट्ठुतरं नियती गहिता ।

१२३ १. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २९७-२९८ :

ततो निग्गता पढमसरयदे, सिद्धत्थपुरं गता, सिद्धत्थपुराओ य कुंमागामं सपत्थिया, तत्थ अंतरा एगो तिलथंभओ, तं दट्ठूण गोसालो भणति—भगवं ! एस तिलथंभओ किं निप्फज्जिहिति नवत्ति ? सामा भणइ-निप्फज्जिही, एते य सत्त पुप्फजीवा ओद्दाइत्ता एतस्सेव तिलथंभस्स एगाए सिंबलियाए पच्चायाहिंति तेण असद्दहतेण अवक्कमित्ता सलेट्ठुओ उप्पाडितो एगंते य एडिओ, अहासंनिहितेहि य देवेहिं गा भगवं मिच्छावादी भवतु त्ति वुट्ठं, आसत्थो बहुला य गावी आगता तेण य पएसेण, ताए खुरेण निक्खतो, तो पट्ठितो पुप्फा य पच्चायाता, ताहे कुंमागामं संपत्ता।···अन्नदा सामी कुंमग्गामाओ सिद्धत्थपुरं संपत्थितो, पुणरवि तिलथंभस्स अदूरसामंतेण जाव वतिवयति ताहे पुच्छइ। भगवं ! जहा न निप्फण्णो, भगवता कहितं—जहा निप्फणो, तं एव वणप्फईण पउट्टपरिहारो, पउट्टपरिहारो नाम परावर्त्य परावर्त्य तस्मिन्नैव सरीरके उववज्जंति तं, सो असद्दहंतो गंतूणं तिलसेंगलियं हत्थे पप्फोडेत्ता ते तिले गणेमाणो भणति—एवं सव्वजीवावि पयोट्टपरिहारंति, णितितवादं धणितमवलंबित्ता तं करेति जं भगवत्ता उवदिट्ठं।

३. भगवई, १५।६०-६८ :

तएणं अहं गोयमा ! गोसालेणं मंखलिपुत्तेणं सद्धिं जेणेव कुम्मग्गामे नगरे तेणेव उवागच्छामि। तएणं तस्स कुम्मग्गामस्स नगरस्स बहिया वेसियायणे नामं बालतवस्सी छट्ठंछट्ठेणं अणिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं उड्ढं बाहाओ पगिज्झिय-पगिज्झिय सूराभिमुहे आयावणभूमीए आयावेमाणे विहरइ। आइच्चतेय-तवियाओ य से छप्पदीओ सव्वओ समंता अभिनिस्सवंति, पाण भूय-जीव-सत्तदयट्ठयाए च णं पडियाओ-पडियाओ 'तत्थेव-तत्थेव' भुज्जो भुज्जो पच्चोरुभइ।

तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते···बालतवंसिं एवं वयासी—किं भवं मुणी ? मुणीए ? उदाहु जूयासेज्जायरए ?···तएणं से वेसियायणे···आसुरुत्ते रुट्ठे···तेयासमुग्घाएणं समोहण्णइ, समोहणित्ता सत्तट्ठपयाइं पच्चोसक्कइ पच्चोसक्किता गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स बहाए सरीरगंसि तेयं निसिरइ।

तएणं अहं गोयमा ! गोसालस्स अणुकंपणट्ठाए···सीयलियं तेयलेस्सं निसिरामि, जाए सा ममं सीयलियाए तेयलेस्साए वेसियायणस्स बालतवस्सिस्स उसिणा तेयलेस्सा पडिहया।

१२४ १. भगवई, १५।६९, ७०, ७६ :

तएणं से गोसाले मंखलिपुत्ते ममं अंतियाओ एयमट्ठं सोच्चा निसम्म भीए तत्थे तसिए उव्विग्गे संजायभए ममं वंदइ नमंसइ वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—कहण्णं भंते! संखित्तविउलतेय लेस्से भवति ? तएणं अहं गोयमा ! गोसालं मंखलिपुत्तं एवं वयासी—जेणं गोसाला ! एगाए सणहाए कुम्मासपिंडियाए एगेण य वियडासएणं छट्ठंछट्ठेणं अणिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं उड्ढं बाहाओ पगिज्झिय-पगिज्झिय सूराभिमुहे आयावणभूमीए आयावेमाणे विहरइ। से णं अंतो छण्हं मासाणं संखित्तविउल-तेयलेस्से भवइ।

···तएणं से गोसाले मंखलिपुत्ते अंतो छण्हं मासाणं संखित्तविउल-तेयलेस्से जाए।

२. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २८५,२८६ :

ततो कुमारायं सन्निवेसं गता, तस्स बहिया चंपरमणिज्जं णाम उज्जाणं, तत्य भगवं पडिमं ठिओ, तत्थ कुमाराए संन्निवेसे कूवणओ णाम कुंभगारो तस्स कुंभारावणे पासावच्चिज्जा मुणिचंदा णाम थेरा बहुसुता बहुपरिवारा, से तत्थ परिवसंति, तेय जिणकप्पपरिकम्मं करेंति सीसं गच्छे ठवेत्ता, ते सत्तभावणाए अप्पाणं भावेति···गोसालो य भगवं भणति—'एह देसकालो हिंडामो' सिद्धत्थो भणति—अज्जं अम्हं अंतरं, सो हिंडंतो ते पासावच्चिज्जे थेरे पेच्छति, भणति के—तुब्भे ? ते भणंति—समणा निग्गंथा। सो भणति—अहो निग्गंथा इमो भे एत्तिओ गंथो, कहिं तुब्भे निग्गंथा?···ताहे सो गतो सामिस्स साहति—अज्ज मए सारंभा सपरिग्गहा दिट्ठा···सव्वं साहितं। ताहे सिद्धत्थेण भणितो—ते पासावच्चिज्जा थेरा साधु।

३. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २९१ :

पच्छा तंबायं णामं गामं एंति, तत्थ णंदिसेणा णाम थेरा बहुस्सुया बहुपरिवारा, ते तत्थ जिणकप्पस्स पडिकम्मं करेंति,

पासावच्चिज्जा, इमे वि बाहिं पडिमं ठिता। गोसालो अतिगतो, तहेव पेच्छति पव्वतिते, तत्थ पुणो खिसति,ते आयरिया तद्दिवसं चउक्के पडिमं ठायंति। पच्छा तहिं आरक्खियपुत्तेण हिंडंतेणं चोरोत्ति भल्लएण आहतो।

१२६ १. सूयगडो १।६।२७ :

किरियाकिरियं वेणइयाणुवायं, अण्णाणियाणं पडियच्च ठाणं।
से सव्ववायं इह वेयइत्ता, उवट्ठिए सम्म स दीहरायं॥

१२८. १. भगवई १५।५-६ :

तएणं तस्स गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स अण्णदा कदाइ इमे छ दिसाचरा अंतियं पाउब्भवित्था, तं जहा—साणे, कण्णियारे, अच्छिदे, अग्गिवेसायणे, अज्जुणे, गोमायुपुत्ते।
तए णं ते छ दिसाचरा अट्ठविहं पुव्वगयं मग्गदसमं 'सएहिं-सएहिं' मतिदंसणेहिं निज्जूहंति निज्जूहित्ता गोसालं मंखलिपुत्तं उवट्ठाइंसु। तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते ते णं अट्ठंगस्स महानिमित्तस्स···इमाइं छ अणइक्कम्मणिज्जाइं वागरणाइं वागरेति, तं जहा—लाभं, अलाभं, सुहं, दुक्खं, जीवियं, मरणं तहा।

१३० १. (क) पण्हावागरणाइं, ६।३ :

जंमि य आराहियंमि आराहियं वयमिणं सव्वं।

(ख) पण्हावागरणाइं, ६।२ :

जंमि य भग्गंमि होइ सहसा सव्वं संभग्गं···।

१३३ १. नायाधम्मकहाओ, १।१५० :

तए णं समणे भगवं महावीरं मेहं कुमारं सयमेव पव्वावेइ··· धम्ममाइक्खइ—एवं देवाणुप्पिया! गंतव्वं, एवं चिट्ठियव्वं, एवं निसीयव्वं, एवं तुयट्टियव्वं एवं भुंजियव्वं, एवं भासियव्वं एवं उट्ठाए उट्ठाय पाणेहिं भूएहिं जीवेहिं सत्तेहिं संजमेणं संजमियव्वं, अस्सिं च णं अट्ठे नो पमाएयव्वं।

१४३ २. ठाणं, ४।४१९ :

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—रूवं णाममेगे जहति णो धम्मं, धम्मं णाममेगे जहति णो रूवं, एगे रूवंपि जहति धम्मंपि, एगे णो रूवं जहति णो धम्मं।

१४६ १. ठाणं, ४।४२० :

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—धम्मं णाममेगे जहति णो गणसंठिति, गणसंठिति णाममेगे जहति णो धम्मं, एगे धम्मंवि जहति गणसंठितिवि, एगे णो धम्मं जहति णो गणसंठिति।

१५० २. दसवेआलियं, ९।३।६ :

सक्का सहेउं आसाए कंटया, अओमया उच्छहया नरेणं।
अणासए जो उ सहेज्ज कंटए, वईमए कण्णसरे स पुज्जो॥

१५१. १. भगवई, ६।१५, १६ :

जीवा णं भंते ! किं महावेदणा महानिज्जरा ? महावेदणा अप्पनिज्जरा ? अप्पवेदणा महानिज्जरा ? अप्पवेदणा अप्पनिज्जरा ?

गोयमा ! अत्थेगतिया जीवा महावेदणा महानिज्जरा, अत्थेगतिया जीवा महावेदणा अप्पनिज्जरा, अत्थेगतिया जीवा अप्पवेदणा महानिज्जरा, अत्थेगतिया जीवा अप्पवेदणा अप्पनिज्जरा।

से केणट्ठेणं ?

गोयमा ! पडिमापडिवन्नए अणगारे महावेदणे महानिज्जरे। छट्ठ-सत्तमासु पुढवीसु नेरइया महावेदणा अप्पनिज्जरा। सेलेसिं पडिवन्नए अणगारे अप्पवेदणे महानिज्जरे। अणुत्तरोववाइया देवा अप्पवेदणा अप्पनिज्जरा।

१५३ १. भगवई, ८।२९६ :

गोयमा ! तओ पडिणीया पण्णत्ता, तं जहा—कुलपडिणीए, गणपडिणीए, परलोगपडिणीए, दुहओलोगपडिणीए।

वृत्ति, पत्र ३८२ :

तत्रेहलोकस्य—प्रत्यक्षस्य मानुषत्वलक्षणपर्यायस्य प्रत्यनीक इन्द्रियार्थप्रतिकूलकारित्वात् पंचाग्नितपस्विवद् इहलोकप्रत्यनीकः, परलोको जन्मान्तरं तत्प्रत्यनीकः—इन्द्रियार्थतत्परः, द्विधालोकप्रत्यनीकश्च चौर्यादिभिरिन्द्रियार्थसाधनपरः।

१५५ १. सूयगडो, २।६।५२-५५ :

संवच्छरेणावि य एगमेगं, बाणेण मारेउ महागयं तु।
सेसाण जीवाण दयट्ठयाए, वासं वयं वित्ति पकप्पयामो ॥
संवच्छरेणावि य एगमेगं, पाणं हणंता अणियत्तदोसा।
सेसाण जीवाण वहेण लग्गा, सिया य थोवं गिहिणो वि तम्हा ॥
संवच्छरेणावि य एगमेगं, पाणं हणंते समणव्वते ऊ।
अयाहिए से पुरिसे अणज्जे, ण तारिसं केवलिणो भणंति ॥
बुद्धस्स आणाए इमं समाहिं, अस्सि सुठिच्चा तिविहेण ताई।
तरिउं समुद्दं व महाभवोघं, आयाणवं धम्ममुदाहरेज्जामि ॥

१५९ १. भगवई, ७।१९७ :

तए णं से वरुणे नागनत्तुए रहमुसलं संगामं ओयाए समाणे अयमेयारूवं अभिग्गहं अभिगेण्हइ—कप्पति मे रहमुसलं संगामं संगामेमाणस्स जे पुव्वि पहणइ से पडिहणित्तए, अवसेसे नो कप्पतीति···।

१६० १. भगवई, ७।१९४-२०२ :

तए णं से वरुणे नागनत्तुए···जेणेव रहमुसले संगामे तेणेव उवागच्छइ···तए णं से पुरिसे वरुणं नागनत्तुयं एवं वदासी—पहण भो वरुणा···तए णं से वरुणे नागनत्तुए तं पुरिसं एवं वदासी—नो खलु मे कप्पइ देवाणुप्पिया! पुव्वि अहयस्स पहणित्तए, तुमं चेव णं पुव्वि पहणाहि। तए णं से पुरिसे··· वरुणं नागनत्तुयं गाढप्पहारीकरेइ। तए णं से वरुणे नागनत्तुए···तं पुरिसं एगाहच्चं कूडाहच्चं जीवियाओ ववरोवेइ।

१६४ १. उत्तराध्ययन, सुखबोधा, पत्र, २५४ :

···पज्जोओ···सुवन्नगुलियं···गहाय उज्जेणिं पडिगओ।··· सो य करी जं जं पायं उक्खिवइ तत्थ-तत्थ उदायणो सरे छुभइ, जाव हत्थी पडितो। उयरंतो बद्धो पज्जोतो, निलाडे य से अंको कतो 'दासीपइ' त्ति। उदायणराया य पच्छा नियनयरं पहावितो। पडिमा नेच्छइ। अंतरा वासेण ओरुद्धो ठितो। ताहे ओखदयभयेण दस वि रायाणो धूलिपायारे करेत्ता ठिया। जं च राया जियेइ तं च पज्जोयस्स वि दिज्जइ। नवरं पज्जोसवणाए सूएण पुच्छितो—किं अज्ज जेमिसि ?। सो चिंतइ—मारिज्जामि, ताहे पुच्छइ—किं अज्ज पुच्छिज्जामि ? सो भणइ—अज्ज पज्जोसवणा, राया उववासितो। सो भणइ—अहं पि उववासितो, मम वि मायावित्ताणि संजयाणि, न याणियं मया जहा—अज्ज पज्जसवणं ति। रन्नो कहियं। जाणामि जहा—सो धुत्तो, किं पुण मम एयम्मि वद्धेल्लए पज्जोसवणा चेव न सुज्झइ। ताहे मुक्को खामितो य।

१६६ १. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, ३७१-३७२ :

तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे सेणिओ चेल्लणा देवी, मम्मणो पंनिओ अणेगा तस्स पन्नवाडा, अन्नदा मट्ठासरिसं पडति, राया य ओलोयणे देवीय समं अच्छति ण कोति लोगो संचरति। ताहे रायाणि पेच्छति मणूसं णदीओ बुडित्ताणं किंपि गेण्हंतं··· सो य अल्लगं उक्कड्ढति मा पणएण उच्छाइज्जिहितित्ति। देवी रायाणं भणति—जहा णदीओ तहा रायाणो वि कहं ? जहा णदीतो समुद्दं पाणियभरितं पविसंति, एवं तुब्भे वि ईसराणं देह, ण दमगदुग्गयाणं, सो भणति—कस्स देमि ?, ताहे सा तं दरिसेति, ताहे मणूस्सेहिं आणावितो, रन्नो पुच्छितो, सो भणति—वइल्लो मि बितिज्जओ णत्थि, राया भणति—जाह गोमंडले, जो पहाणो बतिल्लो तं से देह, तेहिं दरिसिता, सो भणति——ण एत्थ तस्स सरिसतो अत्थि, तां केरिसओ तुज्झ ?···ताहे से तेण सिरिघरे सव्वरयणामओ बइल्लो दरिसितो वितिओ य अद्धकतओ य,···ताहे [राया] विम्हितो भणति—सच्चं मम णत्थि एरिसो, धन्नोऽहं जस्स मे एरिसा मणूसा ताहे उस्सुंको कतो।

१७४ १. भगवई, १।१३३-१३८ :

से नूणं भंते ! अत्थित्तं अत्थित्ते परिणमइ ? नत्थित्तं नत्थित्ते परिणमइ ? हंता गोयमा ! अत्थित्तं अत्थित्ते परिणमइ। नत्थित्तं नत्थित्ते परिणमइ।...जहा ते भंते ! अत्थित्तं अत्थित्ते गमणिज्जं, तहा ते नत्थित्तं नत्थित्ते गमणिज्जं ? जहा ते नत्थित्तं नत्थित्ते गमणिज्जं, तहा ते अत्थित्तं अत्थित्त गमणिज्जं ? हंता गोयमा ! जहा मे अत्थित्तं अत्थित्ते गमणिज्जं, तहा मे नत्थित्तं नत्थित्ते गमणिज्जं।
जहा मे नत्थित्तं नत्थित्ते गमणिज्जं, तहा मे अत्थित्तं अत्थित्ते गमणिजं।

१७९ १. आयारो, ३।७४ :

जे एगं जाणइ, से सव्वं जाणइ, जे सव्वं जाणइ, से एगं जाणइ।

१८० १. आयारो, ८।१४ :

गामे वा अदुवा रण्णे ?
णेव गामे णेव रण्णे धम्ममायाणह—पवेदितं माहणेण मईमया।

१८१ १. भगवई, १८।२१९, २२० :

एगे भवं ? दुवे भवं ? अक्खए भवं ? अव्वए भवं ? अवट्ठिए भवं ? अणेगभूय-भाव-भविए भवं ?

सोमिला ! एगे वि अहं जाव अणेगभूय-भाव-भविए वि अहं।

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ—एगे वि अहं जाव अणेगभूय-भाव-भविए वि अहं ?

सोमिला ! दव्वट्ठयाए एगे अहं, नाणदंसणट्ठयाए दुविहे अहं, पएसट्ठयाए अक्खए वि अहं, अव्वए वि अहं, अवट्ठिए वि अहं, उवयोगट्ठयाए अणेगभूय-भाव-भविए वि अहं। से तेणट्ठणं जाव अणेगभूय-भाव-भविए वि अहं।

३. भगवई, १२।५३-५८ :

सुत्तत्तं भंते ! साहू ? जागरियत्तं साहू ?
जयंती ! अत्थेगतियाणं जीवाणं सुत्तत्तं साहू, अत्थेगतियाणं

जीवाणं जागरियत्तं साहू ।

से केणट्ठेणं भंते !···जयंती ! जे इमे जीवा अहम्मिया ···एएसि णं जीवाणं सुत्तत्तं साहू । जयंती ! जे इमे जीवा धम्मिया···एएसि णं जीवाणं जागरियत्तं साहू।

बलियत्तं भंते ! साहू ? दुब्बलियत्तं साहू ?

जयंती ! अत्थेगतियाणं जीवाणं बलियत्तं साहू, अत्थेगतियाणं जीवाणं दुब्बलियत्तं साहू । से केणट्ठेणं भते ! ···जयंती ! जे इमे जीवा अहाम्मिया···एएसि णं जीवाणं दुब्बलियत्तं साहू ।···जयंती ! जे इमे जीवा धम्मिया···एएसि णं जीवाणं बलियत्तं साहू ।

दक्खत्तं भंते ! साहू ? आलसियत्तं साहू ?

जयंती ! अत्थेगतियाणं जीवाणं दक्खत्तं साहू, अत्थेगतियाणं जीवाणं आलसियत्तं साहू । से केणट्ठेणं भंते ! ···जयंती ! जे इमे जीवा अहम्मिया···एएसि णं जीवाणं आलसियत्तं साहू ।···जयंती ! जे इमे जीवा धम्मिया···एएसि णं जीवाणं दक्खत्तं साहू ।

१८२ १. भगवई, २।४५ :

जे वि य ते खंदया ! अयमेयारूवे अज्झत्थिए चिंतिए पत्थिए मणोगए संकप्पे समुप्पज्जित्था—किं सअंते लोए ? अणंते लोए ?—तस्स वि य णं अयमट्ठे—एवं खलु मए खंदया ! चउव्विहे लोए पण्णत्ते, तं जहा—दव्वओ, खेत्तओ, कालओ, भावओ ।

दव्वओ णं एगे लोए सअंते । खेत्तओ णं लोए असंखेज्जाओ जोयणकोडाकोडीओ आयामविक्खंभेणं, असंखेज्जाओ जोयणकोडाकोडीओ परिक्खेवेणं पण्णत्ते, अत्थि पुण से अंते । कालओ णं लोए न कयाइ न आसी, न कयाइ न भवइ, न कयाइ न भविस्सइ—भविंसु य, भवति य, भविस्सइ य,—धुवे नियए सासए अक्खए अव्वए अवट्ठिए निच्चे, नत्थि पुण से अंते । भावओ णं लोए अणंता वण्णपज्जवा, अणंता गंधपज्जवा, अणंता रसपज्जवा, अणंता फासपज्जवा, अणंता संठाणपज्जवा, अणंता गरुयलहुयपज्जवा, अणंता अगरुयलहुयपज्जवा, नत्थि पुण से अंते ।

सेत्तं खंदगा ! दव्वओ लोए सअंते, खेत्तओ लोए सअंते,

कालओ लोए अणंते, भावओ लोए अणंते।

१८६ २. ठाणं ३।३३६ :

अज्जोति ! समणे भगवं महावीरे गोतमादी समणे निग्गंथे आमंतेत्ता एवं वयासी—किंभया पाणा ? समणाउसो ! गोतमादी समणा णिग्गंथा समणं भगवं महावीरं उवसंकमंति, उवसंकमित्ता वंदंति णमंसंति, वंदित्ता णमंसित्ता एवं वयासी —णो खलु वयं देवाणुप्पिया ! एयमट्ठं जाणामो वा पासामो वा, तं जदि णं देवाणुप्पिया ! एयमट्ठं णो गिलायंति परिकहित्तए, तमिच्छामो णं देवाणुप्पियाणं अंतिए एयमट्ठं जाणित्तए। अज्जोति ! समणे भगवं महावीरे गोतमादी समणे निग्गंथे आमंतेत्ता एवं वयासी—दुक्खभया पाणा समणाउसो ! से णं भंते ! दुक्खे केण कडे ? जीवेणं कडे पमादेणं। से णं भंते ! दुक्खे कहं वेइज्जति ? अप्पमाएणं।

१८८ १. उत्तराध्ययन, सुखबोधा वृत्ति, पत्र १५४ :

गोयमसामी ताणि घेत्तूण चंपं वच्चइ। तेसिं साल- महासालाणं पंथं वच्चंताणं हरिसो जाओ—जहा इमाइं संसारं उत्तारियाणि। एवं तेसिं सुहेण अज्झवसाणेण केवलनाणं उप्पन्नं। इयरेसिं पि चिंता जाया—जहा एएहिं अम्हे रज्जे ठावियाणि, पुणो संसाराओ य मोइयाणि। एवं चिंतंताणं सुहेणं अज्झवसाणेणं तिण्हं पि केवलनाणमुप्पन्नं। एवं ताणि उप्पन्नाणाणि चंपं गयाणि, सामिं पयाहिणीकरेमाणाणि तित्थं पणमिऊण केवलिपरिसं पहावियाणि। गोयमसामी वि भगवं वंदिऊणं तिक्खुत्तो पाएसु पडिओ, उट्ठिओ भणइ—कहिं वच्चह ? एह तित्थयरं वंदह। ताहे सामी भणइ—मा गोयमा ! केवली आसाएहि।

१८९ २. भगवई, १४।७७ :

रायगिहे जाव परिसा पडिगया। गोयमादी ! समणे भगवं महावीर भगवं गोयमं आमंतेत्ता एवं वयासी—चिर संसिट्ठोसि मे गोयमा ! चिरसंथुओसि मे गोयमा ! चिरपरिचिओसि मे गोयमा ! चिरजुसिओसि मे गोयमा ! चिराणुगओसि मे गोयमा ! चिराणुवत्तीसि मे गोयमा ! अणंतरं देवलोए अणंतरं

माणुस्सए भवे, किं परं मरणा कायस्स भेदा इओ चुता दो वि तुल्ला एगट्ठा अविसेसमणाणत्ता भविस्सामो।

१९५ २. आयारो, १।१-३ :

सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं—इहमेगेसिं नो सण्णा भवइ, तं जहा—
पुरत्थिमाओ वा दिसाओ आगमो अहमंसि,
दाहिणाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि,
पच्चत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि,
उत्तराओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि,
उड्ढाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि,
'अहेवा दिसाओ' आगओ अहमंसि,
अण्णयरीओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि,
अणुदिसाओ वा आगओ अहमंसि,
···सेज्जं पुण जाणेज्जा —सहसम्मुइयाए,परवागरणेणं, अण्णेसिं वा अंतिए सोच्चा तं जहा—
···अणुदिसाओ वा आगओ अहमंसि।

१९८ १. आवश्यकचूर्णि, उत्तरभाग पृ०,१६९, १७० :

सेणिओ सामिं भणति—भगवं ! आणाहि, अहं कीस नरकं जामि ?केण वा उवाएणं नरकं न गच्छेज्जा ?सामी भणति—जदि कालसोयरियं सूणं मोएति···कालेवि णेच्छति, भणति मम गुणेण एत्तिओ जणो सुहितो नगरं च, को व एत्थ दोसोत्ति। तस्य पुत्तो सुलसो नाम।···कालो मरितुमारद्धो···एवं किलिस्सितूण मतो अहे सत्तमं गतो। ताहे सयणेण पुत्तो ठविज्जति, सो नेच्छति, मा नरकं जाइस्सामि, ताणि भणंति—अम्हे तं पावं विरिंचिस्सामो, तुमं नवरं एक्कं मारेहि सेसगं सव्वं परिजणो काहिति, तत्थ महिसगो दिक्खिओ कुहाडो य, रत्तचंदणेणं रत्तकणवीरियाहि य दोवि मंडिता, तेण कुहाडेण अप्पओ आहओ मणागं, मुच्छितो पडितो विलवति य, सयणे भणति—एयं दुक्खं अवणेह, न तीरतित्ति भणितो, कहं भणह—अम्हे तं विरंचिहामोत्ति ?

२०६ १. भगवई, २।६२-१११ :

···तीसे णं तुंगियाए नयरीए बहिया उत्तरपुरत्थिमे दिसीभागे पुप्फवतिए नामं चेइए हत्था—वण्णओ।···तत्थ णं तुंगियाए नयरीए बहवे समणोवासया परिवसंति···तए णं ते समणोवासया थेराणं भगवंताणं अंतिए धम्मं सोच्चा निसम्म हट्ठ तुट्ठा जाव हरिसवसविसप्पमाणहियया तिक्खुत्तो आयाहिण-पयाहिणं करेंति, करेत्ता एवं वयासी—संजमेणं भंते ! किंफले ? तवे किंफले ? तए णं ते थेरा भगवंतो ते समणोवासए एवं वयासी—संजमे णं अज्जो ! अणण्हयफले, तवे वोदाणफले । तए णं ते समणोवासया थेरे भगवंते एवं वयासी—जई णं भंते ! संजमे अणण्हफले, तवे वोदाणफले । किंपत्तियं णं भंते । देवा देवलोएसु उववज्जंति ? तत्थ णं कालियपुत्ते नाम थेरे ते समणोवासए एवं वयासी—पुव्वतवेणं अज्जो ! देवादेवलोएसु उववज्जंति ।

तत्थ णं मेहिले नामं थेरे ते समणोवासए एवं वयासी—पुव्वसंजमेणं अज्जो ! देवा देवलोएसु उववज्जंति । तत्थ णं आणंदरक्खिए नामं थेरे ते समणोवासए एवं वयासी—कम्मियाए अज्जो ! देवा देवलोएसु उववज्जंति ।···तहारूवं णं भंते ! समणं वा माहणं वा पज्जुवासमाणस्स किंफला पज्जुवासणा ? गोयमा ! सवणफला। से णं भंते ! सवणे किंफले ? नाणफले। से णं भते। नाणे किंफले ! विण्णाणफले। से णं भंते ! विण्णाणे किंफले ? पच्चक्खाणफले । से णं भंते ! पच्चक्खाणे किंफले ? संजमफले ? से णं भंते ! संजमे किंफले ? अणण्हयफले। से णं भंते। अणण्हए किंफले ? तवफले। से णं भंते ! तवे किंफले ? वोदाणफले। से णं भंते ! वोदाणे किंफले ? अकिरियाफले। से णं भंते ! अकिरिया किंफला ? सिद्धिपज्जवसाणफला—पण्णत्ता गोयमा !

२१० १. भगवई, २।२०-३६ :

···गोयमाइ ! समणे भगवं महावीरे भगवं गोयमं एवं वयासी—दच्छिसि णं गोयमा ! पुव्वसंगइयं। कं भंते !? खंदयं नाम। से काहे वा ? किह वा ? केवच्चिरेण वा ?
एवं खलु गोयमा ! तेणं कालेणं तेणं समएणं सावत्थी नामं

नगरी होत्था—वण्णओ। तत्थ णं सावत्थीए नयरीए गद्दभालस्स अंतेवासी खंदए नामं कच्चायणसगोत्ते परिव्वयए परिवसइ। तं चेव जाव जेणेव ममं अंतिए, तेणेव पहारेत्थ गमणाए। से दूरागते बहुसंपत्ते अद्धाणपडिवण्णे अंतरा पहे वट्टइ। अज्जेव णं दच्छिसि गोयमा !

भंतेत्ति ! भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वदासी—पहू णं भंते ! खंदए कच्चायणसगोत्ते देवाणुप्पियाणं अंतिए मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए ? हंता पभू।

जावं च णं समणे भगवं महावीरे भगवओ गोयमस्स एयमट्ठं परिकहेइ, तावं च णं से खंदए कच्चायणसगोत्ते तं देसं हव्वमागए। तए ण भगवं गोयमे खंदयं कच्चायणसगोत्तं अदूरागतं जाणित्ता खिप्पामेव अब्भुट्ठेति, अब्भुट्ठेत्ता खिप्पामेव पच्चुवंगच्छइ, जेणेव खंदए कच्चायणसगोत्ते तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता खंदयं कच्चायणसगोत्तं एवं वयासी—हे खंदया ! सागयं खंदया ! सुसागयं खंदया ! अणुरागयं खंदया ! सागयमणुरागयं खंदया ! से नूणं तुमं खंदया !···

२१९ १. आयारो, ५।१०१:

तुमंसि नाम सच्चेव जं हंतव्वं ति मन्नसि
तुमंसि नाम सच्चेव जं अज्जावेयव्वं ति मन्नसि,
तुमंसि नाम सच्चेव जं परितावेयव्वं ति मन्नसि,
तुमंसि नाम सच्चेव जं परिघेतव्वं ति मन्नसि,
तुमंसि नाम सच्चेव जं उद्दवेयव्वं ति मन्नसि।

२२१ १. आयारो ४।३,४:

तं जहा—उट्ठिएसु वा, अणुट्ठिएसु वा। उवट्ठिएसु वा, अणुवट्ठिएसु वा। उवरयदंडेसु वा अणुवरयदंडेसु। वा सोवहिएसु वा, अणोवहिएसु वा। संजोगरएसु वा, असंजोगरएसु वा। तच्चं चेयं तहा चेयं, अस्सिं चेयं पवुच्चइ।

२२२ १. भगवई, ५।२५४, २५५:

तेणं कालेणं तेणं समएणं पासावच्चिज्जा थेरा भगवंतो जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता

घटना-क्रम

१. आमलकी क्रीडा ५
२. अध्ययन ६
३. सन्मति नामकरण ६, ७
४. ग्वाला और बैल २५, २६
५. आश्रम में २९, ३०
६. शूलपाणि यक्ष ३१, ३२
७. चंडकौशिक ३३-३५
८. भगवान् का नौका-विहार ३५
९. आदिवासी क्षेत्र में ३६
१०. पर्यटकदल ३६, ३७
११. युगल का दुष्कर्म ३७
१२. थूकने पर भी अक्रोध ४०, ४१
१३. मार-पीट ४१
१४. धक्का-मुक्का ४१
१५. नैमित्तिक पुष्य ४३-४५
१६. संगम के उपसर्ग ४५-५०
१७ बहुल ब्राह्मण के घर ५२
१८. नागसेन गृहपति के घर ५२
१९. नन्द के घर ५२, ५३
२०. बहुला दासी से भिक्षा ५३
२१. एकरात्रिकी प्रतिमा ५६
२२. प्रतिमाओं की साधना ५६, ५७

२३. मधुकरों का उत्पात ५९
२४. युवकों द्वारा गन्ध-चूर्ण की याचना ५९
२५. सुन्दरियों द्वारा काम-याचना ५९, ६०
२६. श्यामाक वीणावादक ६०
२७. नट का अनुरोध ६१
२८. पूर्णकलश में अपशकुन ६२, ६३
२९. लुहार की शाला में ६३
३०. भगवान् की नौका यात्रा, सेनापति चित्र का आगमन ६४
३१. स्वप्न-दर्शन और उत्पल ६५-६७
३२. आनन्द का भविष्य-कथन ६७
३३. अच्छंदक के छद्म का उद्घाटन ६८, ६९
३४. सिद्धदत्त नाविक ७०, ७१
३५. हलेद्दुक गांव में ७२
३६. श्वेतव्या में राजा प्रदेशी ७६
३७. वग्गुर दंपती ७६
३८. भगवान् वैशाली में ७७
३९. सोमा और जयंती परिव्राजिकाओं का सम्पर्क ७७
४०. मेघ और कालहस्ती ७८
४१. कूपिय सन्निवेश में बंदी ७८, ७९
४२. लोहार्गला में बंदी ७९
४३. तोसली में चोरी का आरोप ८०
४४. मोसली में चोरी का आरोप ८०
४५. तोसली में चोरी का आरोप और फांसी का दंड ८०
४६. चंदनबाला ८२
४७. जंभियग्राम में ९२, ९३
४८. इन्द्रभूति आदि की प्रव्रज्या ९४-१००
४९. गोशालक का भगवान् के लिए भोजन लाने का आग्रह और लोहार्य की नियुक्ति १०९
५०. मेघकुमार का विचलन १११, ११२
५१. सिन्धु-सौवीर में गमन ११७
५२. स्वातिदत्त से वार्तालाप १२१, १२२
५३. गोशालक का पार्श्वापत्यीय श्रमण नंदिषेण से मिलना १२४
५४. केशी-गौतम का मिलन १३१, १३२
५५. भगवान् से गोत्र आदि विषयक प्रश्नोत्तर १३५

५६. जयघोष-विजयघोष १३७, १४१
५७. हरिकेशबल १४१
५८. अभयकुमार १४४
५९. आर्द्रकुमार और तापस १५४
६०. बकरा और मुनि १५७
६१. धनुर्धर वरुण १५९, १६०
६२. वेहल्लकुमार १६०, १६१
६३. चंडपद्योत १६१-१६४
६४. मम्मण १६५-१६७
६५. पूनिया श्रावक १६८-१६९
६६. गोशालक और आर्द्रकुमार १७०-१७२
६७. पांच अन्धे १७८, १७९
६८. साधना विषयक प्रश्न १८०, १८१
६९. सोमिल के प्रश्न १८१
७०. जयंती के प्रश्न १८१
७१. स्कंदक १८१, १८२
७२. आनन्द श्रावक १८३, १८४
७३. महाशतक १८५
७४. गोष्ठी १८६
७५. कामदेव श्रावक १८७
७६. राजर्षि शाल और गागलि १८८
७७. कोडिन्न आदि तापस १८८
७८. गौतम का आत्म-विश्लेषण १८९
७९. मेघकुमार की जाति-स्मृति १९२-१९५
८०. कालसौकरिक १९८-१९९
८१. अर्जुन मालाकार १९९-२०४
८२. मेतार्य २०४, २०५
८३. तुंगिका नगरी के श्रावक और पार्श्वापत्यीय श्रमण २०७-२०९
८४. स्कंदक का आगमन २०९, २१०
८५. पिंगल और स्कंदक २१०
८६. मद्दुक के प्रश्न २१०-२१४
८७. पंचों का न्याय २२०
८८. अनाथी मुनि २२५, २२६
८९. श्रेणिक और अभय २२७

९०. मेरु-प्रकंपन २३०
९१. तिंदुसक क्रीड़ा २३०, २३१
९२. गर्भ में अप्रकंप-स्थिति २३२, २३३
९३. सकुल उदायी परिव्राजक २३५
९४. गांगेय के प्रश्न २३५, २३६
९५. गृहपति चित्त २३७
९६. असिबंधकपुत्त ग्रामणी २३७, २३८
९७. महानाम २४०
९८ दीर्घ तपस्वी निर्ग्रन्थ २४१
९९. प्रसन्नचन्द्र राजर्षि २४२-२४४
१००. अतिमुक्तक मुनि २४५-२४७
१०१. महाराज किरात २४८, २४९
१०२. आर्द्रकुमार की दीक्षा २४९, २५०
१०३. वारिषेण २५०-२५२
१०४. रोहिणेय २५२-२५७
१०५. रत्नकम्बल २५७, २५८
१०६. धन्य और शालिभद्र २५८, २५९
१०७. जमालि २६०-२६३
१०८. गोशालक २६४-२६९
१०९. श्रमण सिंह का शोकापनयन २६९, २७०
११०. सोमशर्मा को प्रतिबोध २७३, २७४
१११. चुन्दसमणुद्देश २७६

६

नामानुक्रम

अंग ८२
अंग मन्दिर २६६
अकम्पित ९४,१००,१०१,२७५
अकलंक २१६
अग्निभूति ९५,९८,९९,२७५
अग्निवैश्यायन (गोत्र) ९४
अग्निवैश्यायन १२८
अचलभ्राता ९४,१००,१०१,२७५
अच्छंदक ६८,६९
अच्छिद्र १२८
अजितकेशकंबली ११४, १२७
अतिमुक्तक २४५, २४६, २४७
अतिवीर ८
अपापा २७३
अभयकुमार १४४, १८५, २२७, २४९, २५०, २५४, २५५, २५६, २५७
अभिमन्यु २३३
अर्जुन २६६
अम्मड २२५
अयोध्या २६७
अरब २४९
अरिष्टनेमि १५
अर्जुनमालाकार १२८, १९९, २००, २०१, २०२
अश्विनीकुमार २७१
अष्टापद १८८
असिबंधकपुत्र २३८, २३९
अस्थिग्राम ३०, ३१, ६५, ६८, ७९
अहिच्छत्र ८२
आनन्द ५३, ६७, १००, १८३, १८४, २६४, २६५, २६६, २७६
आनन्दरक्षित २०८
आमलकी ५
आम्रवन २४१
आर्द्र (प्रदेश) २४९
आर्द्रक (राजा) २४९
आर्द्रकुमार १५४, १७०, १७१, १७२, २४९, २५०
आलभिया २६६
आजीवक १७०, २६६

इंद्रभूति ९४ से ९९, १०१, १०३, ११९, २७५

इन्द्रस्थान २४६

ईरान १२६

उज्जयिनी १६१, १६३
उत्कटिका ५८
उत्पल ६५, ६६, ७९
उदयन १६२
उदायी कुंडियान २६६
उद्दंडपुर २६६
उद्दालक १२६
उद्रायण १६३, १६४
उपनंद ५३
उपाध्याय ८९
उपाली २४२

ऋजुबालिका ९२
ऋषिगिरि २४०

एकदंडी १५४
एणेयक २६६

कंदलक २३४
कटपूतना ४८, ४९
कणाद ११४
कनकखल ३३, ३४, ३५
कन्फ्युशस १२६
कपिल ११४
कयंजला १८१
कर्णिकार १२८
कर्मारग्राम (कामन छपरा) २५, ५२, ५५, ५९
कलंद १२८
कलंबुका ७८
कलिंग ९
काकमुख ८२, ८३, ८४
कामदेव १८७
काम महावन २६६
कालसौकरिक १९८ १९९
कालहस्ति ७८
कालियपुत्त २०८
कालोदायी २११ से २१४
काशी ९७
काश्यप ८, ९७, २०८
किरात (चिलात) २४८, २४९
कुंदकुंद ५४
कुमाराकसन्निवेश ७७, १२४
कूपनय १२४
कूपिय सन्निवेश ७८
कूर्मग्राम १२२, १२३
कृतंगला २१०
कृष्ण २३०, २३१
केशी (कुमार श्रमण) १, १२७, १३०, १३१, १३२, १३४, २७६
कोटिवर्षनगर २४८
कोडिन्न १८८
कोडिन्यायन २२६
कोणिक १५९, १६०, १६१
कोल्लाक (ग) सन्निवेश २९, ५२, ९५, १२२, २६४
कोष्ठक १३१, २६०, २६४, २६८
कौंडिन्य ९४
कौशम्बी ८४, ८७, ८८, ९०, ९१, १६१, १६२, १८१, २०७
कौशल ९४, ९७, २३८, २४८

क्षत्रियकुंड २१, ४७, २६०
खेमिल ७१

गंडकी ६४, ६७
गंगा ७, ३५, ४३, ७०, ७१, १९३
गर्दभाल २१०
गांगेय २३५
गागली १८८
ग्रामाक सन्निवेश ४८
गुणशीलक १७०, २००, २०१, २०७ २११
गृध्रकूट २४०
गौतम (गणधार) १, ३८, १०९, १२० से १२५, १३०, से १३२, १४५,

१४६, १४८, १५० से १५२, १६७, १७३, १७५, १८०, १८३, से १८६, १८८ से १९१, २०७ से २१०, २१२, २२०, २२३, २३६, २४६, २६१, २६४, २७३ से २७५
गौतम (गोत्र) ९४
गौतम (महर्षि) २२२
गौतम (श्रमण) २३७ से २४२
गोतमी ११०
गोदोहिका ५८
गोबरग्राम ९५
गोभद्र २५७
गोवर्धन २३०
गोशालक ७२, ७७ से ७९, १०९, ११४ १२२ से १२४, १२७, १७०, १७२, २६४ से २६६, २७१

चंडकौशिक ३३ से ३५
चंडप्रद्योत १६१ से १६४
चंदनबाला (चंदना) ८५ से ८७, ९०, ९१, १० , १२०
चंद्रावतरण १८१, २६६
चंपक १२४
चंपा ८२, ८३, ८७, ९०, १५९, १६०, १८७, २६१, २६६
चित्त ६४
चित्र २३७, २३८
चीन १२६
चेटक ७, ८७, १६०, १६१
चेलणा (चिल्लणा) १६०, १६५, १८५ २२५, २५० २५१
चोराक सन्निवेश ७७, ७८

जंबू २३६
जंभियग्राम ९२
जमाली २६०, से २६३, २७६
जयंति ७७, १८१
जयघोष १३९
जरथुस्त १२६
जापान २०६
जितशत्रु ९, ७९
जिनदेव २४८, २४९
ज्ञातपुत्र ८
ज्येष्ठा ८

ढंक २६२, २६३

तथागत २४२
तम्वाय सन्निवेश १२४
तिंदुक १३१
तुंगिका ९४, २०७
तेजोलब्धि १२४
तोसली ८०, ८१
त्रिपृष्ठ १०
त्रिशला १, ३, ४, ५, ७, ८, ९, ११, ५०, २३२
त्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित्र २३०

थूणक सन्निवेश ३५, ४३, ७१

दधिवाहन ८२, ८३, ९१, २४३
दसपुर १६४
दिन्न १८८
दुर्गचंड २५५
दुर्मुख २४३
दूतिपलाश २३५
दृढभूमि ५६
देवर्द्धिगणी ३८, ४१
द्वारका १५
द्विपलाशचैत्य १८०

धनावह ८४, ८५, ९०, ९१
धन्य २५९
धारिणी ८३, ८७, १११, १९४

नंद ५३
नंदा ८८, ८९, ९१
नंदिवर्द्धन ८, १२, १६, से १९, २६
नंदिषेण १२४

नागसेन ५२
नातपुत्त ८, २३५, २३७, से २४२, २७५, २७६
नालंदा २३८, २४१, २६४
नेपाल २५७

पउमचरिउ २३०
पतंजलि ५२
पद्मपुराण २३०
पद्मावती ८७, १६०
पद्मासन ५८
परिव्राजकाराम २३५
पर्यंकासन ५८
पावा (मध्यम) ९४, ९६, ९९, २७५
पार्श्व १, ६, ७, १२, ६५, ६७, ७७, ७९, ९५, १०१, १०७, १०८, ११५, ११६, १२४, १२७, १२९ से १३२, १३४ २०७, २०६, २२२ से २२५, २३५, २७६
पिंगल २३६
पिटक २२७, २३४, २३७, २३६, २७५, २७६
पुरिमताल ७६
पुष्पवती २०७
पुण्य ४३ से ४५
पूनिया १६८
पूर्णकलश ६२
पूर्णकाश्यप ११४, १२७, २३९
पूर्णभद्र २६१
पृष्ठचंपा १८८
पेढाल ४९, ५६
पैथागोरस १२६
पोतनपुर २४३
पोलास ४९, ५६
पोलासपुर २४६
प्रकुद्धकात्यायन ११४, १२७
प्रगल्भा ७६
प्रदेशी ७६, २२४
प्रद्योत १३
प्रबुद्ध २२, ४७
प्रभास १००, १०१, २७५
प्रसन्नचंद्र २४२, २४३
प्रसेनजित् २२५
प्रावारिक २४१
प्रियंवदा ४
प्रियकारिणी ८
प्रियदर्शना २६२, २६३

फिलस्तीन १२६

बंधुमती १९९, २००
बलभद्र २३१
बहुल ५२, २६४
बहुला ५३
बहुसालक ४६
बालक (लौणकार) २४२
बुद्ध ३३, ११०, ११४, १२७, १३७, १७३, २२०, २२५, २२७ २२८, २३०, २३४, २३५, २३८ से २४१, २७६
बृहदारण्यक उपनिषद् १३५
ब्राह्मण ५२
ब्राह्मणकुंड २६०

भद्दिला ८२
भद्रप्रतिमा ५१, ५६
भद्रा (शालीभद्र की मां) २५७ से २५९
भद्रा (श्रेष्ठी की पत्नी) ७६
भद्रा (गोशालक की मां) २६४
भरद्वाज २६६
भारत ६, २०६
भारद्वाज (गोत्र) ९४

मंखलि २६४
मंडिकुक्ष २२५, २६६
मंडित ९४, १००, २६६, २७५
मगध ६३, ९४, २५७
मच्छिकासण्ड २३७
मज्झिमनिकाय २४०, २४१, २७५
मथुरा १५

मदनक ८२
मद्दुक २११, २१२
मनु २४
मम्मण १६५ से १६७
मल्ल १६१, २७३
मल्लराम २६६
मल्लि ७६
महानाम २४०
महाभद्र प्रतिमा ५१, ५६
महाभूतिल ८०
महावीर १, १५ से १७, २० से ३५, ३८, ३९, ४६, ५१, ५४, ५५, ६५, ६६, ६८ से ७०, ७३, ७४, ७७ से ८०, ८४, ८५, ८७ से ९० ९२, ९४ से ९७ १०१, १०३ १०५, १०६, १०९ से ११२, ११४ ११९, १२६, १२९ से १३२, १३४ से १३६, १३९, १४१, १४२, १४६, १४७, १४९, १५२ से १५६, १५८, १६१ से १६५, १६७ से १७३, १७५ से १७७, १८०, १८२ से १८५, १८७, १८८, १९६ से १९८, २०० से २०४, २०७, २०९ से २१२, २१५, २१६, २१७ २१९ से २४०, २४२, २४५ से २४९, २५१ से २५४, २५६, २५९ से २६४ २६७, २६८, २७०, २७१ २७४, २७५
महाशतक १८५
महासेन ९८
महासेन वन ९५, ९६
मालुयाकच्छ २६९
मिथिला ९४
मुद्गरपाणि १९९, २००
मूला ८५
मूसा १२६
मृगावती ८७, ८९, ९१, १६१, १६२
मेंढियग्राम २६९
मेघ ७८
मेघकुमार १११, १३३, १९२ से १९५, २२७
मेतार्य ९४, १००, १०१, २०४, २७५
मेरू ६७, २३०
मेहिल २०८
मोराक सन्निवेश २६, ६८
मोसली ८१
मौर्य पुत्र ९४, १००, २७५
मौर्य सन्निवेश ९४

यशस्वी ८
यशोदया ८, ९
यशोदा ९
यशोविजय २१६
याज्ञवल्क्य १२६, १३५
यूनान १२६

रविषेण २३०
राजगृह ९४, १६६, १७०, १८५, १९८ से २०१, २०३, २०४, २०७, २२१, २२२, २३४, २४०, २४२, २५० से २५५, २५७, २६६
राढदेश ६२
राम २४, २५
रुद्रदेव १४१, १५७
रुप्यवालुका २८
रेवती १८५, २६९, २७०
रोह २६६
रोहिणी २५२
रोहिणेय २५२ से २५६

लक्ष्मण २५
लाओत्से १२६
लाटदेश ३९
लिच्छवि ७, १६१, २७३
लोहखुरो २६२, २६३
लोहार्गला ७९

वग्गुर ७६, ७७
वज्जि ७, १४, १६
वज्रभूमि ३९

वत्स ८२, ८३, १६१, १६२
वरुण १५६, १६०
वर्द्धमान ५ से १०, १३, १४, १७, १९, २३०, २३१
वसंतपुर १७०
वसुमती ८३, ८४, ८५, ८७, ९०, ९१
वाग्भट्ट २७१, २७२
वाचाला ३३, ५२, ६६, ७६
वाणिज्यग्राम ५३, ६४, ६७, १८०, १८५
वायुभूति ९५, ९८ से १००, २७५
वाराणसी १३६, १४१, २६६
वारिषेण २५० से २५२
वाशिष्ठ ८, ६४
विजय ७
विजय (गृहपति) २६४
विजय (राजा) २४६
विजयघोष १३९ से १४१
विजया ७६
विजया (प्रतिहारी) ८९
विदेह १, ४, ७
विदेहदत्ता ८
विद्युत् २५०, २५१
विन्ध्य १९३
विमलसूरि २३०
विहार २२७, २६९
वीर ८
वीरासन ५८
वेणुवन २३४
वेदान्त २७
वेहल्लकुमार १६०, १६१
वैताढ्य १९३
वैदेह १२७
वैभारगिरि २५२
वैशाली ७, ४१, ६०, ६३, ६४, ७७, ८७, १२७, १५९ से १६१, २६६
वैश्यायन १२३, २६८
व्यक्त ९५, १००, २७५

शतानीक ८२, ८३, ८७, ८९, ९०, ९१ १६१, १८१
शत्रुंजय २४८, २४९
शाक्य २७५
शाण १२८
शाणकोष्ठक २६६
शाल १८८
शालग्राम २५५
शालवन ४९
शालिभद्र २५७ २५९
शालीशीर्ष ४८
शूलपाणि ३०, ३१, ४८, ६५
शैलोदायी २११
शैवाल १८८
श्मशान प्रतिमा २५१
श्यामाक (वीणावादक) ६०
श्यामाक (गृहपति) ९२
श्रावस्ती ६१, ७२, १३१, १८१, २१०, २६०, २६१, २६२, २६६, २६८, २६९
श्रीदेवी २४६
श्रीवन २४६
श्रेणिक १३, १११, १३३, १६०, १६५, १६८, १८५, १९२, १९४, १९८, २००, २०१, २०४, २२५, २२६, २२७, २४२, २४४, २५० से २५४, २५७, २६४
श्रेयांस ८
श्वेतकेतु १२६
श्वेतव्या ७०, ७६

संगमदेव ४८, ८०, ८१
संखराज ६४
संजय ७
संजयवेलट्ठीपुत्त ११४, १२७
संपुल ९१
सकुल उदायी २३५
सन्मति ७, ८
समंतभद्र २१६, २२९
सर्वतोभद्रप्रतिमा ५१, ५६
सर्वानुभूति २६७

सांख्य २७
साकेत २४८, २४९
सानुलट्ठिय ५६
सिंधु ११७, १६३, ०६४
सिंह २६९
सिद्धदत्त ३५, ७०, ७१
सिद्धसेन १७८, २१६
सिद्धार्थ १,३, ४, ५, ७, ८, ९, ११, १२
१६, ५०, ७७, ८०, ८१, २३२
सिद्धार्थ (देव) ६९
सिद्धार्थपुर ६०, ७७, १२२
सीता २५
सुन्दरी २५९
सुगुप्त ८८, ८९
सुदर्शन२०१ से २०३
सुदर्शना ८
सुधर्मा ३८, ९५, १००, २३६, २७५
सुनंद २६४
सुनक्षत्र २६७
सुपार्श्व ८, १२, १३, १४, १७, १८,
१९
सुभद्र ८२
सुमागध ८१
सुमुख २४३
सुम्हभूमि ३९
सुरभिपुर ३५, ७०, ७६
सुलस १९९
सुवर्णखल ५२, १२२
सुवर्णबालुका २८
सोमशर्मा २७५
सोमा ७७
सोमिल ९४ ९५, १८०
सौवीर ११७, १६३. १६४
स्कंदक १८१, २०९, २१०, २२४,२३६
२७२
स्वातिदत्त १२१

हरिकेश १४१, १५७
हरिभद्रसूरि२१६
हलेद्दुक ७२
हालाहला २६६
हेमचंद्र ५८, २०७, २२९, २३०